CORE
Metadata, citation and similar papers at core.ac.uk
Provided by Etheses - A Saurashtra University Library Service

Saurashtra University
Re – Accredited Grade 'B' by NAAC
(CGPA 2.93)

Jani, Vimal H., 2012, "दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना", thesis PhD, Saurashtra University

http://etheses.saurashtrauniversity.edu/id/960

Copyright and moral rights for this thesis are retained by the author

A copy can be downloaded for personal non-commercial research or study, without prior permission or charge.

This thesis cannot be reproduced or quoted extensively from without first obtaining permission in writing from the Author.

The content must not be changed in any way or sold commercially in any format or medium without the formal permission of the Author

When referring to this work, full bibliographic details including the author, title, awarding institution and date of the thesis must be given.

Saurashtra University Theses Service
http://etheses.saurashtrauniversity.edu
repository@sauuni.ernet.in

© The Author

दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना

सौराष्ट्र विश्वविद्यालय की पीएच.डी. (हिंदी) उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

प्रस्तुतकर्ता

जानी विमल एच.

शोध-छात्र, हिन्दी भवन,

सौराष्ट्र विश्वविद्यालय,

राजकोट

निर्देशक

डॉ. बी.के.कलासवा

अध्यक्ष,

हिन्दी भवन,

सौराष्ट्र विश्वविद्यालय,

राजकोट-३६०००५

पंजीयन क्रमांक: ३६५०

पंजीयन दिनांक: ३१-०७-२००७

वर्ष: २०१२ ई.

प्रमाणपत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **जी.बी.मिलएच.**द्वारा सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट में पीएच.डी.उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध **''दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना''** मेरे निर्देशन एवं निरीक्षण में तैयार किया है । इस शोध-प्रबंध में इन्होने उक्त विषय का यथा-शक्ति अध्ययन, अनुशीलन एवं शोध-परक विश्लेषण-विवेचन कर वैज्ञानिक ढ़ंग से नितांत मौलिक निरूपण किया है ।

साथ ही, यह शोध-प्रबंध अथवा इसका कोई अंश न तो प्रकाशित हुआ है, और न ही इसका कहीं कोई अन्य उपयोग हुआ है ।

स्थल :
दिनांक :

निर्देशक
डॉ. बी.के.कलासवा
अध्यक्ष,
हिन्दी भवन,
सौराष्ट्र विश्वविद्यालय,
राजकोट-३६०००५

o भूमिका

साहित्य वास्तव में साहित्यकार एवं समाज के बीच का संवाद है । उच्च मानवीयता की स्थापना ही साहित्य का मुख्य लक्ष्य है । इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु साहित्यिक अनुष्ठान कर्ताओं ने अपने मन-मस्तिष्क को ज्ञान यज्ञ में सम्मिलित कर साहित्य सर्जन किया है। हम भली-भाँति जानते है कि साहित्य मनुष्य के विकारों एवं विचारों का संवाहक है, यानी कि साहित्य मानव के हृदय का स्पन्दन है । मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं को जानकर 'सर्वे सन्तु सुखिन:' परिभाषा सार्थक करना ही साहित्य का लक्ष्य है । साहित्य और समाज का मूल उद्देश्य मानव कल्याण है । और मानव कल्याण ही साहित्य का साहित्यिक आदर्श है । साहित्य और समाज की मैत्री का अर्थ है- नये युग की स्थापना, विराट मानव शक्ति की स्थापना, महामानव की स्थापना । एक वक्त था जब कि साहित्य समाज के साथ तो झुडा था ही किन्तु उसका एक निश्चित संबंध उच्च वर्ग तक ही सीमीत था । निम्न वर्ग साहित्य से कई गुना दुर था । साहित्य सिर्फ अभिजात वर्ग के मनोरंजन की चीज मात्र रह गया था। ये अभिजात लोग साहित्य को अपनी निजी संपति मानकर बैठे थे । दूसरी ओर साधारण जनता जो निरंतर भूखे मरती जा रही थी, अभाव की पीडा से कराह रही थी, अपनी व्यक्तिगत स्वार्थता के कारण साहित्यकार अपने दायित्वों को भूल चूका था। यह सचमुच मानवता के प्रति घोर अन्याय था, जिसके जीवन्त चित्र हमें आदिकालीन साहित्य में दृष्टिगत होते है ।

हिन्दी का आदिकालीन परिवेश युद्धों एवं मार-काट से परिपूर्ण था । अत: संपूर्ण वीरगाथा काल में तलवार की झंकार सुनाई पडती है । भक्ति काल तक आते-आते समाज की दशा में आमूल परिवर्तन देखा गया । हिन्दु समाज विदेशियोंसे

पराजित होकर पग-पग पर अपमान और आपतियों का सामना कर रहा था । निराशा उसके जीवन में व्याप्त हो गई थी । विपदग्रस्त व्यक्ति सब ओर से निराश होकर भगवदाश्रय ग्रहण न करे तो जाय कहाँ ! अत: इस काल के साहित्य में हम भक्ति की प्रधानता देखते हैं । कबीर, जायसी, तुलसी एवं सूरदास का साहित्य उल्लेखित परिवेश का लेखा जोखा है । इसी प्रकार रीतिकाल में विलासी समाज ने श्रृंगारी साहित्य सृजन की प्रेरणा दी । अधिकतर काव्यशास्त्र लिखनेवाले लोग राजदरबारों के आश्रय में रहते थे और वहाँ सामान्यत: विलासिता का दौर-दौरा रहता था, इसलिए कवियों की कृतियों में श्रृंगार रस की व्यंजना की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पडती है । काव्यशास्त्र के नियमानुसार श्रृंगार रस के स्वरूप, भेद एवं नायक-नायिका, नख-शिख वर्णन आदि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भी श्रृंगारिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला । बिहारी, धनानंद, बोधा, ठाकुर, आलम, मतिराम आदि कवियों ने निसंकोच भाव से श्रृंगारिकता को अपने काव्य में विस्तृत रूप में अंकित किया है ।

आज का युग औद्योगीक क्रांति का युग है । साहित्य एवं समाज में आज क्रान्तिकारी परिवर्तन देखा गया है । सहस्त्राब्दी के आरंभ से ही समाज एवं साहित्य में नवीन वैचारिक पृष्ठभूमि का प्रयोग होने लगा है । समाज के केन्द्र में आम आदमी का महत्व अधिक बढने लगा है । सामान्य से सामान्य व्यक्ति को समाज क्रान्ति का अग्रदूत समझा गया है । साहित्य भी इन गतिविधियों से अछूता नहीं रहा । वर्तमान साहित्यकारों ने आम आदमी की धडकनों को साहित्य का केन्द्रवर्ती मुद्दा बनाया । अभिजात, नगर, महानगर में बसे व्यक्तियों की चापलूसी छोडकर मिट्टी के मनुष्य की अनुभूति को साहित्य में जीवन्तता के साथ प्रस्तुत किया गया । इस सामाजिक परिवर्तन ने साहित्य, संस्कृति, धर्म, राजनीति एवं आर्थिक तेवरों को भी हचमचाया है।

उल्लेखित सारी गतिविधियों से हिन्दी साहित्य भी अछूता नहीं रह पाया। आजादी के पहले हिन्दी साहित्य का मुख्य लक्ष्य स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ सामाजिक जागृति को पुष्ट करना था । जब कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आजादि का स्वप्न तो पूर्ण हुआ लेकिन मोहभंग की स्थितियों ने हिन्दी-साहित्य को अत्यन्त प्रभावित किया । भारत-विभाजन, चीनी युद्ध, पाकिस्तान युद्ध, बांग्लादेश युद्ध आदि कई युद्धों ने हिन्दी साहित्य को परिवर्तित कर के रख दिया । साम्प्रदायिक हिंसा, कारगिल युद्ध, गोधरा कांड, बाबरी ध्वंश आदि कई परिस्थितियों ने हिन्दी साहित्य को नया खाद्य प्रदान किया है । समय और साहित्यकारों की मुठभेड ने कई प्रकार के साहित्य सृजन किया है इनमें हिन्दी उपन्यास साहित्य भी काबिले तारीफ है ।

उपन्यास वर्तमान विश्व साहित्य की सर्वाधिक लोक-प्रचलित एवं बहुचर्चित विधा है । वह कथा-साहित्य का आधुनिक काव्य-स्वरूप है । कुछेक आलोचकों ने उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा है । यह आस्मिक नहीं है आधुनिक युग में प्रबंध काव्यों की परम्परा निरंतर क्षीण होती गयी है । 'कामायनी', 'साकेत', 'उर्मिला', 'उर्वशी', 'राम की शक्ति पूजा' के पश्चात् हिन्दी में परम्परागत दृष्टि से कोई प्रबंध काव्य नहीं लिखा गया । जहाँ से महाकाव्यों का युग समाप्त होता है, वहाँ से उपन्यास का युग प्रारंभ होता है । यहाँ तक कि आज की सदी को सिर्फ उपन्यास की सदी माना गया है । जितने प्रयोग उपन्यास में हुए हैं उतने शायद अन्य किसी विधा में नहीं हुए । जितने आयाम उपन्यास ने तय किये है उतने अन्य किसी विधा ने नहीं। इसका कारण यह है कि उपन्यास समय और जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करके चलता है । तिलस्म तथा जासूसी उपन्यासों ने भी एक समय जीवन की रिक्तता को भरने का काम किया है तो प्रेमचंद ने उपन्यास को समाज की ओर मोडकर उसे

जिन्दगी का सच्चा दस्तावेज बना दिया । जैनेन्द्र, यशपाल एवं अज्ञेय जैसे उपन्यासकारों ने उपन्यास को एक नया मोड दिया । उसके पश्चात् यह विधा व्यक्ति मन की जटिलताओं को खंगालने लगी । अत: उपन्यास साहित्य एक निरन्तर बहती साहित्यिक प्रक्रिया मात्र है जो समसामायिक जीवन के यथार्थ को आसानी से पकड सकती है । इसी परम्परा के तहत उत्तरशती के प्रारंभिक दौर में हिन्दी उपन्यास के वस्तु विन्यास में विशेष प्रकार का परिवर्तन देखा गया है । पुनर्जागरण की जन-चेतना से उर्जा ग्रहण करता वर्तमान उपन्यास साहित्य जन चेतना से उर्जा ग्रहण करता है । अपनी सवा सौ वर्ष की यात्रा में हिन्दी उपन्यास साहित्य ने कई उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं । आज उपन्यास का जमाना है । वर्तमान उपन्यास साहित्य ने तो न पकड़ी जानेवाली आधुनिक मानव जीवन की जटिलतर यथार्थ की अन्दरूनी हकीकतों को भी पूरी जैविकता के साथ सम्प्रेषित किया है । साहित्य की परिधि से आज तक बाहर रहे दलित, पिछडे, उपेक्षित, समलैगिक, स्त्रियाँ एवं ग्रामीण वे लोग साहित्य के केन्द्र में आ रहे है और जो केन्द्र में देवी-देवता, ब्राह्मण, क्षत्रिय, राजा-महाराजा थे वे सब बाहर जा रहे है । सामाजिक गतिविधियों को देखने के आयाम भी बदले है । पूराने मूल्यों का नाश एवं नये मूल्यों की स्थापना हो रही है । लेकिन यह भी सच है कि इन विकास ने नये मूल्यों को सही अर्थों में प्रस्तुत नहीं किया । वर्तमान पीढी के उपन्यासकार इस प्रकार के परिवेश के भोक्ता है । दूसरी और ग्रामीण जनजीवन वक्त के साथ तेजी से बदल रहा है । कितना कुछ बदला यह विवादास्पद है, लेकिन बदला तो जरूर है । यही नहीं ग्रामीण यथार्थ उपन्यासों का रंगक्षेत्र बना । हिन्दी उपन्यास साहित्य में ग्राम जीवन की समस्याओं पर केन्द्रीत अनेक उपन्यासों का सृजन हुआ है । बीसवीं सदी में इस प्रकार के कुछ उपन्यास पाठकों का ध्यान आकर्षित करने में बहुत सक्षम सिद्ध

हुए हैं । प्रेमचंद के 'गोदान' से लेकर परम्परा कुछ प्रबल रूप से बल पकडती हुई दिखाई देती है, जिनमें शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया' नागार्जुन का'बलचनमा' रेणु का 'मैला आँचल' जगदीशचन्द्र का 'धरती धन न अपना' विवेकीराय का 'सोनामाटी' रांगेय राघव का 'कबतक पुकारुँ' राही मासूम रजा का 'आधा गाँव' रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर' श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' मिथिलेश्वर का 'यह अन्त नहीं' आदि कई उपन्यास ग्रामीण चेतना से संपन्न उपन्यास है ।

मेरे शोध-प्रबंध का विषय सिर्फ दशवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना को केन्द्र में रखकर लिखा गया है जिसकी विस्तृत आलोचना शोध-प्रबंध में प्रस्तुत की गई है ।

o शोध-कार्य की प्रेरक भावभूमि एवं विषय-चयन

मनुष्य चिंतनशील प्राणी है । वह हरेक वक्त विचारों में मग्न रहता है । कार्य-कारण संबंध को ध्यान में रखते हुए किसी भी कार्य के पीछे निश्चित कारण रहते हैं। विचारों का स्थायी रूप कार्य होता है । शोध-प्रबंध एक कार्य है । किसी भी शोध-कार्य की प्रेरक भाव-भूमि मनुष्य की जिज्ञासावृति रहती है । साहित्य में शोध-कार्य के पीछे यही जिज्ञासा कुछ नया देने की सोचता है । ज्ञान-पिपासु के लिए ज्ञान की कोई सीमा नहीं है । मेरे शोध-कार्य के पीछे भी यही जिज्ञासावृति ने काम किया है ।

अहिन्दी भाषी प्रदेश का छात्र होते हुए भी मेरी रूचि हिन्दी के प्रति अधिक रही है । हिन्दी पढना, बोलना मुझे बेहद अच्छा लगता है परिणाम स्वरूप मैंने हिन्दी विषय लेकर स्नातकोत्तर कक्षा तक अध्ययनपूर्ण किया है । समयानुसार हिन्दी के प्रति मेरा भाव बढता रहा । जीवन मूल्यों में विश्वास करना मैंने बचपन में पारिवारिक

संस्कार के रूप में सिखा था । साहित्य में इन मूल्यों को खोजना आज तक मेरा ध्येय रहा है । काव्य की तुलना में गद्य साहित्य में मूल्यों की विस्तृत चर्चा दृष्टिगत होती है। गद्य साहित्य समाज का सापेक्ष अध्ययन करता है । समाज में स्थित सामाजिक स्थितियों का प्रति स्वरूप तत्कालीन साहित्य में दिखाई देता है । समाज एवं साहित्य पारस्परिक संबंध से झुडे है । बचपन की मेरी गद्य साहित्य पढने की रूचि ने मुझे उपन्यास साहित्य की ओर आकर्षित किया । हिन्दी उपन्यास साहित्य में निरूपित भारतीय मूल्यों की में अत्यन्त सराहना करता हूँ । छात्रावस्था में मैंने कई छोटे-बड़े उपन्यास पढे है । बीच में में कई सालों तक उपन्यास पढ़ता रहा । अन्त में में निष्कर्ष पर पहुँचा कि जब कभी शोध-कार्य करने का मौका मिले तो सिर्फ उपन्यास साहित्य पर ही शोध-कार्य करूँगा । राजनैतिक, सामाजीक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक सारे उपन्यास पढे लेकिन मुझे ग्राम जीवन केन्द्रीत उपन्यास ही सबसे अच्छे लगे । अपने लगने के पीछे यही वजह थी की मुझे नगर, महानगर की तुलना में गाँव अच्छा लगता था । हिन्दी उपन्यास में निरूपित गाँव की ईमानदारी, व्यक्ति-व्यक्ति बीच के संबंध, समाज की सच्चाई एवं गाँव के रीति-रिवाज ने मुझे ग्राम जीवन केन्द्रीत उपन्यासों पर अनुसंधान करने की ओर प्रेरित किया । ग्राम जीवन केन्द्रीत कई उपन्यास पढने के पश्चात् में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कोई निश्चित समयावधि को तय कर ली जाय जिसमें अधिक से अधिक ग्राम जीवन केन्द्रीत उपन्यास लिखे हो । पता करने पर मालुम हुआ कि हिन्दी साहित्य में अधिक से अधिक ग्राम जीवन केन्द्रीत उपन्यासों की रचना दसवें दशक में हुई है । मैं अपने शोध-विषय के प्रति प्रतिबद्ध होता डॉ. बी.के.कलासवा साहब से मिला । विषय के बारे में कई बार चचाएँ होती रही। डॉ. कलासवा साहब भी मृतिका पुत्र है । वे अपने गाँव एवं गाँव में रहनेवाले कृषकों की

निरंतर चिंता करते रहते है । ग्राम जीवन की अनुभूति को साक्षात्कार किए गए है । एक अनुभवी पथप्रदर्शक मिलना में अपने आपको धन्यता का अनुभव कर रहा हूँ उन्होंने भी कई ग्राम जीवन केन्द्रीत उपन्यासों का गहन चिंतन किया है । मुझे कुछ ग्रामीण जीवन संबंधीत उपन्यासों के नाम बताए, जिनमें इद्न्नमम्, चाक, अल्मा कबूतरी बेतवा बहती रही, झूलानट, सोनामाटी, डूब, पार, काला पहाड़ आदि प्रमुख रहे । अंत में शोध-प्रबंध का शीर्षक तय हुआ । 'दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना' जो मैंने सहर्ष स्वीकार करके आज पूर्ण करने की स्थिति की आनंदानुभूति कर रहा हूँ ।

o विषय का विस्तार

प्रेमचंद, फणीश्वरनाथ 'रेणु' से लेकर अद्यावत् लेखक ग्राम जीवन के कुशल चितेरे हैं । ग्रामीण प्रकृति एवं परिवेश अधिकांश उपन्यासों में सक्रिय पात्र के रूप में उभरे हैं । गाँव की मिट्टी की भीनी-भीनी महक ही नहीं अपितु अनेक रीति से उत्पीडित मृतिका पुत्रों का हाहाकार भी सुनाई देता है । नगरीय अमानवीय तत्व गाँव में प्रविष्ट हो चुके हैं । मैत्रेयी पुष्पा के इदन्नमम्, चाक, अल्मा कबूतरी, बेतवा बहती रही, झूला नट आदि उपन्यास, विवेकी राय के मंगलभवन, अमंगलहारी, वीरेन्द्रजैन का डूब आदि ग्रामांचल के महत्वपूर्ण उपन्यास हैं । शैलेष मटियानी, हिमांशु जोशी, मृणाल पाण्डे के उपन्यास वैभवशाली गरिमामंडित हिमालय की गोदी में बिलख रही साधनहीन अकिंचन जनता के दर्द को उकेरते हैं । भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड' उपन्यास मेवात जैसे अनोखे ग्राम का ग्रामायण है । संजीव के धार, जंगल जहाँ शुरू होता है, अब्दुल बिस्मिल्लाह का मुखड़ा क्या देखे उल्लेखनीय रचनाएँ हैं । मेरे शोध-प्रबंध में यह सारे उपन्यास अपने आपमें विषय का विस्तार स्पष्ट करते है ।

० विषय की उपयोगीता एवं महत्व

भारतवर्ष गाँवों का देश हैं । आज भी भारत की नब्बे प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में ही निवास करती हैं । यदि कोई भारत की मूल संस्कृति और आत्मा का दर्शन करना चाहता है तो वह भारतीय गाँवों में ही देख सकता है। गांधीजी ने 'भारतीय आत्मा गाँवों में बसती है' ऐसा कहकर ग्राम चेतना को जमाने का आह्वान किया था। आज भले ही जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा शहरों की ओर आकर्षित हो रहा है लेकिन इतना तो निश्चित है कि जब तक गाँवों का उद्धार नहीं होता तब तक राष्ट्र उद्धार, उत्कर्ष नहीं होगा । आजादी पूर्व महात्मा गांधीजीने भारतीय गाँवों के उत्कर्ष का सपना देखा था वे गाँवों को एक स्वतंत्र इकाई के रूप में विकसित कर उन्हें सभी दृष्टियों से समृद्ध बनाना चाहते थे । वे सत्ता का विकेन्द्रीकरण कर उसे गाँवों को सौंपना चाहते थें ताकि वे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी दृष्टियों से आत्मनिर्भर बन सके । लेकिन गांधीजी का यह सपना पुरा नहीं हुआ । देश को आजादी मिली, बहुत से सुधार हुए, अनेक विकास योजनाएँ प्रारंभ हुई पर भारतीय गाँवों के ढाँचे में बुनियादी परिवर्तन नहीं हो सका । गाँव आज भी आर्थिक अभाव, सामाजिक दुराव, भ्रष्टाचार, जातिवाद और गुटबंदी के शिकंजे में फॅसें हुए हैं । सडी-गली रूढियों और सताधारियों के दबाव में उनका मनोबल टूटता जा रहा है । गाँव राजनेताओं के लिए अपरिहार्य हो उठे । देश की इस वास्तविकता के साथ नेताओं ने तो अभी तक गाँव से खिलवाड किया है, लेकिन ग्रामीण उपन्यासकारों ने अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति से ग्रामाँचलों की अनन्य समस्याओं की ओर ध्यान खींच कर अपने रचनाकर्म की इतिश्री की । ग्रामीण उपन्यासकार जनपद विशेष के जीवन के बीच जिया होता है या कम से कम समीपी दृष्टा होता है । वह विश्वास के साथ वहाँ

के पात्रों, वहाँ की समस्याओं, वहाँ के संबंधों, वहाँ के प्राकृतिक ओर सामाजिक परिवेश के समग्र रुपों, परम्पराओं ओर प्रगतियों को अंकित करता है क्योंकि उसने अपने अनुभव में उतारा है । आँचलिक उपन्यास लिखना मानो हृदय में किसी प्रदेश की कसमसाती हुई जीवनानुभूति को वाणी देने का अनिवार्य प्रयास है । अत: मेरे अनुसंधान का उद्देश्य आलोच्च कृतियों के अंतर्गत उठाये गये प्रश्नों, समस्याओं, संभावनाओं, समय-सन्दर्भ से जुडी नई चुनौतियों, विविध विसंगतियों, वैचारिक दृष्टियों एवं अनुभवजन्य सच्चाइयों तथा रूप बन्ध की विभिन्न भंगिमाओं पर प्रकाश डालकर ग्रामीण अन्तचेतना तक पहुँचना था । वो मैंने सार्थक किया है ।

० सामग्री संकलन के सूत्र

विश्वनीय सामग्री ही शोध की आधारशीला है । उपलब्ध सामग्री जितनी पूर्ण-प्रामाणिक एवं वैज्ञानिक है, शोधकार्य उतना ही ठोस एवं स्तरीय बनता है । शोध-कार्य सुनने में जितना सुखद लगता है, करने में वह उतना ही कष्टप्रद है । अर्थात् शोध-कार्य एवं सामग्री संकलन की प्रक्रिया अपने आप में एक अति दुष्कर कार्य है । शोध-कार्य शुरु करते समय मन में एक अज्ञात भय था कि जरूरी आधारग्रंथ और संदर्भग्रंथ किस तरह से प्राप्त होंगे ? परंतु खुशी इस बात की है कि मैंने जहाँ कहीं झोली फैलायी उनके सामने आभारवश विनत होना पडा है । यहाँ उन सबको याद करना मेरा परम् कर्तव्य समझता हूँ, जिन्होंने मेरे इस शोध-कार्य में यथोचित सहयोग दिया है । मेरे निर्देशक डॉ. बी.के.कलासवा ने अपने पास उपलब्ध ग्रंथों का उपयोग करने की अनुमति प्रदान कर मुझे पूरा सहयोग दिया है । मैंने राजकमल प्रकाशन से टेलिफोन किया, पत्र व्यवहार किया । सब सामग्री प्राप्त हुई । प्रसंगवश राधाकृष्ण प्रकाशन, वाणी प्रकाशन, अक्षय प्रकाशन से भी सहायक सामग्री प्राप्त हुई इन सभी

प्रकाशकों का हृदय से आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने मेरे शोध-कार्य में सहायक ऐसी किताबें समय-समय पर मुझे उपलब्ध करायी है । सौराष्ट्र विश्वविद्यालय राजकोट का ग्रन्थालय भी मुझे हरवक्त सहायक सामग्री उपलब्ध करवाता रहा है । अन्य विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय, अध्यापकों, गुरुजनों से भी पूरक सामग्री प्राप्त हुई है जिसके परिणाम स्वरूप मेरा शोध-प्रबंध पूर्ण हुआ है ।

o शोध-कार्य की परिसीमा

ज्ञान सीमातीत संदर्भ है । ज्ञान की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि किसी भी ज्ञान को निश्चित सीमा में आबद्ध करना दुष्टकर कार्य है । फिर भी एक निश्चित विषय का गहराई से अध्ययन करने हेतु विषय की परिसीमा तय करना अत्यंत आवश्यक बन जाता है । मेरे अनुसंधान का विषय 'दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना' है । हिन्दी साहित्य में साठोतरी उपन्यास साहित्य में ग्राम अधिक से अधिक केन्द्र में रहा है ।

ग्राम जीवन की गतिविधिओं का गहन अध्ययन नये उपन्यासों का मूल पडकार रहा है । वैसे तो ग्रामीण जीवन को केन्द्र में रखकर कई सारे हिन्दी उपन्यास लिखे गये किन्तु मेरा ध्येय सिर्फ 'दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना' स्पष्ट करना है ।

वेसे उस दिशा में अलग-अलग दृष्टिकोणों से पूर्ववर्ती शोधार्थीओं ने कई प्रकार का शोध-कार्य किया है । जो बातें पूर्ववर्ती शोधार्थी की दृष्टि से अछूती रही है । जो मेरे शोध का मुख्य मुद्दा बनी है । में चाहता हूँ कि उल्लेखित मेरा अनुसंधान का उपयोग परवर्ती शोधार्थी भी कर सकते है । अत: यही मेरे शोध-कार्य की परिसीमा है ।

० पूर्ववर्ती शोध-कार्य

हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि ग्रामीण जीवन पर बहुत कुछ लिखा गया हैं । हिन्दी एवं अहिन्दी क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है जो सब बधाई के पात्र है । लेकिन दसवें दशक के साहित्य इनमें भी उपन्यास साहित्य में बहुत कम काम हुआ है । मेरा प्रयास केवल दसवें दशक के उपन्यास साहित्य तक ही केन्द्रित रहा है । जो कुछेक संदर्भो में काम हुआ है । वह निम्नांकित है ।

१. स्वातंत्र्योतर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना: ज्ञानचंद गुप्त
२. हिन्दी उपन्यासों में आँचलिकता की प्रवृति: डॉ. ह. कडवे
३. हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों में जीवन-सत्य: डॉ. इन्दु प्रकाश पाण्डेय
४. हिन्दी के आँचलिक उपन्यास: डॉ. प्रकाश वाजपेयी
५. हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना: डॉ. कुंवरपाल सिंह
६. आँचलिक उपन्यास: अनुभव और दृष्टि: डॉ. ज्ञानचंद गुप्त
७. हिन्दी उपन्यास: एक अंतर्यात्रा: डॉ. रामदरश मिश्र
८. स्वातन्त्र्योतर हिन्दी कथा साहित्य और ग्रामजीवन: डॉ. विवेकीराय
९. फणीश्वर नाथ 'रेणु' के उपन्यासों में ग्राम-चेतना: कु. हरसिद्धि व्यास
१०. हिन्दी में आदिवासी जीवन केन्द्रीत उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन: डॉ. बी.के.कलासवा
११. आँचलिक उपन्यास और 'रेणु': डॉ. सत्यनारायण उपाध्याय
१२. आँचलिक उपन्यासों में ग्राम-जीवन का सामाजीक संदर्भ: डॉ. विनीत गोस्वामी
१३. आँचलिक उपन्यास: संवेदना और शिल्प: डॉ. ज्ञानचंद गुप्त

१४. आँचलिकता और हिन्दी उपन्यास: डॉ. नगीन जैन

१५. उपन्यास का आँचलिक वातायन: डॉ. रामपत यादव

१६. दसवें दशक के प्रतिनिधि उपन्यास: प्रो. मालती आदवानी

१७. नवम् दशक के आँचलिक उपन्यास: डॉ. गिरिश काशिद

१८. प्रेमचंदोतर हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना: डॉ. अमरसिंह लोधा

१९. वीरेन्द्र जैन का साहित्य: सं. मनोहर लाल

२०. समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में जन चेतना: डॉ. अरुणा लोखण्डे

२१. स्वातंत्र्योतर हिन्दी उपन्यास में कृषक जीवन: डॉ. उत्तमभाई पटेल

२२. हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों में मूल्य संक्रमण: वेदप्रकाश अमिताभ

२३. हिन्दी उपन्यास: जनवादी परम्परा: सं. कुँवरपाल सिंह

२४. हिन्दी के आँचलिक उपन्यास: सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ: डॉ. विमलशंकर नागर

२५. हिन्दी के आँचलिक उपन्यास: डॉ. रामदरश मिश्र

२६. हिन्दी के आँचलिक उपन्यास: मृत्युंजय उपाध्याय

२७. हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि: डॉ. जवाहर सिंह

० शोध-प्रबंध की विशेषताएँ

शोध-प्रबंध की प्रक्रियाएँ को सम्यक्, श्रेष्ठ एवं दीर्घायु बनाने के लिए मैंने निम्नांकित तथ्यों को ध्यान में रखा है ।

१. आलोच्य शोध-प्रबंध हिन्दी के ग्रामीण क्षेत्र के उपन्यासों पर आद्यांत अध्ययन प्रस्तुत करता है ।

२. शोध-प्रबंध के लिए सहायक सामग्री प्राप्त करके गहन अध्ययन किया गया है।

३. शोध विषय पर आधारित अभी तक जो शोध-कार्य हुआ है उसकी प्रकाशित-अप्रकाशित सहायक सामग्री का भी अध्ययन प्रस्तुत हुआ है।

४. विभिन्न ग्रन्थालयों की शोध-विषयक सामग्री का उपयोग किया गया है।

५. मीडिया, पत्र-पत्रिका, विभिन्न प्रकाशनों से भी आवश्यक सामग्री प्राप्त हो गई है।

- **प्रबन्ध परिचय**
- **शीर्षक: 'दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना'**

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को मैंने पाँच अध्यायों में विभाजित किया है। जैसा कि हम जानते है कि स्वातंत्र्योतर उपन्यास साहित्य में ग्राम-जीवन का जो चित्रण हुआ है, उसकी ओर अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान कम ही रहा है। भारत गाँवों का देश है। ग्राम-जीवन के रीति-रिवाज, परम्पराएँ, रूढियाँ आचार-विचार रहन-सहन अन्य समाजों की तुलना में बिलकुल भिन्न है। मैंने स्वातंत्र्योतर युग के उपन्यास साहित्य पर दृष्टि की ओर पता चला कि उल्लेखित युग में अधिक से अधिक ग्राम-जीवन केन्द्रित उपन्यास दसवें दशक में लिखे गये है। तत्पश्चात् मैंने मेरे शोध-प्रबंध का विषय 'दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्राम-चेतना' रखा है। जिसका अध्याय विभाजन का ब्यौरा निम्नानुसार है।

- **प्रथम अध्याय: 'ग्रामीण चेतना' अर्थ, स्वरूप, परिभाषा और आँचलिकता से साम्य वैषम्य।**

प्रथम अध्याय को मैंने दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में 'ग्रामीण'

एवं 'चेतना' शब्द की व्युत्पति एवं विविध विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं की विस्तृत विवेचना की है । तत्पश्चात् 'ग्रामीण चेतना' का अर्थ, स्वरूप एवं प्रकार पर प्रकाश डाला गया है । दूसरे भाग में 'ग्रामीण' एवं 'आँचलिकता' दोनों के बीच का साम्य-वैषम्य स्पष्ट करते हुए दोनों की प्रकृतिगत भिन्नता को भी स्पष्ट किया है।

- **द्वितीय अध्याय: हिन्दी के ग्रामीण चेतना संबंधित उपन्यास: परम्परा और प्रगति**

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के द्वितीय अध्याय में मैंने हिन्दी के ग्राम-चेतना संबंधित उपन्यासों का प्रारंभ, विकास बताते हुए हिन्दी साहित्य में उन उपन्यासों की दखल किस प्रकार की रही है जिसके बारे में गहन चिंतन प्रस्तुत किया है ।

- **तृतीय अध्याय: दसवें दशक के हिन्दी के ग्रामीण चेतना संबंधित उपन्यास एवं उपन्यासकार**

तृतीय अध्याय मेरी शोध-प्रबंध लिखने की सिमाओं को स्पष्ट करता है । सबसे पहले मैंने दसवें दशक की सीमा-निर्धारण करते हुए उस समयावधि में जो ग्रामीण चेतना संबंधी उपन्यास है उन उपन्यासों की एवं उपन्यासकारों की विशेष चर्चा की है साथ में, कुछेक दसवें दशक के ग्राम चेतना संबंधी गौण उपन्यास एवं उपन्यासकार भी लिए गये है ।

- **चतुर्थ अध्याय: दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना**

चतुर्थ अध्याय मेरे शोध-प्रबंध का मूलभूत अध्याय है । तृतीय अध्याय में उल्लेखित समयावधि में लिखे गए ग्राम चेतना संबंधी उपन्यासों में निरूपित ग्रामीण चेतना को मैंने विविध आयामों द्वारा आलोच्य अध्याय में प्रस्थापित करते हुए मेरी संपूर्ण शोध-कार्य परम्परा का परिचय करवाया है ।

- **पंचम अध्याय: आलोच्य उपन्यासों का समग्र अध्ययन**

पंचम् अध्याय भी मेरे शोध-कार्य में अहम् भूमिका निभाता है । पंचम् अध्याय में मैंने जो सामग्री प्रस्तुत की है वे सिर्फ ग्राम चेतना संबंधित है अन्य सामग्री जैसे कि सामाजिक चेतना, राजनैतिक चेतना, आर्थिक चेतना, सांस्कृतिक चेतना, नारी विमर्श आदि कई पहलुओं को उजागर किया है ।

- **उपसंहार**

उपसंहार के अंतर्गत मैंने समस्त अध्यायों का निष्कर्ष एवंम् मूल्यांकन प्रस्तुत किया है । अंत में मैंने संदर्भ ग्रन्थ सूचि देकर मेरे शोध-प्रबंध की प्रमाणिकता को ओर सत्यान्वेषी बनाने का प्रयत्न किया है ।

कृतज्ञता ज्ञापन

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को संपन्न बनाने में जिन विद्वानों तथा आत्मीयजनों ने सहायता की है उन सबके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। शोध-कार्य के प्रारंभ से लेकर समाप्ति तक शोधार्थी को न जाते कितने अभिभावकों का सहयोग एवं आशीर्वाद मिलता रहता है। उनके प्रति कृतज्ञता का भाव व्यक्त करते हुए धन्यता का क्यों नहीं होगा ?

प्रथमत: तो सत् गुरुदेव का अनहद कृपादृष्टि का हकदार होने के नाते उनके प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ उनका ही दिया हुआ सब कुछ है, उन्हीं का चाहा सब होता है। इस शोध-कार्य में समाप्ति तक उनकी कृपा हरदम अनवरत बरसती रही है। इसके पश्चात् सभी गुरुजनों एवं बडों के प्रति में नतमस्तक हूँ। प्रभु-कृपा व गुरु-कृपा के आशीर्वाद से ही मेरे सभी कार्यो की तरह शोध-कार्य भी सुचारू रूप से संपन्न हो पाया है। मेरे परम श्रद्धेय निर्देशक डॉ. बी.के.कलासवा (अध्यक्ष, हिन्दी भवन, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट) के प्रति में अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। प्रस्तुत शोध-कोर्य में मार्गदर्शक के रूप में आपका मार्गदर्शन मिलना मेरे लिए भाग्य की बात हैं, क्योंकि जिन्दगी के उतार-चढाव में शोध-कार्य को संपन्न करना मेरे लिए प्राय: असंभव सा हुआ था। में जहाँ कहाँ भी कमजोर हुआ वहाँ उन्होंने मुझे पूर्ण सहकार देकर अपना औदार्य दिखाया। अपने अति व्यस्त जीवन में उन्होंने विषय चयन से लेकर संपूर्णता तक जिस सरलता, सहृदयता और आत्मीयता का परिचय दिया है, उसके लिए में सदा कृतज्ञ रहूँगा। आपके उचित मार्गदर्शन के

कारण ही मेरा यह शोध-कार्य संपन्न हुआ है । आपके इस अनुग्रह से ग्रहण मुक्त होना मेरे लिए असंभव है ।

समय-समय पर जिनसे हरदम सहायता एवं आशीर्वाद मिलते रहे हैं ऐसे परम आदरणीय डॉ. एस.पी.शर्मा (पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी भवन, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट), डॉ. गिरीशभाई त्रिवेदी (पूर्व रीडर, हिन्दी भवन, सौराष्ट्र विश्व विद्यालय, राजकोट), डॉ. शैलेष के. महेता (रीडर, हिन्दी भवन, सौराष्ट्र विश्व विद्यालय, राजकोट), डॉ. एन.टी.गामीत (रीडर, हिन्दी भवन, सौराष्ट्र विश्व विद्यालय, राजकोट), ने पूरा-पूरा संबल दिया है । आप सभी विद्वज्जनों ने ज्ञानार्जन में मेरी पूर्ण सहायता की है । अत: इन सबके प्रति आभार प्रकट करता हूँ ।

मेरे जन्मदाता माता-पिता का आभार भी किन शब्दों में व्यक्त करूँ ? इस संसार में मेरी पहचान उन्हीं के कारण है, ऐसी शुभ-भावना के साथ उनके चरण-कमल में श्रद्धापूर्ण विनत हूँ । उन्हीं की कृपा से में आज तक की पढाई संपन्न करता रहा हूँ । श्रद्धेय माता-पिता के आशीर्वाद मेरी इस साधना में पूरक रहे हैं । इसके साथ ही मैं अपने सास-ससुर का भी हृदय से अभिवादन करता हूँ । उनके द्वारा मिला हुआ सहयोग मेरे लिए अमूल्य है ।

आलोच्य शोध-कार्य को पूर्ण करने में हर वक्त मुझे शोध-कार्य की ओर सत्कर्ता बनाये रखने में मेरी धर्म-पत्नी योगीनी एवं मौलिक भाई तथा भाभी का भी विशेष योगदान रहा है । धनिष्ट मित्रों द्वारा भी समयानुसार प्रोत्साहन मिलता रहा जिनमें विवेक, भरत, चेतनसर, सिद्धार्थसिंह, एवं संस्कारधाम बी.एड./पी.टी.सी. कोलेज आदि को इस अवसर पर में विशेष याद करता हूँ ।

अंत में अपने शोध-कार्य में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में जिन्होंने योगदान दिया है। उन सभी के प्रति नतमस्तक होता धन्यता का अनुभव करता हूँ।

स्थल: राजकोट **विनीत**

दिनांक: **जानी विमल एच.**

अनुक्रमणिका

क्रम	प्रकरण शीर्षक	पृष्ठ संख्या
➥	प्राक्कथन	iv-xiv
➥	**कृतज्ञताज्ञापन**	xvii-xix
अध्याय-१	'ग्रामीण चेतना' अर्थ, स्वरूप, परिभाषा और आँचलिकता से साम्य वैषम्य	1-49
अध्याय-२	हिन्दी के ग्रामीण चेतना संबंधित उपन्यास: परम्परा और प्रगति	50-98
अध्याय-३	दसवें दशक के हिन्दी के ग्रामीण चेतना संबंधित उपन्यास एवं उपन्यासकार	99-189
अध्याय-४	दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना	190-307
अध्याय-५	आलोच्य उपन्यासों का समग्र अध्ययन	308-470
०	उपसंहार	471-490
०	संदर्भसूचि	491-496

प्रथम अध्याय
'ग्रामीण चेतना' अर्थ, स्वरूप, परिभाषा और आँचलिकता से साम्य वैषम्य

'ग्राम-चेतना' शब्द 'ग्राम' और 'चेतना' दो शब्दों के योग से बना है । अत: 'ग्राम' और 'चेतना' दोनों शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थो में गहन अध्ययन किये बिना 'ग्राम-चेतना' का अर्थ समझना मुश्किल है ।

प्राचीन काल में मनुष्य कृषि और बिलकुल अनभिज्ञ था । खेतों में हल चलाना, अनाज कैसे बोया जाय, अनाज कैसे पकाया जाय इससे कोई मतलब नहीं था । केवल शिकार करके ही अपनी जठराग्नि को शान्त करता था । उसके पास न रहने के लिए घर था न कृषि के लिए खेत । जहाँ चाहे वहाँ रात व्यतीत कर लेता था । ऐसे मनुष्य जो केवल स्वकेन्द्रि होते थे और अकेले-अकेले ही वास करते थे। वे कुछ परिवर्तन से एकजुट होकर रहने लगे होंगे । अपनी रक्षा के लिए छोटे-मोटे समूह बनकर झुग्गी-झोपडियों में रहना सिखा होगा । यानी कि अपने रहने-उठने, खाने-पीने, व्यवहार के लिए एक निश्चित जगह का निर्माण किया होगा तब जाकर 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ होगा । अर्थात् 'ग्राम' शब्द की व्युत्पति मनुष्य के अच्छा-बुरा सोचने की शक्ति के साथ हुई होगी । इस प्रकार 'ग्राम' का सामान्य अर्थ आज के गाँव से लिया जा सकता है। इसका सही अर्थ विश्व-संस्कृति के अध्ययन से लिया जा सकता है ।

➢ 'ग्राम' शब्द का अर्थ:

'ऋग्वेद' में 'ग्राम' शब्द का प्रयोग आधुनिक गाँव के अर्थ में हुआ है । यथा-

'असि ग्रामेष्यविता पुरोहितोडसि यजेसु मानुषः ।'

अर्थात् ग्रामों में अग्नि, पुरोहित रक्षक है और यज्ञ में अग्नि हो अधिपति है ।

'ऋग्वेद' में एक स्थान पर इन्द्र की प्रार्थना में 'ग्राम' शब्द का प्रयोग हुआ हैं। यथा-

'स ग्रामेभिः सनिता स रधेभिर्विदे विश्वाभिः कृष्टिभिन्वंध ।'

'अथर्ववेद' में एक स्थान पर 'ग्राम' शब्द कुटुम्ब के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा-

'ये गाम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तों बहुयैक रूपाः ।'

'मनुस्मृति' में 'ग्राम' शब्द शासन की छोटी इकाई के रुप में मिलता है । यथा-

'ग्रामस्याधिपति कुर्यादर्श ग्रामपति तथा ।

विशंतीश शतशं च सहस्रपतिमेव च ॥'

इस प्रकार मनुस्मृति में दस गाँव से लेकर हजार गाँव के अधिपतिका उल्लेख मिलता है ।

'मार्कण्डेय पुराण' में शुद्रादि वर्णो से युक्त कृषि इत्यादि से समृद्ध क्षेत्रोपयोगी भूमि के बीच में स्थित वास को 'ग्राम' माना गया है । यथा-

'तथा शुद्र जन प्रयास समृद्ध कृषिवला क्षेत्रोपयो भूमध्ये वसितिः ग्राम संशिका॥'

'अमरकोष' में ग्राम शब्द विभिन्न जातियों के ठौर के लिए प्रयुक्त हुआ है । यथा-

'समौ संवसथग्रामौ ।'

ठौर का मतलब विश्राम से है । इसमें घोष आभिर आदि जातियों के

विश्रामस्थल के लिए ग्राम शब्द का प्रयोग हुआ है । विश्रामस्थल का मतलब स्थायी रूप नहीं है। थोडे वक्त के लिए जहाँ आराम फरमाया जाता है उस स्थल को विश्रामस्थल कहा गया है ।

एक अन्य जगह 'अमरकोष' में 'ग्राम' शब्द का प्रयोग 'समूह' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यथा-

'शब्दादिपूर्वो वृन्देडपि ग्राम: ।' लेकिन इसमें 'ग्राम' शब्द के आगे कोई शब्द होना चाहिए । संगीतशास्त्र में ग्राम शब्द पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त हुआ है । ग्राम शब्द का अर्थ 'विलेज' अर्थात् एक गाँव, एक जाति बताया गया है ।

'ग्राम' शब्द की व्युत्पति परी प्रकाश डालते हुए 'पाणिनी'ने ग्राम कोएक स्वतंत्र धातु स्वीकार किया है जिसका अर्थ होता है- 'आमन्त्रण' । वाणिनी 'ग्राम' शब्द का अर्थ बिलकुल नये संदर्भो में करते है । वाणिनी के इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो जीवन के आमन्त्र का मौलिक अधिकार ग्रामों के ही है । ग्राम अपने-आप में पूर्ण होता है । सभ्यता और जीवनापयोगी पर्याप्त सामग्री ग्रामों में ही प्राप्त होती है । मतलब देखा जाय तो ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और सन्यासश्रम तीनों गृहस्थाश्रम पर आधारित है और गृहस्थ 'ग्रामों' में रहता है । इस प्रकार बहुत संभव है कि इसी धातु के अर्थ में आमन्त्रण पर ग्राम शब्द प्रचलित हो गया है ।

इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत में 'ग्राम' शब्द का अनेक अर्थो में प्रयोग मिलता है । इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में 'ग्राम' शब्द का अर्थ गाँव खेडा निवास भूखण्ड एवं जहाँ निम्न जात के लोग, पशु, प्राणी रहते है उसी के रुप में प्रयुक्त हुआ हैं ।

संस्कृत शब्दकोष: संस्कृत शब्दकोश में 'ग्राम' शब्द की व्युत्पति 'ग्रस' धातु

में 'मन' प्रत्यय लगाने की मानी गई है । 'ग्रस्त' धातु का अर्थ है 'ग्रस्त करना' जो ग्रस्त करने अर्थात् अपने में विलिन करने की शक्ति रखे उसे 'ग्राम' का बोध होता है । गाँव अपने आप में पूर्ण होता है । जूते, कपडा, नाई, व्यापारी चिजे एवं व्यवसायकर्ता गाँव के ही रहते है । गाँव में सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और आत्मिय झाँकी प्रस्तुत होती है ।

➢ **आपरेजी के अनुसार:**

आपरेजी के अनुसार 'ग्रस' धातु ग्रहण के रूप में प्रयुक्त होता है । 'ग्रस' धातु से ही 'ग्राम' शब्द बन गया । अर्थात् 'ग्राम' की शक्ति रखनेवाला स्थान ग्राम कहलाता था ।

➢ **अंग्रेजी शब्दकोष:**

अंग्रेजी में 'ग्राम' के लिए 'विलेज' अथवा 'विला' शब्द मिलता है । विला मूलत: प्रोन्च शब्द है, जिसका अर्थ 'ग्रामीण निवासस्थान' होता है ।

आक्सकर्ड डिक्शनरी:

आक्सफर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'विलेज' यह है जो 'हैमलेट' से बडा और नगर से छोटा हो । शासन की दृष्टि से नगर का शासन समस्यागत है वहाँ ग्राम का शासन सरल होता है । छोटी-छोटी इमारतों के समूह को भी 'विलेज' की संज्ञा दी गई है । इंग्लैड के आदिकाल में भूमि के भिन्न-भिन्न, छोटे-छोटे टुकडों में जो वस्तियाँ बिखरी रहती थी उसे 'हैमलेट' कहा जाता था ।

➢ **गुजराती शब्दकोष:**

बंगाली शब्दकोष में 'ग्राम' शब्द के लिए 'लोकालय' शब्द का प्रयोग करके इनका विस्तृत विश्लेषण किया है । जनसंख्या युक्त मुल्क, प्रदेश, किसी एक तहसील

या जिला, राष्ट्र या किसी जाति । 'लोकालय' शब्द का मतलब जहाँ लोकजाति बसी हुई हो ऐसा भू भाग अथवा एक जैसा लोक-संस्कारों से युक्त लोकजाति का भू-भाग ग्राम समूह या ग्राम है ।

➢ **मराठी विश्वकोष:**

तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी लिखित मराठी शब्दकोष के अनुसार- 'अपने खेतों के पास रहकर स्वतंत्र या सामूहिक रूप से खेती करनेवाले खेतिहारों की स्थायी वस्ती को 'ग्राम' कहा जाता है ।

➢ **हिन्दी शब्द सागर:**

हिन्दी शब्द सागर में 'ग्राम' शब्द के अनेक अर्थ बताये गये है । 'ग्राम' शब्द का एक अर्थ है- छोटी बस्तो । अन्य अर्थो में मनुष्यों के रहने का स्थान, आजादी, जनपद, समुह, ढेर, प्रयुक्त हुआ है ।

➢ **धीरेन्द्र वर्मा:**

धीरेन्द्र वर्मा ने ग्रामगीत की परिभाषा करते समय 'ग्राम' शब्द के बारे में लिखा है कि- 'ग्राम' तो एक इकाई है, उसमें लोक-मानस विधमान रहता है ।'

➢ 'चेतना' शब्द की व्युत्पति एवं अर्थ

'चित्' धातु से 'ल्युद' (मन्) प्रत्यय के योग से 'चेतना' शब्द की उत्पति हुई है, जिसका अर्थ परिवेशगत तथा स्वयंगत तत्वों का ज्ञान है ।

'चेतना' शब्द का संबंध मनोविज्ञान से है । अंग्रेजी में 'चेतना' शब्द के लिए 'कान्शसनेस' शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ है आन्तरिक ज्ञान अथवा चेतन जागरुकता ।

चेतना एक अमूर्त तत्व है । वह मानव के अंतरंग की शक्ति है । चेतना का

महत्व स्वीकार करते हुए चेतना का स्वरुप विश्लेषित करने का तथा उसे पारिभाषित करने का प्रयास विभिन्न भाषा एवं शास्त्रों में हुआ है ।

संस्कृत मनीषियों ने 'चेतना' शब्द को 'प्रज्ञा' कहकर सम्बोधित किया है । 'प्रज्ञा' शब्द 'चेतना' शब्द का पर्यायवाची है । 'चेतना' शब्द 'चेतन' या सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो 'चेत्' से बना है । 'चेत्' शब्द 'चेतस्' का पर्याय है, जो ज्ञान, होश, बुद्धि एवं जीवन के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है । आत्मा, जीवन, परमात्मा, मनुष्य, प्राणी, मन आदि कई ऐसे शब्द है जो चेतना के पर्यायवाची बने हुए है ।

हिन्दी में 'चेतना' शब्द को व्यापक अर्थ में लिया गया है । 'चेतना' शब्द बुद्धि, ज्ञान, मनोवृति, स्मृति, सुधि, होश, संज्ञा, समझना, विचारना एवं जागृति आदि अर्थो में प्रयुक्त किया है ।

'चेतना' शब्द अकर्मक एवं सकर्मक दोनों क्रियाओं में भिन्न अर्थ प्रदान करता है । अकर्मक क्रिया के अर्थ में 'होश में आना', 'बुद्धि विवेक से कार्य लेना', 'सावधान होना' एवं सकर्मक क्रिया के अर्थ में 'सोचना-विचारना' आदि अर्थ में होते है ।

दर्शनशास्त्र ने चित् तत्व को ब्रह्म का एक तत्व माना है और उसके अनुसार 'चेतना' शब्द का अर्थ विचारों, अनुभूतियों और संकल्पों की आनुषंगिक दशा, स्थिति अथवा क्षमता है । अद्वेत-चिंतन में यह सत्+चित्+आनंद ब्रह्म का रूप है। चिद्वि-लास में चैतन्य को विश्व की स्पन्दन शक्ति, प्राण को चित् शक्ति एवं ब्रह्म माना है । इस आधार पर चेतना को कोशकार अग्निहोत्री ने जीवन शक्ति पौरुष, आकलन शक्ति, ज्ञान-शक्ति और जीव माना है । विश्व में ओतप्रोत चैतन्य को स्पष्ट करते हुए चिंतक वाडेकर- प्राणशक्ति एवं मानसिक शक्ति के सामंजस्य को चेतना

मानते हैं यह चेतना विश्व को नियंत्रित करनेवाली श्रेष्ठ आत्मिक शक्ति की आंशिक पुन निर्मिर्ति है । उसे विकासवादियों ने सृष्टि उद्‌भावित नया गुण माना है ।

इस प्रकार दर्शन में चेतना एक मानसिक, बौद्धिक उच्च शक्ति है । व्यावहारिक रूप में चेतना व्यवहार के मर्म की खोज है, जिसके माध्यम में विशुद्ध मानव वृतियाँ एवं गुणों का ज्ञान होता है ।

मनुष्य का एक स्वाभाविक गुण है संवेदनशीलता । मनुष्य के आस-पास के वातावरण में अनेक घटनाएँ और परिस्थितियाँ घटित होती है । उन घटनाओं के दृश्य और अनुभव का मनुष्य के कोमल हृदय पर तुरन्त ही प्रभाव पडता है, जिसके परिणाम स्वरुप वह भावविभोर होता अपने मन में कई विचारों को जन्म देता है, वही-विचार चेतना का रुप धारण करते है । चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओं, विषयों, कार्यो तथा व्यवहारों का ज्ञान । चेतना की प्रमुख विशेषताएँ है- निरंतर परिवर्तनशीलता, गतिशीलता अथवा प्रवाहमयता । इस प्रवाहमयता के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य। चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविच्छिन्न एकता हमारे व्यक्तिगत तादाम्य के अनुभव से । यह चेतना व्यक्तिगत एवं सामुहिक भी हो सकती है। प्रसिद्ध जर्मन विश्लेषणवेता, मनोवैज्ञानिक सी.बी.युग ने 'सामुहिक चेतना' या 'कलेकिख साइके' के बारे में लिखा है- 'सारी चेतना जो व्यक्ति विशेष की न होकर एक ही काल में अनेकानेक व्यक्तियों अथवा व्यक्ति समुदाय-समाज, राष्ट्र अथवा संपूर्ण मानव जाति की सम्पति हो सकती है ।[१] चेतना व्यक्ति से संबंधित है लेकिन व्यक्ति से संबंधीत होकर भी समाज विशेष की बन जाती है । परिणामत: समसामायिक जीवन में कभी गतिरोध उत्पन्न होता है, जिससे व्यक्ति

जागृत हो जाता है । उसे धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्म घटना का ज्ञान शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का ज्ञान होने लगता है । उसके अंतर्मन में विचारों का क्रम बन जाता है । अर्थात् इस चेतना प्रक्रिया में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ प्रेरणा रुप में होती हैं । किसी विषय, वस्तु या घटना विषय को स्वीकारना या नकारना इसी मस्तिष्क के विचार चक्र पर अवलम्बित होता है ।

सामान्यत: संपूर्ण सृत्रष्ट के समस्त पदार्थ दो रूपो में लक्षित होते हैं- जड एवम् चेततन । इनमें से जड है, उसमें संवेदना, इच्छा और सजग क्रिया का अभाव पाया जाता है । इसके ठीक विपरीत इच्छा, संवेदना एवं सजग क्रिया आदि चेतना में पाया जाता है । इसी क्षण की सज्ञात क्रियाओं को 'चेतना' कहकर पुकारा जाता है ।

विज्ञानवादी और प्रत्ययवादी दार्शनिकों ने 'चेतना' या 'विज्ञान' को ही शाश्वत और एक मात्र सत्ता माना है । इस अर्थ में 'चेतना' शब्द आत्मा का समानार्थक हो जाता है । साहित्य एवं दर्शन में इस अर्थ में प्राय: चैतन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है । वैसे तो 'चेतना' शब्द सामान्य-मनोवैज्ञानिक अर्थ में अधिक प्रयुक्त किया जाता है ।

➢ 'चेतना' शब्द मनोवैज्ञानिक अर्थ में

'चेतना' शब्द का प्रयोग जिस मनोवैज्ञानिक अर्थ में स्वीकृत हुआ है, उस मनोविज्ञान की सहायता से चेतना शब्द के पारिभाषिक अर्थ को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है ।

मनोविज्ञान के प्रखर तत्व-चिंतक फ्रायड ने मानवीय मन को चेतना के स्वर पर तीन हिस्सों में विभक्त किया है-

१. अहं-इगो

२. सुप्राहम-सुपर इगो और

३. इदम-इड ।

किन्तु इन तीन स्तरों के बीच की सीमा-रेखाएँ इतनी धुंधली एवं अस्पष्ट होती है कि इन्हें अलग-अलग निश्चित लक्षणों के आधार पर विभाजित करना मुश्किल है, क्योंकि एक स्तर की विशेषताएँ दूसरे स्तर में मिली हुई होती है ।

संक्षेप में कह सकते है कि यद्यपि मनोविज्ञान मानवीय मन को 'चेतना' के स्तर पर तीन हिस्सों में विभाजित करके 'चेतना' को समझाने का प्रयत्न करता है तो उसके विभिन्न स्तरों के बीच की सीमारेखाओं को अलग-अलग निश्चित लक्षणों के आधार पर विभाजीत करके चेतना की परिभाषिक संकल्पना करना मुश्किल है।

वास्तव में मनोविज्ञान शायद अभी 'चेतना' के स्वरुप निर्धारण में उतना आगे नहीं बढ पाया है, जितनी की उसकी चर्चा हुई है । इधर कुछ विद्वानों का तो स्पष्ट मत है कि जब 'चेतना' ही सभी पदार्थो को जड-चेतन, सजीव-निर्जीव, मस्तिष्क, स्नायु आदि को बनाती है, तब इनके द्वारा हम चेतना को कैसे समझ और समझा कहते है ? असल में इनके द्वारा चेतना को समझने की कोशिश करना ही अ-विचार है ।

➢ चेतना-परिभाषाएँ

चेतना की परिभाषा नहीं दी जा सकती, हम केवल अनुभव कर सकते है कि 'चेतना' क्या है? धर्म, श्रद्धा, भगवान, आध्यात्मिक, जीव, जगत जैसे अनेक ऐसे शब्द है, जिसकी सटीक परिभाषा नहीं दी जा सकती, ये शब्द अपरिभाषेय होते हैं। 'चेतना' भी उन्हीं में से एक है, फिर भी कुछ विद्वानों ने परिभाषा देने का प्रयास किया है ।

➢ भारतीय संदर्भ

डॉ. रत्नाकर पाण्डेय ने लिखा है कि- 'चेतना वह तत्व है, जिसमें ज्ञान की, भाव की और व्यक्ति अर्थात् क्रियाशीलता की अनुभूति होती है ।[१]

रवीन्द्र जैन के मतानुसार- 'चेतना एक प्रवाह प्रक्रिया है, और प्रवाह में परिवर्तन और गति की अनिवार्यता होती है ।[३]

'विचार और अनुभूति के उद्वेलन का दूसरा नाम चेतना है ।[४]

'चेतना प्राणी मात्र में निहित वह शक्ति है जो उन्हें निर्जीव और जड वस्तुओं से अलग बनाती है, और उन्हें चैतन्यमय बनाकर सजीव सिद्ध करती है ।'[५]

प्रेमचंद के निम्बन्ध साहित्य में सामाजीक चेतना पर प्रकाश डालती हुई अर्चना जैन चेतना के बारे में लिखती है कि- 'चेतना ऐसे मस्तिष्क का गुणधर्म है, जो भौतिक विश्व के साथ अनोन्य क्रिया करता है । उच्च विकसित पदार्थ की बाह्य विश्व को बोद्धिक बिम्बों के रूप में परिलक्षित करने की योग्यता ही चेतना है । उसी के द्वारा मनुष्य अपने चारों ओर के विश्व का संज्ञान प्राप्त करता है और अपने व्यावहारिक क्रिया कलाप को सोदेश्य बनाता है ।'

डॉ. पुरुषोतम दुबे लिखा है कि बर्गसावादी विचारक के मतानुसार जीवन एक चेतना है, वह चेतना मनुष्य के विवेक बुद्धि के रुप में, सहज बुद्धि के रुप में विकसित हुई है । मनुष्य को सुख:दुख, इच्छा, राग-द्वैष, कामेच्छा आदि से सम्बन्धित अनुभूति चेतना के प्रवाह के माध्यम से होती है । चेतना के माध्यम से मनुष्य किसी क्रिया विशेष को तथा विचारों को व्यक्त करता है ।

डॉ. राजकुमारी सैनीनी सौदर्य चेतना के संदर्भ में उल्लेखित किया है कि 'यहि अनुभूति अभिव्यक्ति शाश्वत सरिता के समान है जिसमें विभिन्न भावबोध, विभिन्न

अनुभूतियाँ और भिन्न स्मृतियाँ बूँद-बूँद के समान आकार धारण करती है, और तिरोहित हो जाती हैं किन्तु उसका अपना प्रवाह अपनी समग्रता के साथ गतिमान रहता है ।[६]

मानव चेतना अपने इर्द-गिर्द के विभिन्न परिवेश से सम्बन्धित घटनाओं को घटनाओं से सम्बन्धित स्मृतियों को अनुभूत कर लेती हैं, लेकिन उस अनुभूति को पानी के बुल-बुल के समान कह सकते है जो कुछ क्षणमात्र के लिए निर्माण होता है एवं तुरंत लुप्त हो जाता है । उसी प्रकार से मानव चेतना में विचारों को चक्र स्थिर नहीं होने से, तुरन्त परिवेश से सम्बन्धित अनुभूतियाँ, स्मृतियाँ परिवर्तित अथवा लुप्त हो जाती है । चेतना की गति अनंत है, इस गति को विभक्त नहीं किया जा सकता, केवल उसे व्यक्ति के अंतर्मन की गतिविधियों द्वारा जाना जा सकता है।

डॉ. अंबलगे ने चेतना में चैतन्य का गुण विद्यमान रहता है ऐसे कहकर कहा है कि- 'चेतना प्राणी मात्र में निहित वह शक्ति है जो उन्हें निर्जीव और जड वस्तुओं से अलग बनाती है, और उन्हें चैतन्यमय बनाकर सजीव सिद्ध करती है ।[७]

डॉ. रामशेखलावन पाण्डेय के शब्दों में- 'चेतना उस मूल तत्व का विराट संयोजन है जो जीवन को जीवनीय, प्रकृति को संस्कृति, सहज को उदात एवं सामान्य को भव्य बनाती है ।[८]

डॉ. रामदेव शुक्ल के शब्दों में- 'चेतना को नवोन्मेषशालीनी प्रतिभा की भाँति समाज जीवन के कूडे-कचरे को साफ करते हुए नित्य नूतन पर चिर पुरातन सत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए सदा प्रेरित करती है ।[९]

चिंतक वाडेकर प्राणशक्ति एवं मानसिक शक्ति के सामजस्य को चेतना मानते हुए कहते है कि- 'चेतना विश्व को नियंत्रित करनेवाली श्रेष्ठ आत्मिक शक्ति की पुननिर्मित है ।[१०]

इलाचंद जोशी कहते है- 'चेतना शरीर से महत्वपूर्ण है पर शरीर के बिना चेतना सम्बन्धी अनुभूति नहीं हो सकती । शरीर के भीतर मस्तिष्क है और मस्तिष्क के कोषों में ही प्रकट में लौकिक और अलौकिक अनुभूतियों की चेतना निहित है।[१]

चेतना के संदर्भ में राहुल जी कहते है कि- 'वर्तमान क्षण की संज्ञात क्रियाओं का नाम चेतना है । यह एक गतिशील वस्तु है, व्यक्ति सापेक्ष्य स्वतंत्र एवं सूक्ष्म । इसे किसी प्रकार के चश्मे से भी नहीं देखा जा सकता । अनुभवी विचारकों एवं आध्यात्मिक मनीषियों ने क्रिया संवेदना के कारण ही आधारभूत शक्ति को चेतना के नाम से पुकारा है ।[२]

गजानन माधव मुक्तिबोध के मतानुसार- 'मानव चेतना की प्रक्रिया, प्राणीशास्त्रीय आधार पर खडी होते हुए भी मूलत: मनोवैज्ञानिक है । अर्थात् चेतना की प्रक्रिया के अंत: नियम प्राणीशास्त्रीय आधार पर स्थित होते हुए भी उससे भिन्न है, किन्तु चेतना के बाह्य के आभ्यन्तरीकृत रूप है । दूसरे शब्दों में अत: प्रवृतियों तथा उनके द्वारा प्राप्त अनुभवों में परस्पर वैभिन्य है । चेतना के तत्व बाह्य के आत्मसाकृत बिम्ब हैं उनका आधार बाह्यगत है, आकार बाह्यगत है किन्तु उनकी अग्नी तेज आत्मगत है ।'[३]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'चेतना' मनुष्य की आत्मिक एवं सतात्मक एकता का धर्म है और आत्मिक एवं सतात्मक एकता वह सत्य है, जिसका ज्ञान मनुष्य को पशु जगत से भिन्न करता हुआ अतत: क्रियाशीलता से ही आत्मिक उन्नति प्राप्त करता है । कहा जा सकता है कि क्रियाशीलता का ही दूसरा नाम आत्मिक उन्नति है ।

डॉ. हरदेव बाहरी के मतानुसार- 'चेतना (अ.क्रि.) होश में आना, सावधान होना, सोच समझकर ध्यान देना ।'[४]

श्रीमद्भगवदगीता के अध्याय २३ श्लोक २४ में चेतना का भाव विस्तृत रूप में प्रकट हुआ है-

'यथा प्रकाशयत्मक: कृत्सनं लोकमिंम रवि:

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृलनं प्रकाशयति भारत ।'

अर्थात् जिस प्रकार अकेला सूर्य संपूर्ण ब्रह्मांड को प्रकाशित करता है वैसे ही शरीर में स्थित एक आत्मा संपूर्ण शरीर को चेतना से आलोकित करती है । व्याख्याकार श्रीकृष्णकृपाभीमूर्ति ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है- 'चेतना' के सम्बन्ध में नाना मत है । भगवद्गीता में सूर्य और सूर्यप्रकाश का द्रष्टांत है । एक देश में स्थित होते हुए भी सूर्य संपूर्ण ब्रह्मांड को प्रकाशित करता है । उसी भाँति देह के उदय में स्थित अणु-आत्मा सिर से पैर तक इस सारे शरीर को चेतना से आलोकित करता है । अतएव चेतना आत्मा की उपस्थिति का प्रमाण है, उसी प्रकार जैसे सूर्य प्रभा से सूर्य का होना सिद्ध होता है । जब तक आत्मा देह में रहती है, तब तक संपूर्ण देह में चेतना व्याप्त रहती है, आत्मा के चले जाते ही तत्क्षण चेतना सर्वथा विलुप्त हो जाती है । कोई भी विवेकी पुरुष यह सुगमता से समझ सकता है। अतएव सिद्ध होता है कि चेतना जड प्राकृतिक तत्वों के समुच्चय उत्पन्न नहीं हुई है अपितु वह तो आत्मा का स्वरुप लक्षण है ।

परमात्मा ही चेतना से चिद्गुणों में एक होने पर भी जीवात्मा की चेतना सर्वोपरि नहीं है । जीव व्यष्टि-चेतन है अर्थात् उसकी चेतना किसी एक देह तक सीमित है जबकि परमात्मा समष्टि चेतन है, जीवात्मा के साख रूप में सब देहों में व्याप्त है । यह परम चेतना और जीव-चेतना में अन्तर है ।

पौर्वात्य विद्वानों ने 'चेतना' सम्बन्धी जो तर्क दिये है वे मानवीय मन की

परतों में होती जागरुकता से सम्बन्धित है, वहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने जो तर्क दिये है वे कहीं न कहीं मानव के उददेश्यों एवं कार्यो से सम्बन्धित है ।

➢ पाश्चात्य संदर्भ

पाश्चात्य प्रसिद्ध विद्वान हैमिल्टन ने 'चेतना को चिन्तनशील प्राणी द्वारा अपने कार्यो अथवा प्रवृतियों की स्वीकृति माना है ।[१५]

लोके के अनुसार- 'मनुष्य के मन में जो कुछ घटित होता है, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान चेतना है ।[१६]

क्लार्क के मतानुसार- 'गम्भिर और सही अर्थ में चेतना उस प्रतिपेक्षित क्रिया की सूचक है जिसके अंतर्गत व्यक्ति को यह ज्ञान होता है कि वह विचार कर रहा है और उसके वे विचार तथा क्रियाएँ स्वयं उसकी अपनी है किसी दूसरे की नहीं ।[१७]

रीड ने माना है कि- 'यह व्यक्ति के वर्तमान विचारों, उद्देश्यों और सामान्य तथा मन की समस्त वर्तमान क्रियाओं से सम्बद्ध तात्कालिक ज्ञान का सूचक है ।[१८]

विलियम जोम्स के मतानुसार- 'चेतना एक इकाई अथवा वस्तु नहीं है, बल्कि एक प्रवाह है, सम्बन्धों की एक प्रणाली है, यह एक ऐसा बिन्दु है, जिस पर विचारों का प्रवाह तथा वस्तुओं के अत: संबंधों के साथ मिलकर दीप्त हो उठता ह ै। [१९]

इन्साईक्लोपिडिया ओफ सोश्यल सांइसिस के वाल्युम ३-४ के पृ.२३ पर चेतना का स्वरुप इस प्रकार समझाया गया है- 'चेतना अनुभवकर्ता द्वारा सांसारिक वस्तुओं का यथातथ्य अवलोकन ही नहीं, अपितु उनकी परख तथा मूल्यांकन भी ह ै। [२०]

संक्षेप में चेतना के सम्बन्ध में कहा जा सकता है-

१. 'चेतना' की व्युत्पति 'चित्' धातु से है ।

२. चेतना की निश्चित परिभाषा करना संभव नहीं है । लेकिन चेतना के स्वरूप पर प्रकाश डाला जा सकता है-

३. चेतना को बाह्य क्रिया-प्रतिक्रियाओं के द्वारा कुछ मात्रा में ज्ञात किया जा सकता है ।

४. निरंतर परिवर्तनशील, प्रवाहमयता आदि चेतना के गुण है ।

५. मानव चेतना प्राणी मात्र की चेतना से भिन्न है ।

६. चेतना का सम्बन्ध मानव के अनुभूति एवं अभिव्यक्ति पक्ष से भी होता है ।

७. समाज की अपनी एक सामाजिक चेतना होती है ।

८. चेतना, ब्रह्मशक्ति, प्राणशक्ति, विश्व की स्पन्दन शक्ति है ।

९. चेतना सामाजिक जीवन के मर्म की खोज है ।

१०. चेतना से मनुष्य और समाज का असली अंतरंग उद्घाटित होता है।

इस प्रकार 'चेतना' शब्द आत्मा और बुद्धि दोनों से सम्बन्धित है । 'चेतना' जीवधारियों में रहनेवाला वह तत्व है जो उन्हें निर्जीव पदार्थो से भिन्न बनाता है । दूसरे शब्दों में हम उसे मनुष्यों की जीवन क्रियाओं को चलानेवाला तत्व कह सकते है । 'चेतना' स्वयं को और अपने आस-पास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है । समाज मानव द्वारा निर्मित होता है। इनमें अनेक प्रकार के उपकरण विद्यमान रहते हैं, इनमें कुछ उपयोगी होते है और कुछ अनुपयोगी । 'चेतना' उपयोगी एवं अनुपयोगी दोनों को पहचान ने का कार्य करती है।

➢ चेतना का वर्गीकरण

चेतना का जागरण मानव की चिन्ता द्वारा होता है । मनुष्य सोचता है, विचार करता है तब उसे जाकर सही या भ्रामक निष्कर्षो की प्राप्ति होती है । मानव को गति भी चेतना द्वारा ही मिलती है । चेतना का विस्तार जीवन के कई क्षेत्रों- सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, आर्थिक तक है ।

डॉ. देवराज पथिक 'चेतना' को वर्गीकृत करते हुए लिखते है कि 'व्यक्तिगत स्तर पर, पारिवारिक स्तर पर, समाज, जाति या वंश के स्तर पर देश-राष्ट्र के स्तर पर, विश्व के समूह स्तर पर सोचने समझने की शक्ति यदि चेतना है तो, चेतना के निम्नानुसार भेद किये जा सकते है ।

- सामाजीक चेतना
- सांस्कृतिक चेतना
- राष्ट्रीय चेतना
- धार्मिक चेतना
- आर्थिक चेतना
- ग्रामीण चेतना

➢ 'ग्राम चेतना' का स्वरूप

आज 'ग्राम चेतना' का स्वरुप अत्यंत जटिल और संश्लिष्ट है । उसकी यह संश्लिष्टता में अध्ययन सम्भावनाओं के कई आयाम है, जिसको साहित्य जीवन की अनुभूतियों द्वारा व्यक्त करता है । जबकि समाज उसका अपनी विशिष्ट अध्ययन प्रक्रिया द्वारा विवेचन करता है । आजका ग्रामीण परिवेश अपने यथार्थ की भिन्न-भिन्न वक्रताओं में भौतिकता की नयी माँगों, प्राचीन-नवीन मूल्यों के तनावों, नये-

पुराने सम्बन्धों के बीच में पडी दरारों, समता-विषमता की लम्बी दुरियों आदि को अपने में समाहित किये हुए हैं अत: हमें यथार्थ के इन स्वरों को समझना है तो ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाएँ नृतत्वशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान, समाजशास्त्र इतिहास, शिक्षाशास्त्र आदि का सहारा लेना होगा ।

'ग्राम चेतना' के वर्तमान पहलूओं के साथ इतिहास के पूर्वकाल की तुलना करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पिछली शताब्दी में राजनीतिक परिवर्तन के बाद स्वतंत्र भारत के गाँव नये परिवेश और परिवर्तन संदर्भ से विशेष प्रभावित रहे हैं । इस सम्बन्ध में डॉ. सुरेश सिन्हा का कहना है कि- 'स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात् भारतीय ग्रामों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए । पुरानी मान्यताएँ टूटी और नई मूल्य परंपरा विकसित हुई । शिक्षा के प्रसार, नगरीय सभ्यता से निकट सम्पर्क एवं राजनीतिक गतिविधियों के कारण ग्रामीणों के द्रष्टिकोण में भी यथेष्ट परिवर्तन लक्षित हुआ । एक और नये वैज्ञानिक उपकरण और जीवन के नये-नये साधन गाँव में पहुँच रहे थे और दूसरी और गाँव अपनी उन्हीं पुरानी रूढियों और परम्पराओं के शिकंजे में बुरी तरह जकडे हुए थे । नयेपन का एक और स्वाभाविक आकर्षण था, जिसमें परिवर्तनशीलता की अकुलाहट सन्निहित थी । दूसरी और जडता और पुरातन के प्रति मोह था ।' ग्राम चेतना की यह सब संगतियाँ-विसंगतियाँ उसके मन संबंधी विचारो का पर्दाफाश करती है । ग्राम चेतना का सर्वोतम आयाम है ग्राम-जागृति, जो ग्राम में ग्रामीणों में, उनके मनोभावों में और उनके विचारों में एक सांस्थानिक परिवर्तन के कारण आई है । इस ग्रामीण चेतना ने ग्रामीणों के जीवन पर ग्रामीणों की द्रष्टियों पर और नवा भाव-बोध जगाकर नयी मानसिकता उत्पन्न की है । डॉ. भगवतीप्रसाद शुक्ल ने भी इस बात को अपना समर्थन देते हुए कहा है कि-

'स्वतंत्रता के बाद अपने देश में समाजवादी समाज-रचना से संबंध कार्यो का विस्तार गाँवों तथा अंचलों तक होने लगा जिसके फलस्वरूप अंचल-विशेष में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक चेतना मुखरित हुई ।' इस प्रकार हम कह सकते है कि वर्तमान गाँवों की वे स्थितियाँ हैं जिनसे हमे उनकी अभिरुचियों, उनकी जडताओं, उनकी रीति-नीतियों, उनके सोचने-विचारने के ढंग, उनके अच्छे-बुरे कार्यो, उनकी परंपराओं, उनके अभावों और धर्म-अर्थ के विभिन्न संघर्षो आदि का संवेदनात्मक बोध होता है ।

इस प्रकार 'ग्राम चेतना' के स्वरुप-विवेचन से हमें ज्ञात होता है कि गाँवों के परिवेश की जीवन्त मानसिकता ही ग्राम चेतना है, जो हमें वर्तमान का बोध कराती है । गाँव के आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-नीतियाँ, रोजी-रोटी कमाने के तरीके और यहाँ तक की गाँव की सोच क्यों, कैसे और क्या है इसका परिचय देती है । ग्रामीण साधारण इन्सानों को अपने जीवनयापन के लिए खेतों में हल चलाना पडता है तो कहीं पशुपालन के व्यवसाय से जुडकर पशुतुल्य जीवन बिताना पडता है । कहीं समुद्र, नदियों या तालाबों में जाल-बिछाना पडता है तो कहीं जंगलों में लकडीयाँ काटनी पडती है । कहीं नौकर बनकर मालिकों की डाँट-फटकार सुननी पडती है तो कहीं पूँजीपतियों के अत्याचार सहने पडते हैं । इस प्रकार ग्रामीण जीवन अनेकविध उलझनों में समाहित है ।

➢ 'ग्राम चेतना' का महत्व

भारतीय जीवन का वास्तविक रूप गाँवों में ही देखने को मिलता है, क्योंकि भारत देश गाँवों का देश है इसलिए ग्राम चेतना का महत्व उसके लिए और भी बढ जाता है। अतीत से लेकर वर्तमान तक द्रष्टि करके देख सकते हैं कि परिवर्तन की

प्रकृति का नियम है । प्राचीनकाल के इन्सान और आज के इन्सान में बहुत बडा अंतर देखने को मिलता है इसका मूल है चेतना । प्राचीन तथा मध्यकाल में कुछ कम परिवर्तन हुआ है लेकिन आधुनिक या वर्तमान युग तो परिवर्तन का युग है, इसमें पाश्चात्य संस्कृति के आधार पर भौतिक सम्पन्नता को अग्रिम स्थान दिया गया है । भारत कृषि-प्रधान देश है तथा भारतीय जीवन तथा सभ्यता का मूल स्त्रोत भी कृषि है और उसका व्यापक रूप ग्राम जीवन में ही देखने को मिलता है । अत: ग्राम जीवन का समग्रलक्षी अध्ययन आवश्यक बन जाता है । ग्राम जीवन विभिन्न जडताओं में जकडा हुआ है ऐसा कहना भी अनुचित नहीं कि भारतीय गाँव अंधविश्वास के अड्डे हैं । ग्रामों में चेतना के स्वर मुखरित न होने का एक कारण ग्राम उपेक्षा भी बताया जा सकता है । भारतीय अनेक महापुरुषों ने भारतीय गाँवो की उपेक्षा न कर उसकी ऐसी जड मानसिकता को तोडकर उसे नया रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है । प्राचीनकाल में वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदान, मध्यकाल में कबीर, सूर, तुलसी तथा आधुनिककाल में स्वामी दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राँय, स्वामी विवेकानंद, लाला लजपतराय, गांधीजी, विनोबा भावे आदि अनेक महापुरुषों ने पुरानी जडताओं का खण्डन कर नयेपन का निर्माण करने का प्रयत्न किया है । इन सभी ने ग्राम जीवन को लक्षितकर यह बात बताई है कियोंकि उनका भी मानना है कि ग्राम चेतना से ही पूरे देश में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर चेतना मुखरित हो सकती है । आज गाँव जागृति की अत्यंत आवश्यकता है क्योंकि नगरों की तुलना में गाँव बहुत ही पीछे रह गये हैं । हमारे साहित्यकारों ने भी अपने साहित्य द्वारा ग्राम चेतना को प्राधान्य दिया है लेकिन ग्राम अध्ययन हिन्दी उपन्यास का कार्यक्षेत्र न होकर ग्रामीण

समाजशास्त्र का विषय है । इस सम्बन्ध में डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त ने कहा है कि- 'यद्यपि ग्राम अध्ययन हिन्दी उपन्यास का कार्यक्षेत्र न होकर ग्रामीण समाजशास्त्र का विषय है । लेकिन जो आंतरिक गहराई, समीपी दृष्टि एवं भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिकता, इन ग्राम चेतना परक हिन्दी-उपन्यासों के माध्यम से उजागर हुई वह वह किसी भी रुप में एक समाजशास्त्री के लिए ज्ञानराशि का संचित कोश सिद्ध हो सकती है और वे इनसे तथ्य संकलनकर अथवा प्रभाव ग्रहणकर अध्ययन की दिशाओं के नये सीमाओं की खोज कर सकते हैं ।' इस प्रकार साहित्य जो समष्टिगत चेतना की उपज होता है, उसमें ग्राम चेतना संश्लिष्ट होती है ऐसी ग्राम चेतना का महत्व अत्यधिक मात्रा में माना जा सकता है ।

➢ साहित्य और समाज का ग्राम चेतना से सम्बन्ध

साहित्य और समाज का ग्राम चेतना से गाढ सम्बन्ध है तथा ग्राम विशेष की चेतना की अभिव्यक्त और निर्माण में साहित्य और समाज का अत्यंत महत्व है । समाज की चेतना में ही 'साहित्य' जीवित रहता है अत: साहित्य को समाज का ऐसा परिधान कहा जा सकता है, जो प्रजा के जीवन के हर्ष-विषाद, सुख-दु:ख, आकर्षण-विकर्षण आदि के ताने-बाने से बुना जाता है । साहित्य में प्रजा के जीवन की व्याख्या होती है इसीलिए उसमें जीवन को प्रेरणा देने की ताकत रहती है। लेकिन एक बात जरूर कही जायेगी की साहित्य मानव को लेकर ही जीवित है अतएव वह पूर्णत: मानवकेन्द्रित है और मानव की अनुभूतियों, कलाओं और भावनाओं का सजीव रूप है । मानव सामाजीक प्राणी होने के कारण वह सामाजिक समस्याओं, भावनाओं तथा विचारों का जन्मदाता होता है वहीं वह उनसे प्रभावित भी होता है। यह प्रभाव ही साहित्य में मुखरित, पल्लवित होता है । साहित्य ग्राम-चेतना से

संश्लिष्ट होता है अत: गाँवों की आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक प्रवृतियों की प्रतिक्रिया तथा गाँवों की आशा, अपेक्षा और आदर्श साहित्य में अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार समाज साहित्य द्वारा प्रसारित भावों, विचारों आदि से प्रभावित रहता है तो साहित्य में भी समाज के भावों, विचारो आदि की प्रतिच्छाया रहती है ।

साहित्य और समाज का परस्पर धनिष्ठ सम्बन्ध होने का कारण साहित्य 'समष्टिगत चेतना की उपज' को भी माना जाता है । साहित्य समाज का दर्पण है, जीवन की प्रतिकृति है, मानव-जीवन उसका केन्द्र-बिन्दु है । जीवन के हर्ष-विषाद दोनों पहलुओं से उसका सम्बन्ध रहता है । इस प्रकार साहित्य और समाज दो समानान्तर रेखाएँ बनती है जिसे आपस में मिलाने का कार्य ग्राम चेतना का भी कहा जा सकता है क्योंकी भारत कृषि प्रधान देश है और कृषि से जुडे लोग ज्यादातर गाँवो में ही बसते हैं और हमारे महापुरुषों का भी मानना है कि ग्राम जीवन को चेतना से ही समग्र राष्ट्र में चेतना लाई जा सकती है । इस प्रकार की ग्राम चेतना का प्रसार और प्रचार का माध्यम साहित्य की है क्योंकि किसी को सीधे मूँह उपदेश देना अधिक उचित नहीं है और लोग ऐसे उपदेश को पसंद भी नही करते है, इसीलिए साहित्यकारों ने साहित्य में उदेश्य के माध्यम से यह बात लोगों तक ले जाने का प्रयत्न किया है । इस प्रकार साहित्यकार बादल के समान समाजरूपी समुद्र से जो जल ग्रहण करता है, उसी जल को चेतना का पुट देकर मधुर बनाकर समाजरूपी समुद्र को वापस भी देता है अत: यह कहना अनुचित नही होगा कि वातावरण में जबकोई चेतना की लहर उठती है तो साहित्यकार उससे अछूता नही रह सकता । प्रेमचंदजी ने इस बात से सहमति जताते हुए बताया है कि- 'साहित्यकार बहुधा अपने देश-काल से प्रभावित होता है । जब कोई लहर देश में उठती है तो

साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है । उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में व्यापकता होती है । वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक होता है ।'

इस प्रकार साहित्य और समाज के सम्बन्धों में परस्पर धनिष्ठता लाने का श्रेय 'ग्राम चेतना' को है । ग्राम चेतना साहित्य का महतम धर्म है जब साहित्य कभी अपनी वास्तविक धर्म-भावना को छोडकर धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक या नैतिक प्रचार में लग जाता है तो उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है । अत: ग्राम चेतना का साहित्य और समाज से अटूट सम्बन्ध मानना अनुचित नही है ।

➢ **भारतीय जन-जीवन में 'ग्राम-चेतना'का महत्त्व :**

भारतीय जीवन का यथार्थ स्वरूप गाँव में ही है, नगरों में तो उसका अति सीमित रूप विद्यमान है । भारतीय जीवन तथा सभ्यता का मूल स्त्रोत कृषि है और उसका विस्तार ग्राम-जीवन में ही परिलक्षित होता है । अतः ग्राम-जीवन के समग्र रूप एवं उसके प्रामाणिक अध्ययन के लिए आवश्यक है कि उसके विविध पक्षों का गहन अध्ययन-विश्लेषण किया जाय तथा उसके आंतरिक स्वरूप को भली-भाँति समजा जाय । विभिन्न ग्राम-परक सामाजिक अध्ययन अभिप्रेत पूर्णता की और अभी नहीं पहुँच पाये हैं । इसलिए ग्राम-चेतना की अन्तः धारा प्रकाश में नहीं आ पाई है । इसके मूल में विभिन्न कारण हैं - देश का विशाल भौगोलिक परिवेश, सांस्कृतिक वैभिन्य, समाजगत विविधता एवं बहुभाषी प्रांत आदि । इन कारणों में अतिरिक्त एक कारण और भी है और वह है - ग्राम-उपेक्षा ।

स्वतंत्रता के बाद भी चाहे अर्थशास्त्री हों, चाहे समाजशास्त्री, सामाजिक कार्यकर्ता हों या शासनकर्ता, सरकारी तंत्र हों अथवा गैर सरकारीसमाजसेवी, अभी का ध्यान शहेरों की और रहा है, फिर भी देश की जनता का अधिकतम भाग आज भी गाँव की झोंपडडियों मे बसता है । अनुभूत्यात्मक स्तर पर साहित्य के अलावा दूसरा कोई उपादान नहीं जो इस ग्राम-चेतना की अन्तः धारा को स्दर दे सके, जो कि ग्राम-जीवन की आन्तरिकता हैं । ग्राम-चेतना के अध्ययन से ग्राम-जीवन के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक आयामों की आन्तरिकता और उसमें उभर रहे नविन भाव-बोध का हमें साम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकता हैं । स्वतंत्रता-परवर्ती हिन्दी साहित्य की उपन्यास विद्या ने इन उपेक्षित-भूमियों एवं अंचलों की अज्ञात विशिष्टताओं को खोजा है । इन अज्ञान अंचलो के जीवन की आन्तरिकता को स्वर देने वाले उपन्यासों को हिन्दी में प्रायः आंचलिक उपन्यास कहा जाता है ।

मानवीय संवेदनाओं के माध्यम से इन उपन्यास-लेखकों ने ग्रामीण यथार्थ को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है, जो ग्राम-अध्ययन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । 'ग्राम' का अध्ययन आज की युगीन आवश्यकता है जिसे हिन्दी उपन्यासकार ने भली-भाँति समजा है, क्योंकि आज तक उन विभिन्न चांकादेनेवाली ग्राम समस्याओं का, जो अत्यंत जटिल एवं संशिलष्ट है, संधान एवं एकत्रीकरण तक नहीं किया गया है और न ही उनका कोई वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत हो पाया है । यद्यपि ग्राम-अध्ययन हिन्दी उपन्यास का कार्यक्षेत्र न होकर ग्रामीण समाजशास्त्र का विषय है । लेकिन जो आंतरिक गहराई, समीपी दृष्टि एवं भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिकता, एन ग्राम-चेतना-परक हिन्दी उपन्यासों में माध्यम से उजागर हुई है ।

वह किसी भी रूप में एक समाजशास्त्री के लिए ज्ञानराशि का संचित कोश सिद्ध हो सकती है और वै इनसे तथ्य संकलन कर अथवा प्रभाव ग्रहण कर अध्ययन की दिशा के नये सिमान्तों धी खोज कर सकता है ।

➢ स्वतंत्रता पूर्व ग्राम्य-जीवन :

प्राचीन भारत के गाँव शताब्दियों पर्यन्त गणतंत्र की इकाई रहे हैं । उनका संगठित, सामुहिक, शांतिपूर्ण एवं सुनियोजित जीवन अपनी सुव्यवस्था तथा आत्मनिर्भरता के लिए विख्यात रहा है । लेकिन परिवर्तन संसार का नियम है । परतंत्रता आते ही मुस्लिमकाल एवं अंग्रेजीकाल में विकृतियों से इनका स्वरूप उत्तरोत्तर बिगडता गया । भारत विभिन्न रियासतों में छिन्न-भिन्नहो गया, और क्या शहर क्या गाँव, सभी उन रियासतों के अंग-प्रत्यंग बनकर रह गये । उन्हीं की रीति-नीतियाँ उनका शासन-तंत्र बन गई । शासन-तंत्र के सुत्रधार चाहें वे मुस्लिम शासक हो या अंग्रेज दोनों ही अपने हित-सम्पादन में निरंतर क्रियाशील रहे । ग्रामीण नता की विविध समस्याओं, उनकें अभावों एवं अन्य जीवनगत विसंगतियों से मानो उनकास कोई संबंध ही न था । उनका यदि कोई सरोकार था तो केवल समयानुसार लगान आदि करों की वसूली से था । कर वसूल करने में वे कितने नृशंस एवं अमानवीय थे, उनकी गाथाएँ प्रचलित है । यातनायें देना मानो उनका खेल था ।

ब्रिटिश काल में ग्रामो की स्थिति और भी शोचनीय बनकर रह गई । अंग्रेजो नें शासन का केंन्द्रीयकरण किया और तदनुसार नये नयें अधिकारी नियुक्त किए । गाँवों की स्वायत्ता भी जाती रही । ग्राम-सभाओं को मिलने वाले धन का हिस्सा भी अंग्रेजों ने देना बंद करी दिया तथा सडकों और तालाबों आदि का निर्माण-कार्य भी

अंग्रेजी सरकार ने अपने हाथ में ले लिया । न्यायालयों की स्थापना से पंचायतों ने न्यायिक कार्य और अधिकार दोनों ही जाते रहे । इन प्रकार कहा जा सकता हैं कि ग्रामीण समुदाय विभिन्न शासन व्यवस्थाओं के साथ-साथ परिवर्तित होता रहा है और उसकी प्राचीन स्वायत्ता नवीन संदर्भो में बनती बिगडती रही है ।

➢ **स्वतंत्रता प्राप्ति और 'ग्राम-चेतना' परिवर्तित संदर्भ :**

स्वतंत्रता प्राप्ति ग्राम-चेतना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं गत्यात्मक संदर्भबिंदु है, जहाँ से ग्राम-चेतनागत आ रहे द्रुतगामी परिवर्तनों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में झाँका जा सकता है । स्वतंत्रता ही वस्तुतः एक बुनियादी मूल्य है । जिसने राष्ट्रीय मंच पर विभिन्न सामाजिक-आर्थिक जटिलताओं के मध्य पुर्ननिर्माण का प्रश्न उत्पन्न कर नयी मानसिकता को जन्म दिया है । आजादी मिलने के बाद देश का विभाजन हुआ, नवीन संविधान का निर्माण हुआ तथा विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ बनाई गई, जिसे इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है -

➢ **देश विभाजन :**

भारत को सन् १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्त होते ही उसके विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक कठिनाईयाँ उभर आई । भारत का राजनीतिक विभाजन तो उसके समक्ष भीषण समस्याओं का एक पूँज सिद्ध हुआ । सांप्रदायिकता का उन्माद हिन्दू-मुस्लिम दोनों ही वर्गो में व्याप्त हो गया, जिसके कारण अनेकों घर लुटें, परिवार नष्ट हुए, खून की नदियाँ बही, और आदमी, आदमी का दुश्मन हो गया । समाज में कटुता की भावना के साथ अनेक नये परिवारों का बोझ भी भात पर आ पडा॥ राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न रियासतों का एकीकरण भी प्रमुख प्रश्न था । राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न रियासतों का एकीकरण भी प्रमुख प्रश्न था । राष्ट्रीय नेता गाँवों में

जमींदारो और उनके कुकृत्यों से भली-भाँति परिचित थे । देश की एकता की समस्या के साथ, उसका आर्थिक ढाँचा भी परिवर्तनकांक्षी था । जनसंख्या की विस्फोटक वृद्धि ने खाद्यान्न स्थिति का संतुलन बिगाड दिया था और बंगा के भयंकर अकाल की स्मृतियाँ मस्तिष्क में धूमने लगी थी । देश की असम्भवित जनसंख्या-वृद्धि, युदधकाल में फँसलों के समय का परिवर्तन, उपजाउ प्रांतो का पाकिस्तान में चले जाना पारम्परिक कृषि-पद्धति एवं अन्य दैवी-आपदाओं का आना आदिदेश की खाद्यान्न स्थिति के चिंताजनक पहलू थे । विदेशी सहायता से अपना समसामायिक संकट तो टल गया, लेकिन कृषि-उन्नत और उसके अंतर्गत स्वावलंबन का प्रश्न हमारे समक्ष प्रस्तुत हुआ ।

औद्योगिक क्षेत्र में भीदेश की तस्वीर अस्पष्ट थी । जनसंख्या के कुल लगभग सात प्रतिशत लोग ही उद्योग-रत थे । लघु-उद्योग प्रोत्साहन के अभाव में मर रहे थे । कुल मिलाकर अर्थ-व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी । विषमता की दूरीायँ विभिन्न वर्गो में व्याप्त थीं । शिक्षा की स्थिति यह थी कि देश के लगभग १४ प्रतिशत लोग ही अपना नाम तक लिख पाते थे । यह अनुमान लगाया गया था, कि केवल १९ प्रतिशत बच्चे कक्षा चार तक पहुँच पाते थे । देश की औसत वायु उनतीसवर्ष की थी, जकबि उसकी मृत्युदर १९.७ प्रति हजार थी । देश के बच्चों की औसत मृत्यु दर १४६ प्रति हजार थी । देश की समस्त जनता के लिए चिकित्सकों एवं चिकित्सालयों का अभाव था । अतः उनकी स्वास्थ्य-स्थिति भी ठीक नहीं थी । देश का सामाजिक ढाँचा भी विभिन्न विसंगतियों से भरा था एवं परिवर्तनपेक्षी था। युगीन चेतना से प्रभावित होसमाज में चारों और वैचारिक जागृति के स्वर विद्यमान थे। इन सभी परिस्थितियों की विभिन्न भंगिमाओं के बीच स्वतंत्र भारत का उदय हुआ ।

राष्ट्रीय धरातल पर देश-विभाजन व स्वतंत्रता प्राप्ति परस्पर अनुस्यूत एक घटना-सी लगती है, लेकिन इस जुडवाँ घटना ने देश के जनमानस को अलग अलग आंदोलित एवं प्रभावित किया है । ''किसी भी देश के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति महज एक घटना नहीं होती, यह उस देश के लोगों की अदम्य मुक्ति-कामना, संघर्ष और सामूहिक चेतना का प्रतिफल होती है । स्वतंत्रता के पीछे एक लम्बे संघर्ष का इतिहास रहता है । और यह संघर्ष उस देश की मानसिकता को एक नया अर्थ और आयाम देता है '' स्वतंत्रता-प्राप्ति की ही भाँति ग्राम-चेतना को देश-विभाजन ने भी आंदोलित किया । स्वतंत्रता के लिए लडनेवाले ग्रामीणों ने जातीयता, साम्प्रदायिकता एवं परस्पर-वैमनस्य की कल्पना तक न की थी । लेकिन स्वतंत्रता के बाद उन्हें इन सब का गहरा संस्पर्श मिला ।

आजादी की खुशियाँ मन भी न पाई कि क्य शहर तक क्या गाँव सभी साम्प्रदायिक उन्माद की वैतरणी में डूब गये । गाँवो की साम्प्रदायिकता,उनकी सामूहिकता के विघटन औन उनमें कटुता के प्रसार का दोष देश-विभाजन को जाता है । विज्ञान के नवीन संचारी-साधनों के माध्यम से सारे देश के गाँवो में इस अप्रत्याशित घटना की खबरें तुरंत ही पहुँच गई । गाँवों के हिन्दू-मुस्लिम, जो कल तक एक दसुरे के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होकर सामूहिक जीन जी रहे थे, एक-दूसरे को शक की दृष्टियों से देखने लगे । उनका संशय भी सच्चा था क्योंकि उनके कानों में माँ-बाप से जिछुडे बच्चो की यातनाएँ, अबलाओं की लाज, बहनों के मिटने सिंदूर, माँ की खाली होती हुई गोदों एवं बहनों से छिपे हुए भाइयों की मर्मभेदी घटनाओं की भनक पड गई थी । इस प्रकार ग्राम-जीवन की सहजता और सरलता देश-विभाजन से नष्ट हुई । ग्राम चेतना की इस आंदोलित अवस्था

को उपन्यासकारों ने बडी ही मार्मिकता के साथ अपने उपन्यासों में प्रकट किया है, क्योंकि साहित्यकार अपने परिवेश और संदर्भो की उपेक्षा कर वहाँ की अनुभूत्यात्मक मानसिकता को नहीं उभार सकता ।

➢ नवीन संविधान :

स्वतंत्रता परिवर्ती ग्रामीण भारत के विचारों और भावों में कांति जगाने वाले कारणों में उसका नवीन लोकतंत्रात्मक पद्धति का संविधान भी है, जिसने एक प्रमुख भूमिका निभाई है । संविधान प्रदत्त विभिन्न भौलिक अधिकारों, नीति निर्देशक तत्त्वों एवं उसके धर्म-निरपेक्ष स्वरूप ने गाँव वालो की भी अपने अधिकारों से परिचित कराया है । सदियों से प्रताडित ग्रामीण जनता मुखिया और प्रधान तथा सरकारी अफसरों को ही केवल मात्र शासन तंत्र समझती थी । आज वहाँ राजनीति बोध आ रहा है, वे वयस्क मताधिकार का मतलब काफी सीमा तक समझने लगे हैं, लेकिन अशिक्षा और अज्ञनता के कारण चुनावों में जातीयता की राजनीति प्रायः उभर आती है । ग्रामीण मजदूर शहर में नौकरी करके वापस गाँव लोगते है तो उनके स्वरों में वर्ग-संघर्ष के कुछ स्वर मिले होते है । आज विचार-प्रकाशन, समानता, सम्पति, शिक्षा तथा जीने आधि के मौलिक अधिकार हमें प्राप्त है । शोषक और शोषित एक-दूसरे को पहचानने लगे है । संविधान के धर्म-निरपेक्ष स्वरूप ने निम्न जातियों में स्वाभिमान की भावना केसाथ उन्हें उपर उठने को प्रेरित किया है । निम्न वर्गो के उत्थान-हेतु सरकार ने विभिन्न प्रयत्न किये है । ताकि सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक समता एवं न्याय की भावना को वे भली-भाँति समज सके । संविधान में शिक्षा पाने का अधिकार भी मौलिक अधिकार है । ग्रामीणों में उसके प्रचार एवं प्रसार के लिए विभिन्न योजनाएँ बनाई गयी है । स्कूल खोले गये है । गाँवों में

समाज-विभाग द्वारा रात्रि पाठशालाओं की आयोजना भी की गयी, जिनमें उनके शिक्षा के प्रति रूचि जागृत हो। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ग्रामीणों में उनके स्वत्व एवं स्ववलंम्बन का बोध जगाने में संविधान ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

पंचायत-राज की स्थापना ग्राम जीवन की स्वायतत्ता की और बढता हुआ कदम है, जिससे सत्ता का विकेन्द्रीकरण हुआ । लेकिन ग्राम जीवन में सत्ता के इस विकेन्द्रीकरण ने विभिन्न विसंगतियाँ भी उत्पन्न की है । अधिकार-लोलुपता, स्वार्थपरता, भ्रष्टाचार, भमूल्य स्खलन इसी की प्रभाव परिणतियाँ है । मुखिया और प्रधान के चुनाव में देश के गाँव गाँव को बाँट कर रख दिया है । एक गाँव विभिन्न दलों में बँटकर रह गया है । और वह दलबन्दी ग्रामीण विकास कार्यों की एक बाा सिद्ध हो रही है । विभिन्न सामाजिक अध्ययनों के निष्कर्षो एवं विभिन्न उपन्यासकारों द्वारा अभिव्यक्ति ग्राम-चेतना की यथार्थ भंगिमाओं की यदि इस दिशा में तुलनात्मक समीक्षा की जाय तो दोनों में पूर्ण साम्य है ।

आज संविधानगत कुछ विसंगतियाँ विभिन्न राष्ट्रीय कार्य-व्यपारों के संदर्भ में उभर कर आई है, जिनके कारण देश का बुद्धि-जीवी वर्ग और गाँवों में निम्न वर्ग में एक अकुलाहट पैदा होगई है । नगर के बुद्धि जीवी वर्ग और 'ग्राम' के निम्न वर्ग में वैचारिक समानता का अभाव होते हुए भी दोनों श्रम जीवी है और एक ही व्यवस्था के अंग है । अतः दोनों धी मूलभूत संवेदनाओं में एकरूपता है । देश में आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण, सामाजिक न्याय की अवहेलना एवं जीविकोपार्जन के साधनों का अभाव, हमारी समाज व्यवस्था के वे पक्ष है, जो आज के गतिशील समाज के प्रतिरोधक तत्त्व है । इन प्रतिरोधक तत्त्वों के बारे में हमारे संविधान में कोई प्रावधान नहीं है । अतः सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में संविधान संशोधनपेक्षी

है, क्योंकि राजनीतिक समानता की भावना नहीं है । आज ग्राम जीवन के विविध आयामों में यह माँग अप्रत्यक्ष रूप से वहाँ के जीवन-संबंधी की टकराहटों, विभिन्न सामाजिक विसंगतियों एवं आर्थिक विषमताओं की दूरियों में परिव्याप्रत है । फिर भी नवीन-संविधान नें ग्रामीण में अधिकार-बोध, सामाजिक न्याय की इच्छा, समता की भावना एवं राजनीतिक समझदारी पैदा कर उनकी चेतना की गतिशीलता प्रदान की है ।

➢ पंचवर्षीय योजनाएँ और विकास कार्य :

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् विभिन्न योजनाओं द्वारा आयोजित विकास कार्य-सामुदायिक विकास योजनाएँ, सिंचाइ परियोजनाएँ, भूमि-सुधार, सघन-खेती, सहकारिता, हरितक्रान्ति, कृषि का आधुनिकीकरण, लघु एवं बडे उद्योगों की स्थापना आदि महत्त्वपूर्ण आर्थिक कार्य हैं । इन ठोस एवं बुनियादी आर्थिक कार्यों ने ग्रामीण समाज समग्र जीवन बोध में नयी क्रियाशीलता उत्पन्न की है तथा वहाँ के आथिृक अभावों कोसमाप्त करने का प्रयत्न किया है । हमारी इन विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं का प्रमुख लक्ष्य राष्ट्र का बहुमुखी आर्थिक विकास है । गाँव भारत की अर्थ-व्यवस्था के मुख्य अंग है । अतः इनकी और हमारे राष्ट्रीय नेताओं का सदैव ध्यान रहा है । प्रथम योजना के निर्धारित उद्देश्य से इसकी सत्यता प्रकट है कि ''उसका ध्येय ग्रामवासियों में श्रेष्ठ एवं उच्चस्तरीय जीवन की अदम्य लालसा जगाना रहा गया...। योजनाएँ राष्ट्र के विकास में बढते चरण है, नेहरूजी ने अर्थशास्त्रीयों को उचित ही परामर्श देते हुए कहा था कि ''लोगों को योजनाओं के राष्ट्रीय प्रयत्न में अपने-आपकी साझेदारी की भावना से विनियोग करना होगा । इसी दृष्टि और उद्देश्य से योजनाओं की निर्मित एवं क्रियान्वित आवश्यक है ।''

ग्राम जीवन-संबंधी विभिन्न विकास-मतों पर प्रथम पंचवर्षीय योजना में ९२२ करोड रूपैये, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ११३० करोड रूपैये, तृतीय पंचवर्षीय योजना में १९०० करोड रूपैये, चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ३४७६ करोड रूपैये का व्यय अनुमानित किया गया था । इन ग्राम-विकास योजनाओं में सामुदायिक विकास योजना ग्रामोन्नति का सर्वाधिक मौलिक एवं बृहत प्रयास है । इस कार्यक्रम को यह मानकर प्रारंभ किया गया था कि ग्रामवासी अपने जीवन स्तर को सुधारने के लिए उत्सुक एवं तत्पर है । जहाँ पंचवर्षीय योजनाओं के अन्य कार्यक्रमो ने देश के नव-निर्माण की भौतिक बुनियाद डाली, वहाँ सामुदायिक विकास योजना ने इस निर्माण को सामाजिक एवं मनोवैानिक पीढिका प्रदान की तथा वह 'ग्राम' के मानस एवं सरकार के बीच वैचारिक तारतम्य की कडी सिद्ध हुई, क्योंीक गाँवों में रहनतेवाले सात करोड परिवारों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की, जगाने तथा पहले से अधिक सुखद जीवन के लिए परिश्रम करने का उत्साह भरने की समस्या है। सामुदायिक विकास संस्थाओने ग्रामीणों में वैज्ञानिक प्रविधियों, नयें बीजों, खादों एवं किटनाशक दवाओं के प्रयोग के महत्त्व को समझाने का प्रमुख काम किया है । सहकारिता की भावना ने भी ग्रामीण-परिवेश में आशा-आकांक्षाएँ का संचार किया है ।

सरकारी अभिकरणों द्वारा सस्ते ऋणों ने कृषि में कुछ सीमा तक वैज्ञानिकता को जन्म दिया है । तथा गाँवो में लघु एवं कुटिर उद्योग भी पनपने लगे हैं । कुटीर-उद्योग हमारे ग्रामीण परिवेश की आवश्यकता है, क्योंकि भारत में जनसंख्या अधिक है, पूँजी कम । श्रम और यहाँ पर कोई भी नहीं है । मशीनीकरण का अभिप्राय यहाँ जनशक्ति की उपेक्षा है । सब हाणों को काम दिए बिना नई व्यवस्था का विकास नहीं

हो सकेगा । यह कुटीर उद्योगो से ही संभव है । सरकारी स्तर पर अभी इस महत्ता को शायद गहराई से नहीं विचारा गया है । तथा अभी इस और देश को दीर्ध यात्रा तय करना बाकी है । विान के उन्मेष एवं शैक्षणिक चेतना के विकास ने भी ग्रामीणों की मानसिकता को यथासंभव परिवर्तित किया है । इसी से विकास से सामाजिक अवस्थाओं में परिवर्तन की दिशाएँ स्पष्ट हुई है तथा भूगोल एवं इतिहास की परिधि सिमटती जा रही है और समाज में त्वरित गति से निरंतर परिवर्तन हो रहे है ं।

गाँव इन परिवर्तनों से पूरी तरह प्रभावित हुए हैं । शैक्षणिक चेतना ने प्राचिन संबंधो, मूल्यो, अंधविश्वासों एवं परंपराओ पर प्रश्न-चिह्न लगाये हैं । ग्राम-जीवन में तनाव एवं विघटन इनकी प्रभाव-परिणतियाँ हैं । ''स्वतंत्रता के बाद व्यक्ति के जीवन में जितनी तेज से और जितने बहुमुखी परिवर्तन हो रहे हैं, उतने सम्भवतः देश के इतिहास में पहले कभी नहीं हुए । भारतीय चेतना पर वैयक्तिक और समूहगत स्तरों पर जितने घात-प्रतिघात राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रो में इस दौरान हुए हैं उतने शायद पहले कभी नहीं हुए । ये विविध परिवर्तन ग्राम-चेतना के विविध संदर्भ हैं । जिनके यह परिचालित होती रहती है । इस प्रकाश निश्चय ही कहा जा सकता है कि योजनाबद्ध एवं अन्य विकास कार्यों ने ग्राम-जीवन मं नई संघर्षशील स्थितियों को जन्म देकर नयी मानसिकता का संस्कार किया है।

➢ स्वातंत्र्योत्तर युग में ''ग्राम-चेतना' की अभिव्यक्ति :

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास नें अपनी आुभूतिपरक गहनता एवं समाज सापेक्ष दृष्टि से मनुष्य को उसके विराट एवं यथार्थ परिवेश में देखने, समझने एवं समझाने का तटस्थ प्रयास किया है । उसने समाज की ज्वलन्त समस्याओं, उसके परस्पर अन्तर्विरोधों, जीवन संघर्षो, परम्पराओं एवं मूल्य-विघटनों को उनके प्रामाणिक

संदर्भो में उद्‌घाटित करने का भरसक प्रयत्न किया है। हिन्दी-उपन्यास का यह सामाजिक दायित्व बोध बहुत कुछ हमारी नव प्राप्त स्वतंत्रता से प्रेरित एवं प्रतिबद्ध है । इस काल की श्रेष्ठ कृतियों में उनके रचनाकारों ने जीवनानुभूतियों के यथार्थ मूल्यों को अन्वेषित एवं प्रतिष्ठित किया है ।

आधुनिक युग-बोध से परिचालिन, वर्तमान स्थितियों के प्रति जागरूक इन उपन्यासकारों ने अपनी अनुभूति की प्रामाणिकता एवं अभिव्यक्ति की ईमानदारी से सामाजिक यथार्थ के संवेद्य को सफल कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है । इस युग के कलात्मक प्रदेय का मूल्यांकन डॉ. रामदरश मिश्र ने उचित किया है, ''स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् का साहित्य दो दृष्टियों से विशेष महत्त्व का है - एक तो इसने हर विद्या में जिये हुए जीवन-सत्य पर बल दिया है, दूसरे देश के उपेक्षित अंचलों की और उसकी दृष्टि गई । उपेक्षित अंचलों की और साहित्य का दृष्पिात अनुभव की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण था ही, अपने देश की असली स्वरूप को पहचानने के ख्याल से भी बहुत उल्लेख्य रहा । इक और साहित्य अनुभव की प्रामाणिकता की आवाज उठा रहा था दूसरी और स्वतंत्र भारत में उपेक्षित और महत्त्वहीन माने जानेवाले गाँवों और अन्यान्य अंचलों की महत्ता का उद्देश हो रहा था । दोनो का संगम हुआ आंचलिक कथाओं में ।''

अतः आँचलिक उपनयास स्वातंत्र्योत्तर युग की महत्त्वपूर्ण विद्या है । जिसने साहितय को गतिशील एवं समृद्ध बनाया है । इसके पीछे मूल प्रवृत्ति राष्ट्र एवं समाज की सांस्कृतिक मर्यादा का अन्वेषण रहा है । आँचलिक उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यास-शिल्प को नए संदर्भ दिये तथा गतिशील परिप्रेक्ष्य में अंचल-विशेष की समग्र विशेषताओं को प्रस्तुत कर निश्चय ही एक ताजगी और नयापन दिया है।

इधर उपन्यास की विषयवस्तु और लेखन-प्रक्रिया में एक प्रकार की स्थिरता तथा गतिहीनता की स्थिति को देखकर कुछ लेखकों ने अपने लेखन की पुरानी परिपाटी बदली और नागरिक जीवन की भूमिका को छोडकर दूरवर्ती और विलक्षण रीति-नीति वाली जातियों और स्थितियों के चित्रण को अपनाया । इन उपनयासों की वस्तून्मुखी दृष्टि एवं शैलीगत नव्यता के कारण इन्हें प्राचीन धारा से सरलता से अलगाया जा सकता है ।

ग्राम चेतना की अभिव्यक्ति दृष्टि से ग्रामपरक उपन्यासों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है, एक है - आँचलिक उपन्यास तथा दूसरे हें - अन्य उपन्यास । आँचलिक उपन्यासों ने ग्राम-चेतना की समग्र एवं प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है । जबकी अन्य उपनयासों में प्रसंगवश एवं अप्रत्यक्ष रूप से ही 'ग्राम चेतना' को अभिव्यक्ति मिली है । इन दोनों प्रकार के उपन्यासों को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है ।

➢ आँचलिक उपन्यासों में 'ग्राम चेतना' की अभिव्यक्ति :

प्रस्तुत विषय की सीमा में आँचलिकता का प्रश्न यद्यपि अप्रासंगकि है, फिर भी आँचलिक उपन्यासों के स्वरूप और संरचना को समजना ग्राम-चेतना के समग्रआयामों के उद्‌घाटनार्थ आवश्यक ही नहीं उपयोगी भी हैं । एतदर्थ आँचलिक उपन्यासों के विवेचन से पूर्व यह आवश्यक है कि उसके आारभूमि शब्द 'अंचल' के अर्थ को हृदयंगम किया जाए । 'अंचल' का सीधा और स्पष्ट अर्थ हैँ, 'जनपद' या 'क्षेत्र' जो अपने में एक पूर्ण भौगोलिक इकाई होता हैं । उस अंचल-विशेष के अपने रीति-रिवाज, अपने सुख-दुःख, अपनी जीवन-प्रणाली, अपनी परंपराएँ एवं मान्यताँ होती हैं ।, जिनसे वह गीतशील रहता है । गतिशीलता के एवं वहाँ की जडता के

विविध एवं बहुआयामी संदर्भो के समग्र अंकन में ही आँचलिक उपनयास की शक्ति और सीमा निहित है । अतः आँचलिक उपन्यास एक सीमित अंचल या क्षेत्र विशेष के सर्वांगीण जीवन को जिसमें वहाँ के साधारण-असाधारण विवरण, परिचित-अपरिचित भूमियों का उद्‌घाटन, विविध छवियों-अछवियों का अंकन आदि निहित होता है वस्तूमुखी दृष्टि से रूपायित करता है तथा इसमें रचनाशीलता का नया आग्रह एवं लोकधर्मी भाषा, बोली, उपबोलियों की भी विविध भंगिमाए निहित होती है । अतः यह कहना उचित है - ''आँचलिक उपन्यासों ने अनुभवहीन सामान्य या विराट के पीछे न दौडकर अनुभव की सीमा में आने वाले अँचल विशेष को उपन्यास का क्षेत्र बनाया हैं ।''

हिन्दी उपनयास की आँचलिकता की प्रवृत्ति उसकी अपनी प्रवृत्ति है, जिसका नामकरण एवं प्रारंभ करने का महत्त्व फणीश्वरनाथ 'रेणु' और उनके 'मैला आंचल' को है । पूर्ववर्ती साहित्य में इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति यॉत्कचित् द्रष्टव्य है, क्योंकि कोई प्रवृत्ति अकस्मात जन्म नहीं ले लेती । अतः इसके आधार पर रचित उपन्यासों में तत्वान्वेषण किया जा सकता है तथा अध्ययनगत पूर्णता एवं विविधता लाने के लिए हिन्दीतर भाषाओं और विदेशी भाषाओं में भी इसे खोजा जा सकता हैं । साम्य ढूँढे जा सकते हैं, लेकिन युरोपीय साहित्य में पाप्त 'क्षेत्रीय उपन्यासों' या स्थानीय रंग वाले उपनयासों को ही हिन्दी की आँचलिकता का स्त्रोत और आधार नहीं माना जा सकता । निश्चय ही यह एक अविवेकपूर्ण दुराग्रह है जिसे पश्चिमी अधानुकरण या उस दासत्वपूर्ण हीन-भावना का प्रतिफलन कहा जा सकता है, जिसे अपनी कोई वस्तु बढिया दृष्टिगत नहीं होती । वास्तविकता यह है कि युरोपीय एवं हिन्दी आँचलिक उपन्यासों के जन्म की परिस्थितियों में काफी साम्य है ।दोनों का जन्म

कुत्रिमता एवं शहरी बासीपन से उबरकर हुआ है । ''उपनयास का इतिहास साक्षी है कि जब यूरोप में नागरिक जन्म का चित्रण अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया तक पाठकों को उसमें बासीपन दिखाईदेने लगा । परिणामस्वरूप एशिया और आफ्रिका की जातियों को लेकर उपनयास लिखे गये । ऐसे उपनयास यूरोपीय पाठकों को अवरूद्ध वातावरण में अनेवाली ताली हवा के झोंके के समान प्रतीत हुए ।'' हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों के विषय में पं. नन्ददुलारे वाजपेयी ने लगभग ठीक ऐसा ही अभिमत व्यक्त किया है, ''जब सामाजिक उपन्यास में नागरिक जीवन को चित्रित करते करते उपन्यासकार थक गये और जब पाठकों का समुदाय उन घिसे-पिटे और अंशतः रूढि नागरिक चित्रणों से उब उठा तब नये अज्ञात जीवन और दूरवर्ती प्रदेशों के अपरिचित क्षेत्रों से संबंधित उपन्यास लिखे गये । इसलिए ये उपन्यास विशेष सामान्य नागरिक जीवन या नागरिक जीव नकी प्रतिच्छवि नहीं बनना चाहे।''

आँचलिक उपन्यासों के विषय-क्षेत्र को लेकर कुछ विवादास्पद सी स्थिति बन गयी है । एक वर्ग शहरी मोहल्ले या कस्बों के जीवन को अभिव्यीक्त देने वाले उपन्यासों को भी आँचलिक कहने का आग्रही है, जबकि दूसरा वर्ग ग्राम एवं विशिष्ट अज्ञात अंचलों को ही इन उपन्यासों का विषय`त्र मानता है । पहले वर्ग में राजेन्द्र अवस्थी, क्रांति वर्मा, महेन्द्र चतुर्वेदी, सुरेश सिन्हा आध्ि का नाम प्रमुख है । जबकि दूसरे वर्ग में आचार्य नन्दुलारे वाजपेयी, डॉ. धनंजय वर्मा, डॉ. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, डॉ. हरदयाल, राधेश्याम, कौशिक 'अधीर', प्रकाश वाजपेयी आीध का नाम उल्लेखित है । वस्तुस्थिति यह है कि आँचलिकता में नगर की खींचतान व्यर्थ है । आंचलिक जीवन मुख्यतः ग्रामीण ही होता है कि आँचलिकता में नगर की खींचतान व्यर्थ है । आँतलिक जीवन मुख्यतः ग्रामीण ही होता है और आँचलिक

उपनयास इस स्थानिक यथार्थ की सघनता एवं समग्रता के साथ अनुभव की प्रामाणिकता को लेकर प्रस्तुत हुए हैं । पं. नन्ददुलारे वाजपेयी का मत बडा ही अकाट्य है तथा उससे पूर्ण सहमती है कि ''नागीरक जीवन के चित्र तो क्रमागत सामाजिक उपन्यासों में रहते ही हैं, यदि आँचलिक उपन्यासों में वही वस्तु रखी जाएगी तो इस नई उपनयास विद्या की वस्तुतः सामाजिक उपन्यासों की प्रतिक्रिया में, बल्कि विद्रोह में निर्मित हुए हैं ।''

अतः यह आवश्यक है कि विभिन्न पूर्वाग्रहों एवं दुराग्रहों से मुक्त हो, आँचलिक उपन्यास को स्वातंत्र्योत्तर भारत की प्रमुख विद्या के रूप में दिखा जाए, जिसने ग्राम एवं दूरस्थ अंचलों की संस्कृतियों के समग्र उद्घाटन को वरीयता प्रदान की है । इनमें एक नवीन चेतना की लहर हैं । कुछ कलात्मक एकरूपता देखकर उन नगर-परक उपन्यासों को जो मोहल्ले और कस्बे का रूप उजागर करते हैं, इन उपन्यासों के मध्य नहीं गिना जा सकता, ध्योंकि ये उपन्यास अपने कलात्मक वैभव एवं वस्तून्मुखी दृष्टि से नगरपरक उपन्यासों से बिलकुल भिन्न है । अतः हमारीयह स्पष्ट धारणा है कि आँचलिक उपन्यासों का विषय क्षेत्र ग्राम एवं भारत के वे ही अज्ञात और उपेक्षित अंतल हैं, जिनकी सुध-बुध हिनदी उपन्यासकार को स्वतंत्रता परवर्ती काल में अपनी संस्कृति एवं गौरव के पुनः स्थापनार्थ हुई । आँचलिक उपन्यासों का प्रादुर्भाव पश्चिमी सभ्यता एवं आधुनिकता के कारण हुआ, क्योंकि तत्कालीन उपन्यासों में अनुभूतियों की नग्न एवं अथीन अभिव्यक्ति, मूल्यहीनता, संत्रास, कुंठा, अर्थशून्य बेईमानी, नपुंशक आतंक आदि सभी का दबदबा बढ गया था । यह सत्य है कि ''कला । व्यापक तथा सम्भावनापूर्ण रूप हमें ऐसे आँचलिक उपन्यासों में ही मिलता है, जो विशुद्ध रूप से ग्रामीण है ।'' ग्राम चेतना के विविध

आयामों की आंतरिकता इन उपन्यासों में अनुभूत्यात्मक स्तर पर अभिव्यक्त हुई है।

➢ अन्य उपन्यासों में ''ग्राम चेतना'' की अभिव्यक्ति :

ग्राम-चेतना को अभिव्यक्ति देनेवाले उपन्यासों में आँचलिक उपन्यासों के साथ-साथ कुछ अन्य उपनयास भी आते है। आँचलिक उपन्यासों का स्थान प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही उनका प्रतिपाद्य है। अन्य ग्राम-परक उपन्यासों में ग्राम-चेतना की अभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से हुई है। इस अप्रत्यक्षता के कई स्तर हैं - जैसे कहीं समस्त उपन्यास नगरपरक हैं लेकिन उनमें कुछ पात्र ऐसे नियोजित होते हैं, जो नेपथ्य में बैठे-बैठे भी ग्रामीण दृश्यों को दर्शकों को दिखाते रहते हैं। उनके विभिन्न क्रिया-व्यापार गाँव की मानसिकता को उद्‌घाटित करते रहत हैं। कई ऐसे भी उपन्यास हैं जो अपने शिल्प और पैटर्न में आँचलिकता की रवानगी नहीं रखते, लेकिन गाँव की विद्रुपताओं का अंकन करते हैं। स्वतंत्रता परवर्ती ग्राम-जीवन-परक उन सभी विशिष्ट कृतियों को अध्ययन में लिया गया है, जो ग्राम-जीवन की विसंगतियों को उजागर करते हैं।

अन्य ग्राम-परक उपन्यासों में कुछ ऐसे भीउपन्यास दृष्टि में आये हैं, जो मात्र ग्रामीण परिवेश की विविध विसंगतियों को अपने परिवेश-सृजन के लिए स्वर देते हैं। उनके कथानकों में आये प्रसंग वस्तुतः कथा प्रसंगानुसार स्वतः आ जाते हैं, जिन्हें जाने-अनजाने अपनीनियति यंत्रणा झेलनी पडती है। इन उपन्यासों में आंचलिक उपन्यासों की संवेदनात्मक गहराई नहीं है और न रचनाशीलता की दृष्टिगत होती है। फिर भी इन उपन्यासों का अध्ययन ग्राम-जीवन की समग्रता और उसकी चीतना को पहचानने में सहायक है।

ग्राम-चेतना की समग्र भावधारा एवं उसके विभिन्न आयामों को ग्रामपरक

आंचलिक एवं अन्य उपन्यासों में अन्वेषित किया जा सकता है । इन्ही उपन्यासों नें ग्राम-जीवन की बुनियादी गहराईयों को उजागर कर उन्हें नई एवं पुरानी दोनों शैलियों में स्वर दिए हैं । इन सामान्य एवं विशिष्ट उपन्यासों में, भूभागों में माध्यम से उभरती हुई ग्राम चेतना के अंतर्गत स्वतंत्रता-परवर्ती राष्ट्रीय धरातल पर घटने वाली विभिन्न घटनाओं की प्रभाव परिणतियाँ द्रष्टव्य हैं ।

स्वतंत्रता के पश्चात् इन उपन्यासकारों कीचेतना इन अज्ञात अंचलों की और मुडी तथा वहाँ के परिवेश के फूल और शूल, चन्दन और धूल, सहजता-असहजता, सुन्दरता-असुन्दरता आदि सभी के जटिलतापूर्ण चित्र प्रस्तुत किए । जटिलताएँ स्वाभाविक है । ''प्रत्येक भूभाग की मिट्टी की एक खास महक होती है और उस मिट्टी से पनपी हुई वनस्पतियों के पत्ते-पत्ते और फूल-फूल में एक विशेष गंध होती है । उसी के अनुरूप वहाँ के समस्त जीवधारियों, मानव प्राणियों में भी अपनी एक अलग मनःस्थिति या गंध होती है जो किसी अन्य भूभाग में उगे हुग फूल-पत्तों और प्राणियों की गंध से भिन्न होने के कारणे अपनी एक विशिष्टता रखती है । यह गंध उस देश के निवासीयों की भाषा, आचार-विचार तथा मानसिकता में प्रतिबिम्बित होती है ।'' ग्राम व्यक्तित्व की यही माटी की महंक उपन्यासकार की अनुभूतियाँ बनकर, उस परिवेश की अभिव्यक्ति कराती हैं । ''आंचलिक उपन्यास असाधारण एवं अपिरिचित समाज को प्रस्तुत करता है । वह सामाजिक विषमताओं का दिग्दर्शन कराकर उनसे मुक्त होने का संदेश देता है । वह लघु-क्षेत्र में राष्ट्र की समस्याओं को धनीभूत रूप में संस्थित करता है । वह काल-विशेष एवं स्थान-विशेष के इतिहास को मार्मिकता की ध्वनि प्रदान करता है । बूँद-बूँद से समुद्र का निर्माण होता है, इसी प्रकार आँचलिक उपन्यासों के द्वारा हमें एक-एक करके भातीय

भूमिखण्डों का विस्तृत वृत्त मिल जाता है । वह जाति में नई चेतना तथा भावना का संचार करता है । स्व्च्छन्द, सुखी तथा मुक्त जीवन की झाँकी इस विद्या की अपनी उपलब्धि है ।''

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि ग्राम-चेतना की अभिव्यक्ति के प्रामाणिक स्तर क्या हैं ? साहित्य में अनुभव की प्रामाणिकता का प्रश्न, एक जीवन्त प्रश्न है । यह अनुभव की प्रामाणिकता यथार्थ से ही जुडी एक संकल्पना है । ग्राम-जीवनपरक इन उपन्यासों में ग्राम-चेतना की प्रामाणिकता के भी दो स्तर हैं, जोकि दो तरह के उपन्यासों पर आधारित हैं । एक तो वे उपन्यास हैं जो ग्राम-जीवन परक हैं तथा जिनका सृजन उन लोगों ने किया है जिनका उस भूमि से प्रत्यक्ष संबंध रहा है । दूसरे वे उपन्यास हैं जिनमें भात के अज्ञात अंचलो का उद्‌घाटन हुआ है, तथा जो प्रत्यक्ष भारत में होते हुए भी न हुए के बराबर हैं । इन अंचलों के उनके लेखकों का वैसा धनिष्ठ संबंध नहीं जैसाकि प्रथम प्रकार के ग्राम-जीवनपरक उपन्यासों के लेखको का उस परिवेश सीधा, प्रत्यक्ष और दीर्घ लगाँव रहा है ।

दूसरी कोटि के उपन्यासों में वे उपन्यास समाविष्ट होते हैं, जिनकी कथावस्तु उन सुदूर स्थिति विभिन्न क्षेत्रों एवं उनकी जनजातियों से संबंधित है जो उन साहित्यकारों के अपने नहीं हैं, लेकिन सायास उन्हें अपनाकर अपनी लेखनी का विषय बनाया है । यद्यपि कला का सायास रूप मौलिक उद्‌भावनाएँ नहीं दे पाता, लेकिन उनकी साधना कम मूल्यवान नहीं । हमारे इन उपन्यासकारों ने दीर्घ यात्राएँ कर विभिन्न यातनाएँ सहकर अथक प्रयत्नों से उनकी भाषा, बोली, मुहावरे आदि का बडे मनोयोग से अध्ययन किया है तब कहीं जाकर उनके रीति-रिवाजों, उनके उत्सव-त्यौहारों, उनके व्यवसायों, एवं उनकी कार्य पद्धतियों आदि का गहरा

साक्षात्कार कर पाये हैं । अतः साहित्य भी इन नवीन भंगिमाओं के पीछे साधना की अविरल कडी है । देश की विभिन्न प्रांतो के इस नवीन साहित्योदघाटन के रूढ मान्यताओं को तोड, अज्ञान के अंधेरे को नष्ट किया है ।

➢ ग्राम चेतना के विविध आयाम

ग्राम चेतना का स्वरूप, महत्व तथा साहित्य और समाज से उसके सम्बन्ध के बारे में देख लेने के पश्चात हमारे लिए यह अतिआवश्यक बनता है कि उसके विविध आयामों पर भी प्रकाश डाला जाय, क्योंकि नागार्जुनजी के सभी उपन्यासों का पूर्णत: अध्ययन हमें ग्राम चेतना के इन आयामों के आधार पर करना है । भारतीय ग्रामीण परिवेश अनेक विविधताओं से सभर हैं, अत: ग्राम समुदाय के परिवेश की जीवंत मानसिकता ही ग्राम चेतना है जो हमें गाँवों की 'आज' का परिचय देती है । गाँव रहन-सहन, तौर-तरीके, सोचने के अलग-अलग ढंग, रीति-रस्मे, परंपराएँ-मान्यताएँ तथा जीवन जीने के अपने अलग-अलग तरीके आदि की द्रष्टि से कुछ भिन्न प्रतीत होते हैं । उनकी इन भिन्नता अनेक जटिलताओं से भरी हुई हैं, इसलिए हमें ग्राम्यजीवन की उचित जानकारी के लिए इन जटिलताओं से जुझकर उन भिन्नताओं के रहस्यों का स्पष्ट विवेचन करना होगा । इन विवेचन के लिए हम ग्राम चेतना को मुख्यत: चार आयामों में विभाजित कर सकते हैं, जो निम्नत: है-

➢ ग्राम चेतना का राजनीतिक आयाम

ग्राम चेतना का राजनीतिक आयाम राजनीति से परिचालित है, अत: राजनीति और रणनीति दोनों में व्यक्ति को दक्ष होना चाहिए अन्यथा मूँह की खानी पडती है। 'राजनीति' अर्थात् व्यक्ति या व्यक्ति समूह के द्वारा संघर्ष या सहयोग के माध्यम से

सत्ता के इस्तेमाल के लिए प्रयत्नशील गत्यात्मक गतिविधि । राजनीति से प्रेरित एवं परिचालित राजनीतिक चेतना ग्राम्य परिवेश की परिवर्तित-अपरिवर्तित क्रियाशील मानसिकता है । राजनीति मलीन चीज मानी जाती है ऐसी राजनीति का गाँवो से कोई लगाव नहीं होता, फिण भी ग्रामों में कुछ परिवर्तन के साथ राजनीतिक चेतना क्रियाशील रही है जो राजनीति से प्रेरित और परिचालित है । राजनीति के विषय में गाँवो को सरल और सहज मानते हुए शहरों को राजनीति के अखाडे कहे गये हैं, लेकिन यह बात आज वर्तमान समय में सत्य प्रतीत नहीं होती क्योंकि स्वाधीनता संग्राम में शहरवालों के साथ-साथ गाँववालों ने भी कन्धे से कन्धा मिलाकर स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन किये थे, अपना योगदान किया था । स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीतिक चेतना के बीज गाँवों में बहुत ही फूलेफले और वहाँ राजनीतिक चेतना की लहर दौड आयी जिसमें वयस्क मताधिकार, पंचायती राज्य, संविधान के धर्म निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक स्वरूप आदि अनेक राजनीतिक कार्यों में लोगों ने अपना पूर्ण सहयोग और समर्थन दिया, किसानों और मछुओं तथा मजदूरों ने सभाएँ भरकर अपना संगठन मजबूत किया । इस प्रकार गाँव की प्रजा जागरूक होने लगी और अपने अधिकारों को जानने लगी । उनको यह पता चल गया कि अगर अपने अधिकार चाहिए तो अपना संगठन बनाओं और संघर्ष करो । जो केवल मूक बनकर अत्याचार सहने के आदी हो गये थे उनके मुँह में नये स्वर और शरीर में नया जोश उभरकर आया । आज इसी चेतना की वजह से ही हमारे देश में किसी न किसी प्रकार के आन्दोलन चल रहे हैं । ग्राम जीवन में उत्पन्न ऐसी राजनीतिक चेतना का समसामयिक परिवेश में अत्यंत महत्व रहा है, इस सम्बन्ध में ए.आर.देसाई ने भी कहा है- "In fact in growth of political consciousness among present

population and their increasing political activity are striking features of political life of man kind today" अर्थात् 'वास्तव में ग्रामीण कृषकों के मध्य उत्पन्न राजनीतिक जागरुकता और अनेक दिनोंदिन बढते हुए राजनीतिक क्रिया-कलाप आज के मानवीय राजनीतिक जीवन के महत्वपूर्ण पहलू है ।' इस प्रकार राजनीति की द्रष्टि से शहर की भीति गाँव भी आज चेतनवंत हो गये है इसलिए ग्राम चेतना का राजनीतिक आयाम ग्रामीण चेतना का पहला कदम माना जा सकता है।

➢ ग्राम चेतना का सामाजीक न्याय

सामान्य रूप से सामाजीक चेतना का मतलब मानव-समाज में देश-काल से सम्बन्धित परिवर्तन माने जाते हैं । जीवनगत अभावों, जडताओं, सामाजीक संगतियों-विसंगतियों, जीवन मूल्यों एवं विश्वासों आदि की अदभूत क्रियाशील मानसिकता को ग्राम जीवन की सामाजीक चेतना कहते हैं, अर्थात् ग्राम चेतना के सामाजीक आयाम में ग्राम्य जीवन की सामाजीक स्थिति में हुए बाह्य और आंतरिक बदलाव को नजर अंदाज किया जाता है । एक बात जरूर है कि व्यक्ति से परिवार बनता है फिरा परिवार से समाज और यह समाज एक और कुटुम्ब है तो दूसरी और विश्वव्यापी मानव समूह और यहीं मानव समूह आज राष्ट्र मात्र नहीं है बल्कि अखिल विश्व समाज का रूप धारण कर चुका है । उसमें एकता नहीं है, वह छिन्न-भिन्न है फिर भी समाज है क्योंकि वह अपनी विकासात्मक यात्रा में विभिन्न पडावों से गुजरते हुए स्थान और कला विशेष में देश विशेष के जीवन के समस्त मूल्यों से बँधा हुआ है। लेकिन आज ग्राम जीवन नैतिक मूल्य की द्रष्टि से हीन होता जा रहा है क्योंकि उसमें नगरीय जीवन की सडांध धुस गई है । प्राचीनकाल का इन्सान जो अकेला ही रहता था, कुछ परिवर्तन से वह परिवार में रहने लगा फिर आज वह परिवार में

रहता है लेकिन अपने माता-पिता तथा भाईचारें से अलग होकर अपनी पत्नी-संतान के साथ रहता है । गाँवों में पहले लोग बडे परिवारों में एकजुट होकर रहते थे, आज यह मुश्किल हो गया है । पहले दया, ममता, ईमानदारी थी, आज कुछ अंश में ही मिलती है । इस प्रकार ग्रामीण समाज अपनी सहजता खो बैठा है और झूठ, फरेब, अनीति, भ्रष्टाचार आदि ने गाँवों की आत्मा को डँस लिया है । कई स्तर पर गाँवों में सामाजीक द्रष्टि से बौधिक चेतना आई है किन्तु इसके साथ-साथ तरह-तरह के अन्धविश्वास और रूढियों को भी स्थान मिला है तथा मनुष्य मन से संकुचित भी होता जा रहा है । इस प्रकार ग्राम-स्वरूप के परिवर्तन के बारे में बताते हुए डॉ. रामदरश मिश्रने कहा है कि- 'गाँवों का स्वरूप भी बहुत कुछ बदल गया है । वहाँ के भी जीवन-मानों में, शहरी मानव-मानों का संक्रमण हो रहा है । परम्परा और प्रगति, अन्धविश्वास और विज्ञान, स्वार्थलिप्सा और सरलता का संघर्ष गाँवों की जीवनस्थिति को नई भंगिमा प्रदान कर रहा है ।

स्वतंत्रता के पश्चात् ग्राम्य जीवन में काफी बदलाव आया है । गाँवों की सामाजिकता कृत्रिम बन रही है और ग्रामीण समाज परिवर्तित एवं अपरिवर्तित संक्रमण की स्थिति में फँस गया है । गाँव आर्थिक द्रष्टि से पहले से अधिक समृद्ध हुए हैं लेकिन सामाजीक चेततना की द्रष्टि से खोखले होते जा रहे है क्योंकि शहरी मूल्यों से ग्राम-जीवन प्रभावित हो रहा है जिससे संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं और लोग शहर की ओर दौड रहे हैं । इसी कारण गाँवों में सुरक्षित मानव मूल्यों का भविष्य अंधकारमय हो रहा है । डॉ. विवेकीराय की इस सम्बन्ध में कहना है कि- 'वर्तमान सामाजीक तथा राजनीतिक अराजकता तथा स्वार्थपरता ग्रामजीवन को दीमक की तरह खा रही हैं । स्वातंत्र्योतर दों दशक के उलझाव के बाद

सामाजिक संक्रान्ति को सही दिशा मिलने के लक्षण कृषि क्रान्ति के बाद यद्यपि शनै शनै: दृष्टिगोचर होने लगे है । परंतु पृष्ठभूमि में मात्र आर्थिक विकास उद्योग और यंत्र प्रसार होने से गाँवों में सुरक्षित मानवीय मूल्यों का भविष्य अंधकाराच्छन हो जाना, संभवित प्रतीत होता है ।'

इस प्रकार सामाजीक चेतना में व्यक्ति और समाज एक दूसरे से जुडे हैं तथा दोनों में गहरा संबंध है, पर व्यक्ति की सत्ता पहले है, समाज की बाद में मानव समाज का आधार व्यक्ति इकाई है, इसलिए ग्राम चेतना के सामाजिक आयाम में वैयक्तिक चेतना का भी अपना स्थान है ।

➢ ग्राम चेतना का आर्थिक आयाम

ग्राम चेतना के आर्थिक आयाम का सम्बन्ध 'अर्थ' से रहा है । अर्थ अर्थात् धन, रूपये आदि । इस 'अर्थ' सम्बन्धी चेतना को आर्थिक चेतना कहते हैं । 'अर्थ' देश की सबसे भयानक समस्या है । प्रत्येक युग 'अर्थ' चेतना से प्रभावित रहा है। हमारे जीवन मूल्यों का निर्माण इसी 'अर्थ' पर निर्भर है । इस प्रकार ग्राम-जीवन की अर्थ व्यवस्था सम्बन्धी विभिन्न स्थितियों, समता-विषमता तथा समस्याओं एवं समाधानों के बीच रही क्रियाशील मानसिकता को आर्थिक चेतना कहते हैं । आज भारत ही नहीं पूरा विश्व अपनी आर्थिकता को लेकर चिंतित है । हमारे देश की आर्थिक असमानता दो वर्गो के बीच की है- शोषित वर्ग और शोषक वर्ग । यह आर्थिक असमानता असंतोष और विद्रोह की जननी है ।

भारतीय जनजीवन की अर्थव्यवस्था को झकझोरने का कार्य धार्मिक मान्यताओं तथा सामाजीक विषमताओं ने किया है । सामाजिक विषमता का मूल अर्थ ही है और इसके कारण ही अर्थव्यवस्था में उच्च, मध्यम और निम्न या सामान्य, इस

प्रकार से तीन वर्ग विभाजित हुए है । इसमें जो पहले से धनवान थे वे अधिक धनवान होते गये और सामान्य अभावग्रस्त वर्ग और दीन होता गया है । दिन-प्रतिदिन बढती जाती महँगाई में सामान्य जनता अपने जीवनयापन के लिए सोच रही है जबकी धनी वर्ग धन का व्यय कैसे किया जाय यह सोच रहा है । दूरवर्तीपर्वतीय जनपदों में रहती जनता आज भी अनेक अभावों से संघर्ष कर रही है । इस प्रकार सामान्य वर्ग को दो वक्त का खाना नसीब नहीं हो रहा है जबकि उच्च वर्गको खाना हजम नहीं होता है तो हाजमा लेना पडता है । ऐसी स्थिति में विद्रोह का बोध होना स्वाभाविक है ।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय गाँव आर्थिक द्रष्टि से समृद्ध हुए हैं किन्तु इस बढती समृद्धि ने भी उनका असंतोष बढाया है । इसका एक कारण आर्थिक असमानता माना जाता है । गाँवों में माँगो की वृद्धि होने से गाँव का आर्थिक जीवन जो पहले स्वावलम्बी था वह आज परावलम्बी हो गया है । गाँव का जन-जीवन आज टूटता जा रहा है तथा गाँवों के लोग आजीविका के लिए शहर की ओर जा रहे हैं । देश के विकास हेतु सरकार की ओर से अनेक पंचवर्षीय योजनाएँ हुई हैं और हो रही है, जिसमें गाँवो को लक्षितकर भी कृषिसुधार सम्बन्धी योजनाएँ, जमीदारी- उन्मूलन, कुटिर उद्योग आदि अनेक योजनाएँ हुई है फिर भी गाँवों में अंशत: परिवर्तन हुआ है । गोकुल ग्राम योजना में गाँवों के विकास को ही प्रमुखता देते हुए गाँवों को पक्की सडकें तथा बिजली और पानी देने के प्रयत्न हो रहे हैं किन्तु आज भी देश के कई गाँव ऐसे है जिसमें पक्की सडके न होकर धूल उडाती राहे हैं और बिजली की व्यवस्था भी पूर्ण मात्रा में नहीं है । जमीदारों की शोषणवादी प्रतिक्रिया आज भी कुछ गाँवों में जीवित है और कृषि में सम्बन्धित नये वैज्ञानिक साधनों के अविष्कारों से

बेरोजगारी पनपी है, जिसके कारण गाँवों में निर्धनी और बेरोजगारों की तादाद बढ रही है । उनके सामने समस्याओं, आवश्यकताओं और अभावों की भीड खडी है जबकि उनकी आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी नही है । इस प्रकार आर्थिक चेतना अनिवार्य चेतना के रूप में उभरी है ।

➢ ग्राम चेतना का धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयाम

ग्राम चेतना का धार्मिक एवं सांस्कृतिक आयाम धर्म एवं संस्कृति से परिचालित है। धर्म एक शक्ति और विश्वास है और वह काम, क्रोध, लोभ आदि से हमारी रक्षा कर हमें नैतिक बल प्रदान करता है तो संस्कृति हमें काम करने का ढंग, तौर-तरीके, आचार-विचार, रहन-सहन आदि का परिचय देती है । इसलिए धर्म और संस्कृति को अलग बताना ग्रामीण परिवेश में संभव नही है बल्कि उसे हम एक दूसरे के पूरक बता सकते है । इस प्रकार ग्राम-जीवन के विविध पक्षों में धर्म के परिवर्तित-अपरिवर्तित रूपों, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं, विभिन्न उत्सवों एवं त्यौहारो आदि की गतिशील मानसिकता को धार्मिक एवं सांस्कृतिक ग्राम चेतना कहते हैं ।

धर्म और संस्कृति के मूल्यों की विशेषताएँ गाँवों में ही मिलती है । पिछले दशक से जब पाँचो तत्वों के द्वारा प्रलय की आँधी चल रही है तब गाँवो और शहरों में धार्मिक वातावरण का कुछ अंश हमें देखने को मिलता है । गाँवों में इसकी मात्रा ज्यादा होती है, लेकिन वर्तमान समय में तो गाँवो को भी पश्चिमी सभ्यता ने घेर लिया है बल्कि शहर की मात्रा में कम । वे भारतीय संस्कृति को भूलते जा रहे है। नयी पीढी के ज्यादा पढे-लिखे व्यक्ति अपनी संस्कृति की अवहेलना करते हैं, इतना ही नही पुरानी पीढी जब अपनी संस्कृति में रूचि रखती है तो उन्हें गमार मानते

हुए उनका अपमान भी करते हैं । आज भारतीय पुरानी संस्कृति का रूप कुछ मात्रा में ज्यों का त्यों, दूर-सुदूर में पर्वतीय अँचल में बसी आदिवासी प्रजा में ही देखने को मिलता है । शिक्षा का प्रसार भी धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण को कलुषित कर रहा है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का दर्पण ग्राम जीवन परिवेश और ग्राम संस्कृति का दर्पण ग्रामीण परिवेश तथा ग्रामीण संस्कृति है । इस प्रकार पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव, शिक्षा का प्रसार, शहरी प्रभाव आदि के कारण लोग अपने आपको आधुनिक महसूस कर रहे हैं । यहीं आधुनिकता का चोला पहनकर हमारा व्यक्तित्व दोहरा हो गया है । डॉ. सुरेश सिन्हा का मत भी इस बात की पुष्टि करता है- 'आधुनिकता की विडम्बना यह है कि इसने हमें दोहरा व्यक्तित्व दे दिया है । घर पर हम घोर धार्मिक, परम्परावादी, नैतिकतावादी एवं रूढ होते हैं, पर घर से बाहर हम प्रगतिशील होने, नारी की स्वतंत्रता का पक्षपाती होने और अछूतों के साथ समानता स्थापित करने की हवाई बातें करते हैं ।' इस प्रकार आधुनिकता के प्रवाह से जीवन मूल्यों का खण्डन हुआ है तथा गाँव का जीवन स्वार्थी और प्रपंची हो गया है । अत: धर्म और संस्कृति प्रगतिशील समाज के अभिन्न अंग है ।

इस प्रकार ग्राम चेतना के विविध आयामों के अध्ययन से यह पता चलता है कि नये परिवर्तनशील स्वरों, तनावों एवं नये संक्रमणशील ग्राम-समाज की उत्पति हमारी राष्ट्रीयता की देन है । राष्ट्र से लेकर ग्राम तक जो सुधारवादी योजनाएँ हो रही हैं इनके गाँवो की अपेक्षाओ और मान्यताओं में बदलाव हो रहा है । इस सम्बन्ध में श्री एम.एन.श्रीनिवास कहते हैं कि- 'भारतीय ग्रामीण समुदाय में जो परिवर्तन हुए है, उनके परिणाम स्वरूप उसका अधिक व्यापक आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक और धार्मिक व्यवस्थाओं से अधिक प्रभावी एकीकरण हुआ है । पिछले कुछ दशकों

में, विशेषकर दूसरे महायुद्ध के बाद सें, ग्रामीण संचार-साधनों में व्यापक सुधार, राष्ट्रीय से लेकर ग्राम तक विभिन्न स्तरों पर सर्वव्यापी बालिग मताधिकार और स्वशासन का प्रारम्भ, अस्पृश्यता का उन्मुलन, देहाती जनता में शिक्षा की बढी लोकप्रियता और सामुदायिक विकास योजना- इन सबसे गाँववालों की आकांक्षाएँ और धारणाएँ बदलती जा रही है ।'

इस प्रकार ग्राम चेतना के द्वारा ग्रामों के साथ हुए अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई जा सकती है तथा ग्रामों को राजनीतिक, सामाजीक, आर्थिक तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना की द्रष्टि से समृद्ध करने का प्रयत्न किया जा सकता है । प्रगतिवादी नागार्जुन ने यहीं किया है ।

द्वितीय अध्याय
हिन्दी के ग्रामीण चेतना संबंधित उपन्यास: परम्परा और प्रगति

इतिहासकार अधिकतर एक मत नहीं होते । इसीलिए हिन्दी के पहले ग्रामीण उपन्यास का निर्धारण अत्यंत कठिन कार्य है । १९५४ में 'मैला आंचल' के प्रकाशन से इस नवीन विधा का सुत्रपात माना गया, परन्तु इससे पूर्व के ग्राम्य कथा साहित्य में इसके बीज विद्यमान थे । जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी की 'बसन्त मालती' (१९१९) हरिऔध का 'अधखिला फूल' (१९०७)शिवपूजन सहाय का 'देहाती दुनिया' (१९२६) मन्नन द्विवेदी कृत 'रामलाल' (१९१४) वृंदावन लाल वर्मा का 'मृगनयनी', प्रेमचंद का 'गोदान' इत्यादि अनेक उपन्यासों में ग्रामीण जीवन की प्रवृति की उद्‌भावना देखी जा सकती है परन्तु इसका स्वस्थ एवं पूर्ण विकसित विकास स्वातंत्र्योत्तर युग 'मैला आंचल' के प्रकाशन के पश्चात् तो इसके एक रूप धारण कर लिया । प्रेमचंद के उपन्यासों में स्थानीय गहरा है कि कुछ विद्वानों ने निसंकोच इन्हें आंचलिक उपन्यास की लिया है। प्रेमचंद ग्रामीण जीवन के चितेरे माने गये हैं। ग्रामीण जीवन का परदर्शी चित्र साकार करनेवाले वे प्रथम व्यक्ति थे । इतना सब होते हुए भी उनके उपन्यास आंचलिक नहीं माने जा सकते क्योंकि गांव का चित्रण करना उनका नहीं था । साधन भर था । 'गोदान' में किसी विशेष गांव का नहीं अपितु ग्रामांचलों का चित्रण एक साथ हुआ है। प्रेमचंद के समय में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन अपने उत्कर्ष पर था । अत: उनके उपन्यासों में राष्ट्रीयता का महत्व अधिक मिलता था । प्रेमचंद आदर्शवासी भी थे । गांव की

बहुत सी असलियत वे इसी कारण स्पष्ट रूप से नहीं लिख सके, दूसरे गांव के प्रत्येक कोण का सजीव चित्रण करने का अवकाश उनके पास नहीं था क्योंकि उनकी समस्या राष्ट्रीय आंदोलन को बल देने की अधिक थी । किन्तु प्रेमचंद का दृष्टिकोण पर्याप्त हीं है और केवल शोषण का आर्थिक पहलू ही देखना काफी नहीं है । जहां प्रेमचंद के जमाने में कृषकों के शोषण और परेशानियों का एक मात्र केन्द्र जमींदार होता था, वहां देश की स्वतंत्रता के बाद वह केन्द्र एक से अनेक हो गये हैं । जमींदारी उन्मूलन के बाद दलबंदिया बढी हैं । शोषण और भ्रष्टाचार का रूप बदला है । परन्तु ऐसा नहीं हुआ कि उसके अनुपात में कोई अंतर आया हो। स्वातंत्र्योतर भारतीय जीवन का यथार्थ जटिल एवं बहु आयामी था और आंचलिक कथाकारों ने अलग-अलग स्तरों पर इस यथार्थ को संवेदनात्मक संस्पर्श से रेखांकित किया है । वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यासों में बुंदेलखंड का सामान्य जन-जीवन चित्रीत है परन्तु यह चित्रण स्थानिक रंगत और भौगोलिक परिवेश की सजीवता के लिए किया गया हैं । उनका उदेश्य अंचल को रुपायित करने का कतई नहीं था, भौगोलिक पृष्ठभूमि को प्राणवान बनाने के लिए ही प्राकृतिक परिवेश की सर्जना की गई है । कोहबर की शर्त, गंगा मैया, रामलाल इत्यादि उपन्यासों में भी आंचलिकता का एक तत्व के रूप में बखूबी प्रयोग हुआ है । इन उपन्यासों में आंचलिकता के तत्व अपरिपक्व रूप में विद्यमान है इसीलिए कभी-कभार ये उपन्यास आंचलिक उपन्यास होने का अहसास दे जाते हैं परन्तु वास्तव में वे प्रादेशिक अवश्य है पर आंचलिक नहीं। वास्तव में, भारतेन्दु युग में इसका बीज वपन हुआ, प्रेमचंद युग में अंकुरण और पल्लवन हुआ प्रेमचंद युग के बाद ।

शुद्ध आंचलिक उपन्यासों का आरंभ नागार्जुन से माना जाता है, हालांकि रेणु

ने सर्वप्रथम इस नवीन विधा का विविधवत् नाामकरण किया । डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में- 'आंचलिक संज्ञा का आविष्कार फणीश्वरनाथ रेणु द्वारा उनके 'मैला आंचल' (१९५४) की भूमिका में हुआ, किन्तु इस परंपरा का सूत्रपात इससे पूर्व ही नागार्जुन के उपन्यासों द्वारा हो चुका था । प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गोदान' आदि को तथा वृंदावन लाल वर्मा के अनेक उपन्यासों को भी इस परंपरा में स्थान दिया जा सकता है- 'किन्तु उनमें आंचलिकता को इतना अधिक महत्व नहीं दिया गया- जो कि परवर्ती उपन्यासों की विशिष्टता का द्योतक है । इसीलिए विशुद्ध आंचलिक उपन्यासों की परंपरा नागार्जुन से ही शुरू होती है ।'

कुछ विद्वानों ने मन्नन द्विवेदी के रामलाल तथा शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' जेठानी की कहानी (पं.गीरी दत्त) को भी हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास कहा गया है । 'बहती गंगा' में नागरिक समस्याओं का प्रधान्य है तथा 'देवरानी जेठानी की कहानी में स्थानीय बोली के अतिरिक्त अन्य कोई आंचलिक तत्व नहीं मिलता । अत: मात्र बोली के आधार पर किसी कृति को आंचलिक ही माना जा सकता ।

परन्तु कई आलोचकों का मत है कि मात्र स्थानीय रंगत या आंचलिक तत्वों का समावेश होने से ही कोई उपन्यास आंचलिक नहीं कहला सकता । यही आंचलिक उपन्यास की यही कसौटी है तो प्रेमचंद तथा अन्य ग्रामीण कथाकारों के सभ उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास की कोटि में रखना पडेगा, क्योंकि ग्राम्य जीवन पर आधारित उपन्यासों में कोई एक आध उपन्यास ही ऐसा निकलेगा जो स्थानीय रंगत से अछूता हों । यही कारण है कि कुछ समीक्षकों को भ्रम हो गया कि वृंदावन लाल वर्मा के उपन्यास ऐतिहासिक है और उसकी पृष्ठभूमि में बुंदेलखण्ड का सजीव

चित्रण किया गया है जो प्रादेशिक तो अवश्य है परन्तु आंचलिक नहीं । डॉ. रामविलास शर्मा ने ठीक ही कहा है- 'उनके उपन्यासों में बुंदेलखण्डीहपन खूब है, लेकिन मैं उन्हें आंचलिक उपन्यासकार न कहूँगा ।'

समीक्षकों ने वृंदावन लाल वर्मा की अपेक्षा नागार्जुन को ही प्रथम आंचलिक उपन्यासकार के रूप में ग्रहण करने पर अधिक बल दिया है । नागार्जुन एक समाजवादी कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित है । यद्यपि उन्होंने आंचलिकता की दृष्टि से कभी नहीं लिखा परन्तु फिर भी अनायास ही उश्रके समाजवादी उपन्यासों में आंचलिक रंग अधिक गहरा एवं व्यापक है । डॉ. आदर्श सक्सेना मानते हैं- नागार्जुन के उफन्यासों में यदि भाषा-शैली तत्व को छोड दे तो शायद आंचलिक न लगे ।' उश्रकी कथा एक विशिष्ट अंचल से ली गई है परन्तु फिर भी उस आंचल की समूची संश्लिष्ट जिंदगी भी अभिव्यक्ति उसमें नहीं होती । इन सभी तकों के बावजूद भी हिन्दी की आंचलिक उपन्यास परंपरा में उनके योगदान को नकारा नहीं जा सकता॥ इसी कारण समीक्षकों के बीच फणीश्वर नाथ रेणु के 'मैला आंचल' की हिन्दी के पहले आंचलिक उपन्यास का गौरव देने की मान्यता लोकप्रिय रही है । 'मैला आंचल' में आंचलिक उपन्यास की श्रेण्य विशेषताएँ एकत्र हैं, लेकिन इसके सूत्र १९२६ में प्रकाशित शिव पूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' में लक्षित होते हैं । डॉ. श्यामसुन्दर घोष के अनुसार- 'इसके लेखक ने इसे 'उपन्यास' न कह कर ठेठ देहात का औपन्यासिक चित्र' कहा है । इसलिए, इसका मूल्यांकन एक प्रेमचंदयुगीन उपन्यास मान कर जो आंचलिक उपन्यास के रूप में किया जाना समीचीन है ।' यदि किसी आंचलिक उपन्यास में बोली, संस्कृति और रीति-रस्म की क्षेत्रीय जीवंतता नहीं है, तो वह आंचलिक उपन्यास होने का दावा नहीं कर

सकता । इस कसौटी पर 'देहाती दुनिया' एक आंचलिक उपन्यास-हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास है ।

➢ हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों की परम्परा

१९२६ में प्रकाशित शिव पूजन सहाय के उपन्यास 'देहाती दुनिया' से हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का श्रीगणेश हुआ और १९५४ में प्रकाशित फणीश्वर नाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आंचल' से, आंचलिक उपन्यास, की चर्चा बहस में आई । स्पष्ट है कि १९२६ में प्रारम्भ होने के बावजूद हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों का वास्तविक विस्तार १९४७ के बाद ही उपस्थित हुआ । इसी दौर में साकार हुआ कि आंचलिक उपन्यास कथा साहित्य की एक विशिष्ट विधा है । 'आंचलिक उपन्यास' नाम स्वतंत्रता के बाद लिखे गये उन उपन्यासों के लिए रूढ हो गया तो अपनी पूर्ववर्ती परंपरा का विकास होते हुए भी विशिष्ट है । वास्तव में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उपन्यास के विकास का प्रथम चरण ग्रामांचल को लिए हुए था । स्वतंत्र्योतर भारत में जिस सुखद स्वराज्य की कल्पना को साकार करने के लिए बडे पैमाने पर पिछडे आदिम तथा अनुसूचित जातियों के विकास के लिए जो योजनाएं बनाई गई उनकी निस्सारता जल्दी ही सामने आ गई । पंचवर्षीय योजनाओं की विफलता, बेकारी, स्वार्थपरता, दूषित चुनाव प्रणाली इत्यादि प्रवृतियों ने भारतीय प्रजातंत्र के चेहेरे को और भी कुरूप बना दिया । दूषित राजनीति के दुष्परिणामों से वर्ग-संघर्ष को बढावा मिला और जातिवाद की भावनाएं विकसित होने लगी । गांधी जी के ग्राम राज्य का समापन स्वयं बनकर रह गया है । जमींदारी उन्मूलन हुए लेकिन गांव का किसान अभी भी सरकारी कारिन्दों के शोषण का शिकार बना रहा । प्रेमचंद के युग में शोषण की प्रक्रिया सीधी व स्पष्ट थी परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् उसमें जटिलता

आ गई इस संपूर्ण परिवर्तित परिस्थिति की जटिलता के प्रस्तुतीकरण के लिए एक नवीन दृष्टि की आवश्यकता । इस ऐतिहासिक जरूरत को पूरा किया आंचलिक उपन्यासकारों ने । इन कथाकारों ने उस यथार्थ को उसकी भीतरी पर्तों तक जाकर उभरा है, उस रोमानियत से सर्वथा बचते हुए जो शहर की निगाह से गांव को देखने वाले रचनाकार में बलात उभर उठती । दूसरे, भारत की आदिम संस्कृति की संरचना के लिए प्राचीन संस्कृति एवं मूल्यों का पुन: जागरण आवश्यक हो गया । पाश्चात्य संस्कृति के व्यामोह से सांस्कृतिक के सजीव चित्रण के लिए पिछडी एवं अज्ञात जन-जातियों को अपने उपन्यास का विषय बनाया । राजेन्द्र अवस्थी ने तभी तो कहा है- 'हमारे देश के विभिन्न अंचल ही हमारी संस्कृति के प्रतीक हैं । शहरों ने हमारी संस्कृति को कभी प्रभावित नहीं किया और न उनके बलबूते पर एक विराट सांस्कृतिक धारा बन पाई ।'

स्वतंत्रता से पूर्व आंचलिक उपन्यास की सर्जना के लिए अनुकूल परिस्थितियां उपलब्ध नहीं थी क्योंकि देश आर्थिक तथा सांप्रदायिक संकट के दौर से गुजर रहा था । फ्रायड तथा मार्क्स के दर्शन से प्रेरित होकर लेखकों ने मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी तथा व्यक्तिवादी उपन्यासों का ढेर सा लगा दिया । प्रेमचंद का ग्रामीण यथार्थ इस बोझ के नीचे दब सा गया । जब कोई प्रवृति अति पर पहुंच जाती है तब दूसरी प्रवृतियां उसकी तुलना में अधिक आकृष्ट करती है । नागरिक जीवन कृत्रिम एवं नाटकीय भाव प्रदर्शन के कारण रसहीन लगने लगा और उसकी तुलना में गांवों की आत्मीयता तथा सहजता ने लेखकों को आकृष्ट किया । इस प्रकार प्रेमचंदोतर काल के लेखक अपनी सीमित मान्यताओं एवं कुण्ठाओं से ऊपर न उठ सके । इस व्यक्तिवाद के विरोध में और विद्रोह स्वरूप ही हिन्दी उपन्यास में एक ऐसी चेतना-

लहर उठी जो जीवन की स्वाभाविक दुर्बलता एवं सबलता के साथ देश के नवोन्मेष केह्य स्वागतार्थ उत्सुक थी। नवीनता के इस आग्रह ने ही लेखकों का ध्यान नागरिक जीवन से हटा कर दुरवर्ती विलक्षण समाज की ओर आकर्षित किया । इन्हीं उपन्यासों ने आगे चलकर आंचलिक उपन्यासों की संज्ञा ग्रहण की । व्यक्तिवादी उपन्यासों से जो एक बासीपन आ गया था वह आंचलिक कथा साहित्य के आगमन से एक नई ताजगी से परिवर्तित हो गया । लेखकों ने लेखन की पुरानी परिपार्टी को छोडकर नयी दिशा की ओर कदम बढाया । डॉ. रामदरश मिश्र ने लिखा है- 'एक और साहित्य अनुभव की प्रामाणिकता की आवाज उठा रहा था, दूसरी ओर स्वतंत्र भारत में उपेक्षित और महत्वहीन माने जाने वाले गांवों और जंगलों की महत्ता का उदय हो रहा था । दोनों का संगम हुआ आंचलिक कथाओं में ।'

आंचलिक उपन्यास के प्रादुर्भाव का एक कारण यह भी है कि पहली बार हिन्दी साहित्य में लेखकों की एक ऐसी जमात आयी जो गांवों के कृषक परिवारों से सम्बद्ध थी । अत: ग्राम्य जीवन के प्रति यह रुझान स्वाभाविक ही था । हिन्दी के नये-नये लेखकों ने हठात् अनुभव किया की नगरों में उलझे हुए कुंठाग्रस्त और अपेक्षाकृत सहानुभूतिहीन जीवन की अपेक्षा शायद देहात के सहज सरल जीवन में आत्मीयता अधिक है और जीवन की नाटकीयता भी । दूसरा, प्रेमचंद युग में साहित्य का प्रमुख केन्द्र देहाती जीवन था, परन्तु प्रेमचंद के बाद यह प्रश्न उपेक्षित रह गया । अत: इस उपेक्षित पक्ष की ओर दृष्टिपात कर नये भाव जगत की उपलब्धि करने का मोह लेखकों में दिखायी पडता है । इसके बाद ही हिन्दी में स्वातंत्र्योतर उपन्यासों का विराट विस्तार सामने आया, जब आंचलिक उपन्यास भी विभिन्न कोटियों में विपुल मात्रा में रचे जाने लगे । अंचल और आंचलिकता के

अभिलक्षणों से सराबोर आंचलिक उपन्यासों में नागरिक पृष्ठभूमि के उपन्यास है तो ठेठ ग्रामीण संस्पर्श के उपन्यास हैं । इनमें जातीय और जनजातीय विशेषताओं को उभारने वाले उपन्यास हैं, तो अंचल विशेष के निवासियों को मौलिकता अभिव्यक्त करने वाले उपन्यास भी हैं । ये सारे आंचलिक उपन्यास अपने स्वीकृत अंचल या क्षेत्र विशेष की विभिन्न हलचलों और अंतर्दशाओं को साकार करते हैं । कथाकारों ने पूरी जागरुकता के साथ जीवन और मानवीय व्यवहार की आंचलिक क्षमता को आंचलिक उपन्यासों में मूर्त किया है ।

ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित अपने आंचलिक उपन्यासों के साथ नागार्जुन ने भारत की आजादी के बाद एक नई शुरुआत की । अपने पहले आंचलिक उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' (१९४८) से लेकर १९६३ में प्रकाशित 'उग्रतारा' तक नागार्जुन का कथा-संसार आंचलिक संस्पर्श का विलक्षण उदाहरण है ।

'बलचनमा' (१९५२) में अपनी असफल समाजवादी क्रांति के उपरांत वे युवा पीढी के द्वारा 'नई पौध' (१९५३) में अहितकारी सामाजिक रूढियों संग्राम छेडते हैं 'बमपाटी' के युवक तिरहुतिया ब्राह्मणों की प्राचीन विवाह-प्रथा को तोडकर नये प्रकार के विवाह का सुधारवादी रूप प्रस्तुत करते हैं । 'बाबा वटेसरनाथ' (१९५४) में वे किसान और जमींदार के संघर्ष को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में चित्रित करते हैं, जिसमें कथावाचक का नाम एक पुराना बरगद का पेड करता है । 'दुखमोचन' (१९५७) में लेखक ने एक आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता के माध्यम से गांव की समस्याओं का समाधान कराया है । दलगत संघर्षों का समाधान करते हुए दुखमोचन गांव में शांति और सामाजिक न्याय की स्थापना करना है । 'उग्रतारा' (१९६३) में लेखक विधवा की समस्याओं को नये सिरे से उठाता है । इस उपन्यास में लेखक

ने नये विचारों वाले नौजवानों का आह्वान किया है और दिखाया है कि जो बालविधवा उग्रतारा परिस्थितियों में पडकर एक अधेड जेल के सिपाही से विवाह करती है और उसका गर्भ धारण करती है, अवसर पाकर अपने नौजवान प्रेमी कामेश्वर के साथ भाग जाती है । प्रगतिशील विचारों वाली भाभी इन दोनों का विवाह कराती है । इस प्रकार प्रगतिशील विचारों और नौजवान कामेश्वर के साहस से एक बालविधवा का उद्धार होता है । विशेष रूप से इस उपन्यास में कथावस्तु-नियोजन और भी क्षीण है । केवल समस्या के रूप को उसके समाधान के साथ प्रस्तुत किया गया है । नागार्जुन सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं को गंभीरता के साथ प्रस्तुत करने के लिए अपने उपन्यासों के पात्रों को कठिन एवं कठोर परिस्थितियों में रखते हैं और एक-दो प्रगतिशील विचारों वाले साहसी नवयुवकों द्वारा उनका समाधान प्रस्तुत करते हैं ।

इसके विपरीत रेणु के उपन्यासों में कथा-नायक प्रकट नहीं होता, और जो नायक की भांति प्रतीत होता है, वह होता है आंचलिक जीवन का निरीक्षण बिंदु-जहां से स्थान विशेष के मानव समुदाय के विशिष्ट कार्यकलापों को विस्तार एवं स्पष्टता से देखा जा सकता है । 'मैला आंचल' (१९५४) के डॉ. प्रशांत और 'परती परिकथा' (१९५७) के जितन एन उपन्यासों के नहीं हैं, वे केवल माध्यम हैं, दुरबीन की तरह जिसके जरिये देखने से मैरीगंज और परानपुर गांवों का 'पैनेरैमिक' दृश्य आंखों के सामने फैल जाती है । प्रशांत और जितन दोनों ही शिक्षित एवं अभिजात्य वर्ग के होने के कारण गांवों के सामान्य जीवन से पृथक हो रहते हैं जिसमें ग्रामीण जीवन पर दृष्टि निक्षेप करने के लिए आवश्यक दूरी और ऊँचाई प्राप्त हो जाती है । प्रशांत की अपेक्षा जितन ग्रामीण जीवन से अधिक संयुक्त हैं इसलिए

'परती परिकथा' में जीवन की ऊष्मा और संघर्षों को यथार्थता अधिक प्रभावशाली बन पडी है और आंचलिक जीवन अधिक प्रखरता से प्रस्तुत हुआ है । रेणुकृत 'मैला आंचल' का मेरी गंज गांव निरन्तर बदलता गया है । उसकी मानवीय संवेदना निरन्तर नि:शेष होती गयी । उसके वापसी सम्बन्ध चरमाते गये । मानवीय मूल्यों का स्थान स्वार्थ, वैमनस्य, और नंगई ने ले लिया । इस स्वार्थ और वैमनस्य की भयंकर स्पर्धा में छोटे-बडे सभी एक-दूसरे से संघर्ष करने लगे । चतुदिक आहत, जीवन-मूल्य, सामाजिक संबंध और विवेच-चेतना द्वष्टि गोचर होने लगी । 'यहाँ से वहाँ तक एक अकेलापन और उस अकेलेपन के बीच साँड की तरह डँकारते हुए झुंड के झुंड गुंडे ।' मेरीगंज गांव में तीन प्रमुख जातियां है- राजपूत, यादव और कायस्थ । ब्राह्मण लोग अभी तृतीय शक्ति है । इस जातियों में वैमनस्य, अहंकार और परस्पर लागडाट रहती है । डॉ प्रशान्त ममता को पत्र में जो लिखता है, वह अंचल के निवासियों का सही मूल्यांकन है । उसकी धारणा है- 'गाँव के लोग बडे सीधे दीखते है; सीधे का अर्थ यदि अपढ, अज्ञानी और अन्य विश्वासी हो तो वास्तव में सीधे है वे । जहाँ तक सांसारिक बुद्धि का सवाल है, वे हमारे ओर तुम्हारे जैसे लोगो को दिन में पांच बार ठग लेते हैं । और तारीफ यह है कि तुम ठगी जाकर भी उनकी सरलता पर मुग्ध होने के लिए मजबूर हो जाओगी ।' गाँवों के सामाजिक सम्बन्धों की आधार भूमि परिवर्तित हो रही है । लोग आमने-सामने न लड कर भीतर ही भीतर एक-दूसरे को धराशयी करते है । 'मैला आँचल' का विश्वनाथ वल्लभ बर्छा की लडाई नही लडता है । वह कानूनी दाँव-पेच से लोगों को परास्त करता है । 'विश्वनाथ ने तो कानुन की ऐसी लकडी लगाई है कि भूमिहार भी मात! राजपूत का वल्लभ-बर्छा उसके आगे क्या करेगा, ऊपर से कितना हँस

मुख और कितना मीठबोलवा है, लेकिन पेट में जलेबी का चक्कर है ।'

रेणुकृत 'परती परिकथा' में एक भीषण शुन्यता एवं एकाकीपन का अनुभव हमें प्राय: होता है । उपन्यास का पात्र जितेन्द्र को सभी ग्राम वासी अर्थविक्षिप्त समझते है। जितेन्द्र परती को ट्रेक्टर से गोडता है, पौधे लगाता है गाँव के लोग उसे पगला समझते हैं । क्योंकि गाँव-जीवन से मानवीय पीडा की पहचान धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है । गाँव चोरों लफंगो, गुटबाजों का अड्डा बनता जा रहा है । लुत्तो, गरुण झा, सखन, बाबू, मुंशी जलधारीलाल, बालगोबिन, महीचन, समसुदीन किसी मानवीय आलोक बिन्दु से जुडे हुए नही है । परानपुर गाँव का जीवन दूषित होता जा रहा है । 'इस इलाके में सबसे उन्नत गाँव है परानपुर । किन्तु जिस तरह बाँस बढते-बढते अन्त में झुक जाता है, उसी तरह यह गाँव भी झुका है ।... अब इस सब-डिवीझन भर के लोग यहाँ के दस वर्ष के लडके से भी बात करते समय अपना पाकेट एक बार टटोलकर देख लेते है ।' वस्तुत: परानपुर ही नही, 'सभी गांव टूट रहे हैं । गांव के परिवार टूट रहे है, व्यक्ति टूट रहे है- रोज रोज काँच के बर्तनों की तरह ।' रेणु का तीसरा उपन्यास 'जुलूस' (१९६५) है, जिसमें लेखक ने बंगाली शरणार्थियों और स्थानीय बिहारियों के पारस्परिक संबंधों के आधार पर कथा की रचना की है । ऐसा करने के लिए लेखक ने दोनो पक्षों के पूर्वाग्रहों और संकीर्ण मूल्यों के बीच उत्पन्न संघर्षों का चित्रण किया है ।

भैरव प्रसाद गुप्त ने 'गंगा मैया' (१९५१), 'सत्ती मैया का चौरा' (१९५८) और 'धरती' (१९६४) जैसे उपन्यासों की रचना ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि पर की है । इनके उपन्यास प्रेमचंद के 'गोदान' की परंपरा में है जिनमें ग्रामीण जीवन को और भी अधिक विस्तार प्राप्त हुआ है । शिल्प की दृष्टि से इनके उपन्यास आंचलिक

नहीं कहे जा सकते परन्तु 'गंगा मैया' में आंचलिकता की कुछ विशेषताएं प्राप्त होती हैं ।

रेणु के बाद बलभद्र ठाकुर का नाम आँचलिक उपन्यासकारों में हैं । ठाकुर ने हिमालय के लोक-जीवन पर अनेक रोचक उपन्यास लिखे हैं जिन्हें अच्छे आँचलिक उपन्यासों की कोटि में रखा जा सकता हैं । इनके उपन्यास 'आदित्यनाथ' (१९५८) और 'देवताओं के देश में' (१९५९) कुल्लू घाटी के जन-जीवन को प्रस्तुत करते हैं जिनसे घाटी के लोगों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों का अच्छा परिचय प्राप्त होता है । 'नेपाल की वो बेटी' (१९५९) में लेखक ने पश्चिमी नेपाल के मध्यवित्तीय लोगों का विस्तृत चित्रण किया है । ठाकुर एक अच्छे धुमक्कड हैं और इन्होंने हिमालय और मणीपुर की विस्तृत यात्राएं की हैं जिनके फलस्वरूप इन्होंने इन स्थानों पर अन्य अनेक उपन्यासों की रचना की हैं । अलमोडा और कुमायुं के लोक-जीवन की पृष्ठभूमि संबंधी शैलेश मटियानी के अनेक उपन्यास हिन्दी जगत् में प्रख्यात हो चुके हैं । इनके उपन्यास 'हौलदार' (१९६०) और 'चिट्ठीरसेन' (१९६१) 'सैटिंग' की दृष्टि से आंचलिक उपन्यासों के अंतर्गत आते हैं यद्यपि ये इन अंचलों के समग्र जीवन को नहीं प्रस्तुत करते । 'हौलदार' उपन्यास के प्रारंभ में लेखक ने स्वयं स्वीकार करते हुए सूचित किया है कि, 'हौलदार', 'चिट्ठीरसैन' में मैने अलमोडा के जन-जीवन के सामाजिक-आर्थिक पहलुओं के गहन-व्यापक स्तरों को नहीं छुआ है । 'जिबुका', 'सरूली', 'संयुग्ल-कोसी' और 'लाभ और बुरूंश के फूल' आदि अपने नये उपन्यासों में मैं वहांके जन-जीवन के सर्वांगीण बिंबों को रूपायित करने का प्रयास कर रहा हूँ।' अपने उपन्यास 'चौथी मुट्ठी' (१९६२) में मटियानी ने कुमायूं अंचल के लोगों की गोल्ल देवता में अगाध श्रद्धा को प्रस्तुत किया

है जिनके आदेश के बिना वहां के लोग कोई भी महत्वपूर्ण काम नहीं करते ।

रामदरश मिश्र का उपन्यास 'पानी के प्राचीर' (१९६१) गोरखपुर जिले के एक छोटे गांव पांडेपुर की कथा है जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले की अनेक समस्याओं और सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों का विस्तृत चित्रण हुआ है । इनका दूसरा उपन्यास 'जल टूटता हुआ' (१९६९) पहले उपन्यास का पूरक है या दूसरे भाग की तरह आया है जिसमें कालांतर से स्वतंत्रता के बाद के उसी क्षेत्र के ग्रामीण जीवन का अंकन हुआ है । लेखक ने ग्रामीण जीवन के सामाजिक एवं राजनीतिक तनावों पारस्परिक वैमनस्य और लडाई-झगडों को विस्तार के साथ रुपायित किया है । इन वर्णनों में ग्रामों का रोमानी, सुंदर और सरल जीवन वाला रूप न प्रस्तुत कर लेखक ने यथार्थवादी दृष्टि से काम लिया है और ग्रामीण जीवन के उन पक्षों की प्रकाश में रखा है जिनके कारण आजकल गांवों में शांति से रहना असंभव हो गया है । इन उपन्यासों के पढने से कुल मिलाकर जो प्रभाव पडता है वह यह है कि गांवों का जीवन न केवल दरिद्रता और अज्ञान का केन्द्र है, प्रत्युत पारस्परिक कलह और संघर्ष के कारण विश्रृंखल हो गया है । ये प्रेमचंद की परंपरा के उपन्यास है ।

शिवप्रसाद सिंह ने गांवों के इसी टूटते एवं बिखरते हुए रूप को अपने उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' (१९६७) में और भी विस्तार देकर गांवों की स्थिति को निराशापूर्ण घोषित किया है । १९५४ में डॉ. प्रशांत फारैन स्कॉलरशिप' का परित्याग कर (मैला आंचल: रेणु) पूर्णिया जिले के पिछडे हुए गांव मेरीगंज में आता है और मलेरिया तथा काला जार जैसी बीमारियों के संबंध में खोज करने तथा बीमारों का उपचार करने के लिए कटिबद्ध हैं और निराश होने पर भी 'पशुवत

मनुष्य' को मनुष्य बनाने के लिए वह फिर वहाँ लौटाने की प्रतिज्ञा करता है । परन्तु तेरह वर्षों में गांवों की हालत और भी बिगड गई मालूम होती हैं क्योंकि करैता गांव में पैदा हुआ डॉ. देवनाथ हारकर अपनी गांव की 'प्रैक्टिस' को छोडकर पास के कस्बे में डॉक्टरी करने के लिए चला जाता है । यह स्थिति केवल डॉ. देवनाथ की ही नहीं है, बल्कि किसानों की भी हालत बिगड रही है और वे मन मारे किसी तरह जिये जा रहे हैं । लेखक ने करैता को 'नाचिरागी मोजा' कहा है । लेखक आंचलिकता से इतना डर गया है कि 'तटचर्चा' में कहता है, 'मैं चाहे लाख चाहूँ, पढने वाले इसे यदि आंचलिक उपन्यासों की पंक्ति में डाल दें, तो मैं कर ही क्या सकता हूँ।' आंचलिक सत्यांकन में लेखक को निश्चय ही सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि रेणु के मानवतावादी आदर्श करैता के नितांत यथार्थवादी चित्रण की पृष्ठभूमि में स्वप्नवत लगते हैं । कथाकार चाहता है कि करैता गांव की कहानी को सभी गांवों की कहानी माना जाए । वह करैता गांव के माध्यम से भारतीय गांवों के संबंध में एक सार्वभौमिक सत्य प्रस्तुत कर रहा है । परन्तु यदि ध्यान से देखा जाए तो यह सार्वभौमिक सत्य प्रस्तुत कर रहा है । परन्तु यदि ध्यान से देखा जाए तो यह सार्वभौमिक सत्य नहीं है क्योंकि सभी गांवों की ऐसी ही हालत नहीं है । आंचलिक रूप में करैता एक 'नाचिरागी मौजा' के रूप में विशिष्ट है परन्तु भारतीय गांवों के पूर्ण प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकता । रचनात्मक दृष्टि से लेखक ने अपने भावबोध और ज्ञान की गहराई उपन्यास के रूप में प्रस्तुत की है जो उसके आंचलिक अथवा विशिष्टीकृत रूप में सत्य और सार्थक है । इससे बाहर या ऊपर उठकर और कुछ की मांग करना अपनी सृष्टि झुठलाना है ।

मनहर चौहान का उपन्यास 'हिरना सांवरी' (१९६२) भी एक रोचक उपन्यास

है जिसमें छत्तीसगढ के एक गांव और कस्बे की पृष्ठभूमियों के साथ हिरना उर्फ लक्ष्मी के जीवन के चढाव-उतारों को प्रस्तुत किया गया है । ग्वाला परिवार की हिरनी अपने मुंह से अपनी कथा सुनाती है जिसमें उसकी अपनी कथा अधिक है और कुछ अन्य पात्रों के विवरण हैं जो उसके जीवन को बनाने-बिगाडने वाले हैं आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में इस उपन्यास का उल्लेख कर दिया जाता है । परन्तु शिल्प और शैली की दृष्टि से यह केवल एक रोचक उपन्यास ही सिद्ध होता हैं । सुरेन्द्रपाल के उपन्यास 'लोक-लाज खोयी' (१९६३) का भी उल्लेख यहां किया जा सकता है जिसमें पूर्वी उतर प्रदेश के एक गांव का चित्रण हुआ है । १६ कहानियों के माध्यम से लेखक ने अपने 'अंचल' के पृष्ठभूमीय जीवन का प्रामाणिक चित्र उपस्थित किया है । विवेकी राय का उपन्यास 'बबूल' (१९६७) डायरी शैली में लिखा गया है और महेसवा चमार की दरिद्रता का रोजनामचा लिखने के लिए लेखक ने चित्रगुप्त महाराज के 'प्राइवेट आसिस्टेंट' (निजी सहायक) को स्कुल मास्टर के रूप में पच्चीस वर्ष के लिए अवतरित किया हैं इन्हीं को डायरी के छब्बीस पन्ने 'बबुल' उपन्यास के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। जितना प्रभावशाली बंधन विवेकी राय ने बांधा है । यदि उपन्यास उसका आधा भी प्रभावशाली बन पडता तो न केवल महेसवा चमार का कल्याण हो जाता, प्रत्युत गांव बाढनपुर का भी उद्धार हो जाता ।

रघुवर दयाल सिंह का उपन्यास 'त्रियुगा' (१९६७) में तिरहुत क्षेत्र में बहने वाली त्रियुग नदी के बदलते हुए किनारों पर बसे हुए जन-समुदाय का चित्रण हुआ है। नदी के पानी के उतार-चढाव के साथ तटवासी लोगों का जीवन दु:ख-सुख की लहरों में आंदोलित होता है । लेखक ने इस चढाव-उतार का अच्छा चित्रण किया

है और साथ ही एक शिक्षित युवक के अशिक्षित ग्रामबाला के साथ चलने वाले रोमांस को भी प्रस्तुत किया है । यह प्रेम-व्यापार पाठकों का ध्यान आंचलिकता से हटा देता है परन्तु परिस्थितियों के संघर्ष से दूर नहीं ले जाता । तटवासी सभी कष्टों को सहन करते हुए भी नदी के किनारे से चिपके रहते हैं जो उनका सर्वस्व है । इसी प्रकार गगास के तट पर उपन्यास का प्रकाशन जगदीशचन्द्र पांडेय ने १९६८ में किया जिसमें लेखक ने कुमायूं अंचल के गगास के किनारे पर बसे हुए लोगों की नये भूमि-सुधार के विधानों के कारण उत्पन्न समस्याओं का चित्रण किया है । ऐसे ग्राम केन्द्रित उपन्यासों की श्रृंखला में ही विवेकी राय का उपन्यास सोनामाटी (१९८३) है और जगदीश चन्द्र का उपन्यास 'घास गौदाम' (१९८५) है । श्याम बिहारी श्यामल के उपन्यास 'धपेल' (१९९९) में भी ग्रामांचल का ही सत्य अंकित हुआ है । कई आंचलिक उपन्यासों में क्षेत्र या अंचल की भौगोलिक सीमाओं पर विशेष ध्यान न देकर विशिष्ट समुदाय की सामाजिक परंपराओं, धार्मिक विश्वासों, विशेष मूल्यों एवं मान्यताओं, आचार-विचार, रीति-रिवाजों को निर्णायक तत्वों के रूप में प्रस्तुत किया गया है । भौगोलिक तत्व अनायास ही प्रस्तुत हो जाता है क्योंकि विशिष्टीकरण की प्रक्रिया में इसका महत्व सार्वधिक है । लोकसाहित्य प्रेमी और उत्साही यात्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने मध्यप्रदेश के गोंड आदिवासियों में संबंधित उपन्यास 'रथ के पहिये', (१९५३) की रचना की, जिसमें लेखक की रोमानी और आदर्शवादी दृष्टि की प्रमुखता है । करंजिया गांव में सभ्य एवं शिक्षित आनंद और सोम नागरिक सभ्यता से आते हैं और आदिवासियों के जीवन में सुधार लाते हैं । आनंद का विवाह गांव के मुखिया की लडकी से हो जाता है और इस प्रकार प्राकृतिक सभ्यता का नागरिक सभ्यता से मिलन होता है और एक समन्वित

सभ्यता के विकास को संभावनाएं प्रतीक रूप में उत्पन्न हो जाती है । उदयशंकर भट्ट ने बारसोवा की कोली मछुआ जन-जाति का विस्तृत निरुपण अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'नागर, लहरें और मनुष्य' (१९५५) में किया है । इस उपन्यास की रचना के लिए लेखक ने तटवर्ती कोलियों के गांवों का विशेष अध्ययन किया और एक समाजशास्त्री की भांति सामग्री एकत्र करके कोलियों के जीवन का प्रामाणिक जीवनवृत प्रस्तुत किया । उपन्यास में कथा महत्वाकांक्षिणी नायिका रत्ना के साथ बारसोवा और बंबई के बीच भटकती रहती है जिससे आदिवाजी ति के सभ्य समाज के बढते हुए संबंधों का भी परिचय प्राप्त होता है। यथार्थता लाने के लिए लेखक ने इन कोष्ठियों की भाषा 'बंबइया हिंदी' रखी है जबकि वे इस भाषा का प्रयोग केवल उन्हीं लोगों के साथ करते हैं जो उनकी भाषा भराठी नहीं जानते । 'ब्रह्मपुत्र' (१९५६) उपन्यास में देवेन्द्र सत्यार्थी ने ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे पर रहनेवाले असमी लोगों का चित्रण प्रस्तुत किया है: ब्रह्मपुत्र नदी के अतिरिक्त इस उपन्यास में और कोई भी आंचलिक तत्व नहीं हैं । क्रांतिकारी राजनीति के समावेश से उपन्यास की सार्वभौमिकता को ही प्रश्रय मिला है और आंचलिक विशिष्टीकरण का अभाव हो गया है। नैसर्गिक सरलता, सौंदर्य और लोक साहित्य के प्रति विशेष अनुराग के कारण लेखक का दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है और इसलिए सत्यार्थी अपने आंचलिक समाज का यथार्थ चित्रण नहीं प्रस्तुत कर पाते ।

इस संदर्भ में नागार्जुन, रांगेय राघव और राजेन्द्र अवस्थी अधिक विश्वसनीय है। 'वरूण के बेटे' (१९५७) में नागार्जुन ने मछुआ जाति की सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का वर्णन किया है । लेकिन अपनी प्रतिबद्धता के कारण नागार्जुन ने इस शोषित जाति को जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए चित्रित किया हैं । रांगेय

राघव ने अपने उपन्यास 'कब तक पुकूं' (१९५८) में राजस्थान की नट जाति को चुना है। ये नट चोरी करते हैं ओर उनकी महिलाएं कुलीन हिंदुओं के साथ संबंध स्थापित करके पैसे कमाती हैं । परन्तु इस कथा में एक नट यह अनैतिक जीवन नहीं जीना चाहता परन्तु थानेदार उसकी पत्नी के साथ बलात्कार करता है और उसे एक सिपाही की रखैल बनने के लिए विवश होना पडता है । इस प्रकार लेखक ने इस जाति की विशेष परिस्थितियों को उभारा है । इस प्रकार लेखक ने इस जाति की विशेष परिस्थितियों को उभारा है । 'धरती मेरा घर' (१९६१) में रांगेय राघव ने राजस्थान की लोहार जिप्सी जाति को लेकर एक रोचक कथा कही है । इसमें बेईमानी से लोहरा के बच्चे को उस राजपूत बच्चे का स्थानपन्न बना दिया जाता है जिसे बधेरा खा गया है । किस प्रकार सवर्ण एवं समर्थ हिन्दू इन गरीब लौहारों का शोषण करते हैं और इन्हें नगण्य समझते हैं, यह इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है । कथा की प्रधानता के कारण आंचलिक तत्व दब जाते हैं । फिर भी जातिगत विशेषताएं उभरकर आती हैं । किस प्रकार ये जन-जातियां हिन्दुओं के आस-पास रहकर प्रभावित होती है और दु:ख-सुख भोगती हैं- यह इन उपन्यासों में द्रष्टव्य हैं।

'सूरज किरण की छांव' (१९५९) में राजेन्द्र अवस्थी ने बस्तर के गोडों के जीवन को इंसाई धर्म-परिवर्तन की समस्या के सहारे प्रस्तुत किया है । मुखिया की लडकी के साथ ईसाई मिशनरी का लडका विलियम बलात्कार करता है और फलस्वरूप उसे इंसाई धर्म स्वीकार करने पर विवश होना पडता है । लेकिन एक डॉक्टर की सहायता से, जो धर्म-परिवर्तन में विश्वासन नहीं करता, गोंड लडकी अपनी जाति में वापस लौटती है और ईश्वर से प्रार्थना करती है कि किसी भी निस्सहाय को अपना समाज छोडकर ईसाई धर्म स्वीकार न करना पडे । समस्त

उपन्यास गोंडों के आचार-विचार और विशिष्ट प्रकार के नृत्यों और गीतों से सजा हुआ है जिससे इस जन-जाति का समग्र रूप प्रस्तुत होता है । अपने दूसरे उपन्यास 'जंगल के फूल' (१९६०) में अवस्थी ने गोंडों के जीवन को और भी विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है । घोटुल की विशिष्ट प्रथा के कारण यह जन-जाति अन्य भारतीय जन समुदायों से भिन्न और विशिष्ट हो जाती है । विवाहपूर्ण युवा लडके-लडकियों में स्वतंत्र निर्वाचन और यौन-संबंध इस जाति की एक विशेषता है जो इन घोटुलों में नियमित रूप से घटित होती है । एक ऐतिहासिक घटना के द्वारा लेखक ने अपने वर्णन को और भी प्रामाणिक बना दिया है और वह है गोंडों का अंग्रेजी अफसरों के विरुद्ध संघर्ष एक अन्य लोक-साहित्य-प्रेमी श्याम परमार ने मालवा के आदिवासी भीलों को अपने उपन्यास 'मोरझल' (१९६३) का विषय बनाया है । परमार को इस जन-जाति का अच्छा ज्ञान है और इसीलिए इनका चित्रण भी विश्वसनीय एवं प्रभावशाली बन पडा है । इसमें एक प्रेम-कहानी प्रस्तुत की गई है । जिसके माध्यम से लेखक ने इस समुदाय का रोचक चित्रण किया है। बस्तर के गोडों और मालवा के भीलों, राजस्थान के नटों और बरसोवा के कोलियों की भांति सिंहभूमि की 'हो' जन-जाति का चित्रण योगेन्द्र सिन्हा के उपन्यास 'वन के मन में' (१९६२) में हुआ है । 'फोरेस्ट ऑफीसर के रूप में सिन्हा ने इस जाति और जंगली जीवन का निकट से अध्ययन किया है और उसी अध्ययन एवं निरीक्षण के आधार पर लेखक ने इस उपन्यास में 'हो' जन-जाति का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत किया है । इस उपन्यास में भी एक प्रेम-कथा रखी गई है । लेखक ने कुछ विशिष्ट प्रथाओं अथवा नामों के अतिरिक्त साधारण खडी बोली का प्रयोग किया है। माडिया गोंडो से संबंधीत शानी का उपन्यास 'शालवनों का द्वीप' (१९६७) भी एक

दिलचस्प आंचलिक उपन्यास है । लेखक स्वयं भी उपन्यास का एक पात्र है जिससे कथा के विस्तारों को और भी प्रामाणिकता प्राप्त हो गई हैं । कलीफोर्निया स्टेट कॉलेज हेवर्ड के एन्थ्रोपोलोजी के प्रोफेसर जे.जे.एडवार्ड के साथ शानी ने भी प्रचुर मात्रा में सामग्री एकत्र की और माडिया जन-जाति का निकट से निरीक्षण किया॥ यह अध्ययन और निरीक्षण इस उपन्यास के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ ।

➢ हवलदार (१९६०)

शैलेष मटियानी चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखने में सिद्धहस्त हैं प्रस्तुत उपन्यास में कुमायूँ के पर्वतीय अँचल कमी कथा चलती है जिसमें उभरती है डूंगरसिंह की जीवन-कथा, जो हवलदार बनने की इच्छा से फौज में जाता है और ट्रेनिंग लेते समय अपनी ही गोली से लँगडा होकर गाँव लौट आता है । उसकी इच्छाएँ कुँठाएँ बन जाती है । प्रस्तुत उपन्यास इस टूटे हुए, हारे हुए आदमी को कथा कहता है, इसको विभिन्न मन: स्थितियों को विभिन्न कोणों से उभारता हैं । उसके चारों और धिरा है कुमायूँ को पर्वतीय परिवेश । फिर भी वह उपन्यास समग्र अँचल के सांस्कृतिक व्यक्तित्व की संश्लिष्टता को उभारने में उतना सफल नहीं हुआ है जितना एक व्यक्ति की जीवन कथा को उभारते में ।

आदिवासी जीवन केन्द्रीत उपन्यास की दूसरी वस्तुगत विशेषता है कि उसकी पृष्ठभूमि विशिष्ट यथार्थ पर आधारित होती है । आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यासकार किसी विशेष क्षेत्र (नगरों से दूर बसे आदिवासी जीवन) को लेकर उसकी भौगोलिक, सांस्कृतिक, एवं सामाजीक विशिष्टताओं का चित्रण करता है । कुछ उपन्यासकारों ने ऐसे ही जीवन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है जिसमें बिहार की 'हो' आदिवासी जाति को लेकर लिखा गया योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वन में मन में' उपन्यास दृष्टिगत होता है ।

➢ वन में मन में (१९६२)

बिहार के सिंहभूमि अंचल की 'हो' आदिवासी जाति के जीवन पर आधारित योगेन्द्रनाथ सिन्हा का 'वन में मन में' नारी प्रधान उपन्यास है । उपन्यास की पात्रा मेंजो के परिश्रम से 'हो' आदिवासी नारियों के परिश्रम का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । 'हो' आदिवासियों में नारी पुरुष समान हैं । इसका कारण संभवत: यही है कि 'हो' नारी पुरुष पर आश्रित नहीं होती ब्लकि वह सहकर्मी के समान जीवन पथ की कठोर यात्रा पुरुष के साथ मिलकर तय करती है । मेजों पुरुष के समान कठोर परिश्रमी हैं । संदर्भित उपन्यास में लुकना और मेंजो का प्रेम अनन्य है । लुकना, मेंजो से प्रेम करता है किन्तु मेंजो के माता-पिता द्वारा माँगे जाने वाले दहेज स्वरूप धन को नहीं दे पाता और निराश होता पलायनवादी बनता है ।

'हो' आदिवासी जीवन की रीति-रिवाजों को लेकर लिखा गया 'वन में मन में' उपन्यास सचमुक बिहार के 'हो' आदिवासी संस्कृति का द्योतक है इतना ही नहीं संपूर्ण भारत वर्ष की आदिवासी संस्कृति को प्रदर्शित करता है ।

भील मध्यप्रदेश की दूसरी बडी आदिवासी जाति है । मध्यप्रदेश में वे मुख्यत: खुरगीन, धार, झाबुआ और रतलाम जिलों में निवास करते हैं । इन जिलों के अतिरिक्त पूर्व निमाड (खंडवा) जिले में भी वे पर्याप्त संख्या में रह रहे हैं । मालवा और निमाड अंचल के विभिन्न नगरों में निर्माण कार्य में संलग्न मजदूरों के रूप में भीलों को बडी संख्या में देखा जा सकता है । हिन्दी साहित्य भी उस भील जाति से अछूता नहीं रहा । श्याम परमार ने 'मोरझाल' (१९६३) उपन्यास लिखकर मालवा क्षेत्र के भीलों की जीवन-शैली को एक प्रेम कथा के जरिए प्रस्तुत किया है। कभी भीलों को अपने उपन्यास का केन्द्र बनाया तो कभी अन्य आदिवासी जातियों को ।

'कुरॉटी' भील आदिवासी विकास एवं अंतर्द्वन्द्व की अंतर्कथा को प्रदर्शित करने वाला डॉ.सतीश दुबे का यथार्थपरक उपन्यास है । प्रस्तुत उपन्यास की कथा का केन्द्रस्थल मध्यप्रदेश और मध्यप्रदेश में बसने वाले भील आदिवासी है । स्वयं रचनाकार डॉ. सतीश दुबे शासकीय सेवा में रहकर दीर्घकाल तक इन्दौर संभाग के आदिवासी क्षेत्र में रहे, इस तरह उन्होंने शासन की सहायता के साथ आधुनिकता के नाम पर शहरीकरण से अछूते न रह पाने वाले भीलों को, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक विकास की समस्याओं एवं जीवन-यापन की समस्याओं को अत्यन्त निकट से जाना पहचाना है । यही कारण है कि वह उपन्यास एक डाक्यूमेंट्री फील्म की तरह है, जिसमें लेखक सामाजीक कोर्ट में, घटनाओं के यथार्थ के साथ पीडितों की गवाही को जीवन्त रूप में रख रहा है । वह स्वयं सूत्रधार की तरह है । जो अपनी सोच को भी प्रेरित कर रहा है ।

हिन्दी के आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यासकारों ने एक ओर नगर, महानगरों से दूर पहाडों, जंगलों, नदियों और नालों की खोहों में बसे आदिवासियों को अपने उपन्यास का उपजीव्य बनाया है तो दूसरी और समंदर के तट पर छुट-पुट बस्तियों में बसे आदिवासियों को भी ।

उदयशंकर भट्ट ने बंबई के बारसोवा बीच के आदिवासी कोलियों को अपने उपन्यासों का साद्य बनाया है ।

➢ सागर लहरें और मनुष्य (१९६४)

प्रस्तुत उपन्यास में बंबई महानगर के पश्चिमी तट पर बसे आदिवासी मछुआरों के ग्राम बरसोवा का जीवन चित्रित हुआ है । कथानक अन्य आँचलिक उपन्यासों के कथानकों के प्रतिरूप एक अंचल से ही सम्बद्ध नहीं रहता । वह बम्बई महानगर के

बीच भी संचरण करता है अर्थात् उसका क्षेत्र दोहरा है । अन्य आँचलिक कथानकों में भी अभिप्रेत अंचल के साथ-साथ शहर या दूसरी जगहें आई हैं किन्तु वे हासिए पर होती हैं और सब सिमटकर उसी अंचल में केन्द्रित हो जाती है । कथानक कुछ देर के लिए बाहर निकलता सा लगता है किन्तु अपने को प्रभावित करनेवाली बाहरी संगतियों, विसंगतियों, शक्तियों, सीमाओं को समेटकर पुन: अपने आदिवासी क्षेत्र में आ जाता हैं किन्तु 'सागर लहरें और मनुष्य' में ऐसा नहीं हुआ है । ऐसा लगता है कि दोनों क्षेत्र लगभग समानान्तर चलते हैं । यद्यपि सारी कथा का पर्यवसान अभिप्रेत अँचल में ही होता है और कथानक बीच-बीच`में शहर से लौट आता है और बरसोवा को प्रभावित कर जाता है फिर भी वह दोहरे दायित्व में बँट गया हैं।

'पिछले चार दशकों से हिन्दी कथा में, और विशेष और पर झारखंडी पठार के कथाकारों में आदिवासी समाज और संस्कृति के प्रति नया रुझान विकसित होता दिखलाई पड रहा है । बेशक इस जन-पक्षीय रुझान और बदलाव का स्वागत होना चाहिए, किन्तु इसके समिांतर जारी छद्म लेखन और अपलेखन के खतरों के प्रति सतर्कता बरतने को भी उतनी ही जरूरत है । ऐसे भी कथाकार है जिनके पास आदिवासी समाज की समझ व छवि कोलाज शैली की है । कहीं धुंधली, कहीं रुमानी वे आदिवासी समाज की कथा लिख रहे होते हैं मगर यह जानने- समझने की जहमत नहीं उठाते कि उरांग और मुंडा समाज हो, गोंड समाज हो या खडीया या फिर बिरहोर या संताल समाज की जीवन शैली। परिवार, संस्था या आस्था विश्वास में कोई फर्क भी है । सच तो यही है कि जन-जातीय समान और उनका सामुदायिक जीवन भीतर से चाहे जितना उन्मुक्त और खुला हुआ हो, बाहरी लोगों के लिए एक बंद समाज ही है । ऐसे समुदायों के बारे में कथा लेखक की चुनौती

यही है कि वह उनकी सामाजिक मान्यताओं, सांस्कृतिक परम्पराओं, राजनीतिक, आर्थिक दबावों और बुनियादी संरचनाओं के अंतरंग से गहन साक्षात्कार के बिना संभव नहीं । यही कारण हैं कि विभिन्न कला रूपों में भी इन समुदायों की उपस्थिति अक्सर सतहीं और रुमानी हो जाती है ।'

आदिवासी जीवन निरुपण कला कुछ लोगों का फैशन है जिनमें राजेन्दअ अवस्थी का नाम लिया जा सकता है । मसीहापन की होड में लिखे उनके उपन्यास इसके उदाहरण हैं जिनमें आँचलिकताके सायास दर्शन होते हैं । विविध प्रदेशों में घूमकर वहाँ की बोलियों-उपबोलियों से एकत्रित शब्द जब उपन्यास में ठूँस दिये जाते है तो वे कृति में रचबस नहीं पाते और कृति के समग्र प्रभाव को तोडते दृष्टिगत होते हैं । किन्तु उनके कुछेक उपन्यास प्रस्तुत रचना शिल्प को अपनाते हुए भी कृति के समग्र प्रभाव को कसकर पकड रखते हैं । जिनमें 'जंगल के फूल' उपन्यास का नाम लिया जाता हैं ।

➢ जंगल के फुल (सन् १९६९)

'जंगल के फूल' बस्तर के आदिवासियों के जीवन की केन्द्र में रखकर लिया गया एक सशक्त आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यास है । यह उपन्यास १९६९ ई. में राजपाल एण्ड सन्स काश्मीरी गेट, दिल्ली से प्रकाशित हुआ । यह अवस्थी का दूसरा आँचलिक उपन्यास है । इसे लिखने से पूर्व अवस्थी ने सात-आठ महिने आदिवासियों के बीच गुजारे हैं । इस उपन्यास को राष्ट्रपति, बिहार, उतरप्रदेश और राजस्थान द्वारा पुरस्कृत किया गया है । इस उपन्यास का कथासार इस प्रकार है- सुलकसाये गढबंगाल के मुखिया का बेटा तथा घोटुल का सरदार हैं । वह गढबंगाल की ही लडकी महुआ से प्रेम करता है । दोनों एक दूसरे को जी-जान से चाहते है

और आजीवन देश की सेवा के लिए विवाह न करने का प्रण करते हैं । पिताजी बीमार होने के कारण सुलकसाए नेतानार के सिरहा की बेटी के विवाह में शरीक होने जाता है । वहाँ दुलहन 'भुसरी' उसके साथ नाचने लगती हैं। समूह में नृत्य करते समय लडकियों द्वारा दुल्हा-दुल्हन पर तेल फेंका जाता है । गलती से वह तेल भुसरी और सुलक पर पड जाता है । दुल्हे को बुरा लगता है । सुलकसाए शराब के नशे में था । दुल्हे ने 'भुसरी' पर टाँगी चला दी । वह सुलकसाए पर भी वार करना चाहता था । किन्तु सुलकसाए ने उसके पेट में हँसिया घुसेड दी । सुलकसाए अपने गाँव चला आया किन्तु नशा उतरने पर उसे घोर पश्चाताप हुआ। उसे चिंता थी कि महुआ क्या सोचेगी ? उसकी विमाता सत्ताय ने उसको बहुत लताडा । उसे घोर ग्लानि हुई । इसी ग्लानि के कारण वह गाँव छोड कर अपनी माँ के पास दंतेवाडा पहुँचता हैं ।

अंग्रेजों द्वारा अत्याचार आदिवासियों के लिए खौफनाक दृश्य बनता है । ये अत्याचार भरे दृश्य भोले-भोले आदिवासियों के मन में गोरी सरकार के प्रति विद्रोह की भावना भर देते हैं । दिन-प्रति-दिन बढते अंग्रेजों के अत्याचार और तानाशाही आदिवासियों को चिंता में डाल देते हैं । अंग्रेज शासक आदिवासियों को आपस में झगडाते हैं । इसी समस्या का निराकरण हेतु सभी आदिवासियों में से उत्साही और साहसी युवकों को चुना जाता है । इस चुने हुए दल का मुखिया सुलक को बनाया जाता है । दूसरी तरफ महुआ भी अपने निर्देशन में स्त्रियों की एक सेना संगठित करती है । दशहरे के पर्व पर गुण्डाधुर और सुलक राजा से मिलने का प्रयास करते है लेकिन कालिन्दर उन्हें मिलने नहीं देता । वह राजा और अंग्रेजों को इस संगठन के प्रति भडकाता है । अंत में प्रतीक्षा की घडियाँ समाप्त होती हैं और प्रत्येक गाँव

का दल अपने मार्ग में पडने वाली पुलिस चौकियों को नष्ट करता हुआ जगदलपुर की तरफ बढता है । आदिवासी जगदलपुर की घेराबन्दी करते हैं । तहसीलदार के अत्याचार तथा बेगार के प्रति विरोध उपजता है । और अंत में विद्रोह फूट पडता है । भोले-भाले आदिवासी उनकी धूर्त-कूटनीति से पराजित होकर भी खुद को नये संघर्ष के लिए समर्पित करते हैं ।

'जंगल के फूल' उपन्यास के बारे में डॉ. भाउसाहेब परदेशी लिखते हैं- 'बस्तर जिले के ग्राम्य जीवन का यथार्थ चित्रण इस उपन्यास की विशेषता हैं । प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने शहर से दूर रहनेवाले भोले-भाले आदिवासियों और इन लोगों की संस्कृति, रीति-रिवाज और मान्यताओं को यथार्थ के बहुत समीप रखा है । इसमें एक और आदिवासियों की संस्कृति, रीति-रीवाजों को चित्रित किया गया है तो दूसरी और अंग्रेजी शासन काल में आदिवासियों द्वारा किये गये विद्रोह को अंकित किया है। आदिवासी संस्कृति में प्रचलित 'घोटुल' पर तो अवस्थी जी ने इस उपन्यास में विस्तृत प्रकाश डाला है । लेकिन यह 'घोटुल' सेक्स आदान-प्रदान का केन्द्र नहीं है। आदिवासी न कभी सेक्स के लिए भूखे है और न ही वे किसी से भयभीत हैं । यह उपन्यास राष्ट्रीय भावना से भी ओतप्रोत है ।

यही उपन्यासकार की दूसरी 'जाने कितनी आँखे' कृति भी कुछेक अंशो में बुन्देल खण्ड के आदिवासी जीवन को चित्रित करती हुई दृष्टिगत होती है ।

➢ 'जाने कितनी आँखें' (१९६९)

यह अवस्थी जी का चौथा उपन्यास है । इसका प्रकाशन सन् १९६७ ई. में हुआ । इस उपन्यास में वर्णित सभी स्थितियाँ भारत स्वतंत्र होने से पहले की हैं। यह उपन्यास बुन्देलखण्ड के जन-जीवन पर आधारित है । इसके साथ ही नये-

पुराने मूल्यों का संघर्ष भी रचनात्मक ढंग से उभरा है । सुवेगा और कमलापति के प्रेम की इस दास्तान में आँचलिकता के तत्व अलग से आरोपित जैसे नहीं, उसमें धुले-मिले एकाकार योजित हैं । घाँटा के जंगल में फागू हरकारा शेर से भिड जाता है । गोड आदिवासी जाति को शेर को बडे भाई के रूप में जाना जाता है । खम्हेर खेडा और देवी यात्रा का मेला, बारंगदा का मेला, स्थानीय 'हेसू' उत्सव और अहीर तथा कुरमियों द्वारा 'कारसदेव' की पूजा आदि में प्रभूत आँचलिक तत्व है । उपन्यास की कहानी द्वितीय महायुद्ध काल की है । प्राचीन जडमूल्यों, जातिवाद, नैतिकता और सामाजीक नियंत्रण आदि के संदर्भ में सुवेगा की पीडा पाठकों की पीडा बन इस आँचलिक कृति को मूल्यवान बना देती है ।

प्राचीन मूल्यों को हिन्दी साहित्य में संवेदना के साथ उकेरने वाली राजीव सक्सेना की 'धर्म पुत्री सोमा' कृति भी यायावर आर्यों का जीवन एवं जीवन के रीति-रिवाजों, परम्पराओं, रूढियों, तीज-त्यौहारों को पाठक के सामने प्रस्तुत करती है ।

➢ धर्म पुत्री सोमा (१९७२)

इस उपन्यास में ऋग्वैदिक पृष्ठभूमि पर एक काल्पनिक कथा कही गई है । यायावर आर्यों का एक कबीला पाणि जाति पर विजय प्राप्त कर लेता है तथा दृशद्वती नदी के तट पर, एक कृषि आधारित सभ्यता को जन्म देता है । पाणि जाति पराजित होकर भी असंतोष और विद्रोह की भावना से धुँधवाती रहती है । विजयी आर्य पाणि जाति को अपने श्रम विभाजन में कुछ विशेष प्रकार का काम साँपना तो चाहते थे किन्तु बराबरी का दर्जा नहीं दे रहे थे । इसलिए दोनों के बीच एक तनाव पैदा होता है । लेखक ने सामाजिक तनावों के बीच प्रेम संबंधों का भी

कुशलता से चित्रण किया है । प्रेम संबंध भावात्मक एकता तो उभारते ही हैं विषम सामाजिक यथार्थ की परतें भी खोलते हैं । लेखक ने कथा को तत्कालीन रंग देने के लिए उस समय के शब्दों का भी रचनात्मक प्रयोग किया है ।

उपर्युक्त उपन्यासों को इसलिए प्रस्तुत किया है कि वर्तमान आदिवासी जीवन की जडें कहीं-न-कहीं इस प्रकार के उपन्यासों में हमे दृष्टिगत होती हैं ।

जन जातीय कथाभूमि को हिन्दी पट्टी से बाहर ले जाने वाली औपन्यासिक कृतियों की मुख्य रूप से चर्चा जरूरी लगती है । हिमांशु जोशी के उपन्यास महासागर में निकोबार द्वीप की आदिवासी जाति को पेश किया गया है ।

➢ महासागर (१९७३)

'महासागर' में शहीद दिनमणि आजाद का पुत्र साकेत अपने परिश्रम तथा दीपदी की सहायता से दूसरी माँ के परिवार के प्रति उत्तरदायित्व भिनाता हुआ इंजीनियरींग में टॉप करता है । विषम परिस्थितियों में दृढता कार्य कुशलता तथा असीम उत्साह से अपना कार्य करने पर उसे तरक्की मिलती है और वह दिल्ली आ जाता है । उसके साथ संस्कारों से मुक्त आदिवासी मजदूरीन नोनो नीना के रूप में उसकी पत्नी बनकर आती है पर उसकी व्यस्तता, सभ्यता के सद्‌गुण तथा माँ और छाया की मृत्यु, अन्नी का रूप के साथ चले जाने से पैदा घर का अकेलापन उसे न जी ने देता है, न मरने देता है । अस्वस्थ दीप उसका एकाकीपर दूर नहीं कर पाती । एक दिन वह दो हाथ जगह के लिए साकेत के पीछे निकोबार चली जाती है । साकेत खोजता हुआ जब निकोबार पहुँचता है तब उसे केवल उसकी अस्थियाँ तथा उसका बच्चा मिलता है । बच्चे को लेकर वह घर लौट आता है, पर उसे लगा वक्त आ गया है । वह सब कुछ छोडकर निकोबार लौट जाता है । जिसके लिए फिर

से नौकरी कर जिन्दगी शुरू करने की दीप की इच्छा भी उसे रोक नहीं पाती । बच्चे के गोद में लिये वे रोती रह जाती हैं । उपन्यास के ये तीनों पात्र जिन्दगी चुनते तो स्वयं हैं पर उसे जीने का ढंग शायद नहीं आता और वे नियति के हाथों की कठपुतली बनकर रह जाते हैं ।

➢ अरण्य (१९७३) हिमांशु जोशी

कूमांचल के उदास घरों में बसने वाले आदिवासियों के मलीन चेहरों एवं उदास आँखो की व्यथा-कथा है । अनाथ कावेरी अपने मामा माधव प्रधान के यहाँ रहकर एक खामोशीभरी जिन्दगी जीती है । हिरदे राम का बिगडैल बेटा मानिक अपने दुर्व्यसनों में भी उसकी सहानुभूति पाता है । एक दिन मानिक अपने अपराध के लिए कावेरी से तिरस्कृत होकर गाँव छोडकर भाग जाता है । बाद में कावेरी की शादी बूढे ठेकेदार के साथ हो जाती है । मानिक, कावेरी के विवाह के बाद फौजी बन गाँव लौटता है । मानिक कावेरी की सोयी पीडा जगाकर वापस फौज में चला जाता है । वह कावेरी की सहायता करता है और एक दिन युद्ध में शहीद हो जाता है । कावेरी का पति भी आत्महत्या कर लेता है । कावेरी उपन्यास के अंत तक मानिक की प्रतीक्षा करती है ।

➢ कांछा (१९७३), अंधेरा और (१९७३), सुराज (१९७३)

'सुराज' हिमांशु जोशी की कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से नई उपलब्धि है । इसके लघु कलेवर में व्यापक फलक की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है । इसमें 'सु-राज', 'अंधेरा' और 'काँछा' यह तीन लघु उपन्यासिकाएँ संकलित हैं । 'सु-राज' में कुमाऊँ का पर्वतीय अँचल, 'अंधेरा और' में तराई का आदिवासी जीवन तथा 'काँछा' में भारत के सीमावर्ती क्षेत्र का अंकन हुआ है । 'तीन अलग-अलग

उपन्यासिकाएँ होने के बावजूद कहीं ये एक तसवीर में समाई तीन अलग-अलग तसवीरें हैं । रूप, रंग, भावभूमि और निरूपण सब अलग-अलग है । अनेक अंतर्विरोध हैं, परन्तु इन भिन्नताओं के बावजूद भी कहीं घोर अभिन्नता ।' अलग-अलग क्षेत्रों की यह तीन कथाएँ अपने कथ्य में आंतरिक संलाप रखती हैं । ये तीनो क्षेत्र मानो त्रिभूज के तीन कोणों की तरह परस्पर जुडे हैं । इन पर क्रमश: आगे आलोचना की जाएगी ।

➢ कगार की आग (१९७८)

यह पर्वतीय आदिवासी जीवन पर आधारित लघु उपन्यास है । इसमें अंचलीय परिवेश तो है लेकिन सही अर्थों में यह अँचल जीवन पर लिखा गया उपन्यास न होकर पारिवारिक यथार्थ का उपन्यास लगता है । परिवार के केन्द्र में पहाडी गोमती नामक एक स्त्री है जो परिवार और भ्रष्ट सामाजीक तत्वों से पीडित होती है । वास्तव में गोमती बहुत दूर तक पहाडी नारी की पारिवारिक और सामाजीक यातना का प्रतिनिधित्व करती है किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि काफी दूर तक उसे अपनी नियति ने अकेला बना दिया गया है । लगता है कि अधिक करुणा उपजाने के लिए उसे अनेक प्रकार की यातनाओं से सायास जोड दिया गया है, उसकी प्रतिकूल परिस्थितियों और पात्रों को कहीं भी मानवीय होने का अवसर नहीं दिया गया है इसलिए यह उपन्यास यातना या अनुभव को गहराई से उभारता है किन्तु कोई नई सामाजीक भूमिका नहीं निर्मित कर पाता । गोमती के अन्त में उभरा हुआ आक्रोश भी व्यक्तिगत धरातल का आक्रोश बनकर रह जाता है ।

➢ पिंजरे में पन्ना (१९८१)

'पिंजरे के पन्ना' राजस्थान के गाडिया लुहार आदिवासी जाति के जीवन को

केन्द्र में रखकर लिखा गया मणि मधुकर का लघु उपन्यास है । रेगिस्तान जिसकी जन्मभूमि है ऐसे गाडिया लुहार और उनके द्वारा निर्मित कला को प्रस्तुत उपन्यास में विशेष स्थान दिया है । आदिवासियों में स्थित इन जातियों की अपनी निजी पहचान, मूल्य, परंपरा, रीति-रिवाज और संस्कृति है । आधुनिकता से यह जीवन पूर्णत: बेखबर है । प्रस्तुत उपन्यास में मुख्यत: तीन कथाओं का समावेश किया गया है । गाडिया लुहार, ख्याल की नायिका पन्ना और नंदेरम्या की लोककला की गवेषणा यह तीन कहानियाँ समांतर चलती हैं । तीनों कथाओं के माध्यम से रेगिस्तान का संघर्षमय जीवन, यायावर समाज की समस्याएँ एवं वहाँ के लोगों की लोक संस्कृति को वाणी दी है । आदिवासी गाडिया लुहारों की कथा से यायावर जीवन पन्ना की कथा के यायावार जाति की कला प्रदर्शनी एवं लोककला की झाँकी साथ में, नारी शोषण की हृदय द्रावक स्थिति एवं नंदेरम्या की कथा से लोककला के उत्स की गवेषणा का अंकन हुआ है । उपन्यास में कहीं-कहीं शोषण और अन्याय के प्रअति चेतना भी पाई जाती है । मूलत: प्रस्तुत उपन्यास लोक जीवन एवं लोक संस्कृति को केन्द्र में रखकर यायावर गाडिया लुहार जाति का जीवंत दस्तावेज बनता है ।

➢ जंगल के आस-पास (१९८२)

राकेश वत्स का 'जंगल के आस-पास' दमकडी के आदिवासियों के जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया एक सशक्त आंचलिक उपन्यास है । इसमें सोन नदी के किनारे फैले जंगल और पहाडियों में बसे दमकडी अँचल के पिछडे और शोषित आदिवासियों का आधुनिक सभ्यता से अलग एवम् अभिशप्त जीवन चित्रित हुआ है। आतंक, अन्याय, पूंजीपतियों द्वारा किया जाने वाला अमानुष शोषण जंगली जानवरों

की समस्या, अभाव और नई चेतना कथा के महत्वपूर्ण बिन्दू हैं ।

उपन्यास का कथानक दमकडी अंचल और वहाँ के आदिवासियों से संबंधित है । राय साहब दमकडी के अकेले बेताज बादशाह हैं । कानून जमींदारी उन्मूलन हो गया लेकिन आज भी उनके ठाठ एक राजा की तरह हैं । युगीन परिवेश में अपनी सत्ता कायम बनाए रखने हेतु षडयंत्र से राजनीति में प्रवेश करके विधायक बन जाता है । पुलिस स्टेशन, अदालत सभी उन्हीं के इशारे पर चलते हैं । दमकडी का सारा इलाका पूँजीपति, महाजन, पुलिस और नेताओं से अत्यधिक आतंकित है । उपन्यास में ओझा का पात्र भी अमानुष का प्रतीक बनकर प्रवेश करता है । ओझा और राय साहब की मर्जी के खिलाफ बहुत कम लोग हैं जो कदम उठाने का साहस करते हैं । यदि करें तो उसके साथ अमानुष व्यवहार किया जाता है । एक तरफ दमकडी के आदिवासियों का उच्च वर्ग के द्वारा शोषण निरूपित हुआ है तो दूसरी तरफ वहाँ का प्राकृतिक परिवेश भी चित्रित हुआ है । जंगल एवं पहाडों से धिरे दमकडी अंचल का प्राकृतिक परिवेश अत्यंत जटिल एवं कठिन है । पिछडे और अछूते आदिवासी क्षेत्र का आतंक, शोषण, पिछडापन अभाव आदि उपन्यास के मूल तथ्य हैं ।

हिन्दी कथा साहित्य में बटरोही का नाम भी जाना-माना है । उन्होंने भी अपने कथा साहित्य सृजन के लिए पहाडों की खोदों को खोजा है । अल्मोडा जिले की गहरी घाटियों में बसा आदिवासी जीवन उनकी साहित्य साधना का विषय बना है ।

➢ महर ठाकुरों का गाँव (१९८४)

'महर ठाकुरों का गाँव' अल्मोडा जिले की गहरी घाटियों में बसे आदिवासी महर ठाकुरों के जीवन को प्रदर्शित करनेवाला बटरोही का एक अच्छा आदिवासी

जीवन केन्द्रित उपन्यास है । कथा भूमि के केन्द्र में अल्मोडा जिले का सीरगाड नामक पहाडी अछूता अंचल है । जहाँ महर ठाकुरों की बस्ती है । नई सभ्यता एवं संसार से कटी इस आदिवासी जाति का अभिशप्त जीवन पूर्णत: पृथक है । अपने आस-पास की दुनिया ही उनका संसार है । धर्म के जाल में फँसे लोगों की करुण कहानी को उपन्यास वाणी देता है । कथा का प्रारंभ हरदा नामक युवक के सीरगाड अंचल में आगमन से होता है । चौदह साल की अवस्था में गाँव से बनारस जाकर धर्म ग्रन्थ और विधि का अध्ययन कर शास्त्री बनकर आता है । गाँव में व्याप्त अज्ञान, अंधविश्वास, रुग्ण परंपराएँ, पंडितो के प्रति अंधी आस्था उनके द्वारा किया जाने वाला शोषण, भूत-प्रेत की मान्यताएँ, छूआछूत, धार्मिक आडम्बर आदि का जमकर विरोध करता है। गाँव के पाणेज्यू, दलीपसिंह प्रधान आदि को हरदा के नाम अखरते हैं । क्योंकि वे चाहते नहीं कि गाँव का विकास हो । अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए वो हरदा के विरोध में जनमत तैयार करते हैं । धर्म और देवी-देवता के माध्यम से वे भोले-भाले गरीब लोगों को दबाए रखते है । अत: संपूर्ण गाँव हरदा के विरोध में खडा होता है किन्तु हरदा टस से मस नहीं होता । वह गाँव के लिए रचनात्मक कार्य करता है । लोगों को शिक्षा, अधिकार, वैज्ञानिकता, रुग्ण परंपराओं का नए सिरे से अध्ययन कराके नई मानसिकता तैयार करता है । अत: हरदा के अथक, संघर्षशील प्रयत्नों से संपूर्ण गाँव उपर्युक्त दर्ज समस्याओं से मुक्त होता है ।

वन, पहाड, नदियों, घाटियों की खोहों में जीवन थापन करनेवाली आदिवासी जातियों में बिहार की कुछेक आदिवासी जातियाँ भिन्न भिन्न दृष्टिगत होती है । सुरेशचंद्र श्रीवास्तव का ववण्ये बिहार की पराहिथा आदिवासी जाति को केन्द्रो में रख लिया गया उपन्यास है ।

➢ वनतरी (१९८६)

'वनतरी' (१९८६) सुरेशचंद्र श्रीवास्तव का विशुद्ध आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यास है । जिसकी कथाभूमि बिहार राज्य के होयहात् प्रखंड की डुमरी अंचल है। डुमरी अंचल में भुइयां, तुरी, महरा, महतो आदि आदिवासी बसते हैं । किन्तु प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने केवल परहिया आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखा है। वन, पहाड, नदियों की खोह में जीवनयापन करनेवाली और जंगल पर निर्भर इस आदिवासी जाति का जीवन अन्य आदिवासी जातियों से बिल्कुल पृथक है । उपन्यास का शीर्षक चरित्र प्रधान होने की आशंका उत्पन्न करता है किन्तु यह मात्र बनतरी की कहानी न होकर वनतरी के बिरादरी की कहानी है । उपन्यास में कथानक का पूर्णत: अभाव है। इसमें परहिया आदिवासी जीवन का पिछडापन, अभावग्रस्तता, प्राकृतिक परिवेश, शोषण और व्यवस्थागत विसंगतियों का यथार्थ लेखा-जोखा प्रस्तुत हुआ है । साथ में, मिथिल वनतरी की प्रेम कहानी भी उपन्यास की मूल कथा में अपना स्थान रखती है।

बुद्ध परहिया के घर जन्मी वनतरी के जीवन के साथ कटते जंगल एवं लुप्त होती परहिया आदिवासी जाति के प्रति संवेदना और जीवन संघर्ष को वाणी प्रदान करना उपन्यासकार का लक्ष्य रहा है । सिस्टर मरियम्मा की सहायता से वनतरी हाई स्कूल तक की पढाई पूर्ण करती है । वनतरी पढी-लिखी होने के कारण उसमें अधिकार बोध एवं चेतना संक्रमित होती है । अपनी आदिवासी जाति के लिए अन्याय एवम् शोषण का डटकर विरोध करती है । ठाकुर परमजीत सिंह गाँव के जमींदार हैं । जमींदारी टूटने के बावजूद भी वे पुरी तरह से अपनी सत्ता और स्थान कायम बनाए हुए हैं । अपनी राजनीति का प्रयोग करके बडे-बडे अधिकारियों से हाथ

मिलाकर सामान्य गरीब गाँव की भोली-भाली जनता को लूटते हैं । उनमें मानवीय संवेदना का अभाव है । वनतरी इन सारी समस्याओं का सामना करती इनका हल खोजती है । वस्तुत उपन्यास में उपन्यासकार ने वनतरी के माध्यम से एक आदिवासी युवती के विद्रोह को व्यापक फलक पर चित्रित किया है ।

हिन्दी भाषी प्रदेश से हटकर अमुक रचनाकारों ने अहिन्दी प्रदेश को अपने उपन्यास की कथाभूमि बनाई है जिनमें डॉ. एन. रामन नायर का नाम लिया जाता है ।

➢ सागर की गलियाँ (१९६७)

डॉ. एन. रामन नायर का 'सागर की गलियाँ' उपन्यास अहिन्दी प्रदेश पर लिखा एक अलग किस्म का उपन्यास है । इसमें केरल के दक्खिनी छोर पर कन्याकुमारी से साठ, सत्तर मील की दूरी पर अरब सागर के तट पर बसा तुरुत अंचल केन्द्र में है । सागर पर निर्भर जीवन यापन करनेवाले आदिवासी मछुआरों की कथा इसमें चित्रित हुई है । प्रकृति पर निर्भर जीवन, परम्परागत जीवन में हो रहा परिवर्तन, लोकतंत्र और चुनाव का पतन, स्मगलिंग, मूल्य पतन, यौन विकृतियाँ आदि को भी इसमें समेटा है । इसीके तहत इसका फलक सीमित होने पर भी यह केरलीय परिवर्तनशील जीवन को भी परिभाषित करता है । नई मानसिकता के तहत मूल्यों में हो रहा परिवर्तन, बदलते संबंध, व्यवहारिकता, अंधी आधुनिकता और अर्थलोलुपता का लेखन ने यथार्थ अंकन किया है ।

स्वातंत्र्योतर हिन्दी कथा साहित्य में दो प्रकार की धाराएँ प्रवाहमान रही हैं। एक नगरों एवं महानगरों के जीवन को चित्रित करने वाली, तो दूसरी ओर अछूते अँचलों के प्रति सम्मोहित । हिन्दी साहित्य के अछूते अँचलों की टोह लगाने वाले

शानी जी इसी दूसरी धारा के प्रति समर्पित रहे हैं । वे बडे विश्वास के साथ सहज और सरल जीवन को चित्रित करने के लिए लालायित हैं । उन्होंने आँचलिक जीवन के संप्रेषण में पिटी-पिटाई पद्धतियों एवं माध्यमों को तोडा है । पुराने जर्जर मूल्यों की अपेक्षा नये मूल्यों की तलाश की है । शानी ने बडी सूक्ष्मता के साथ आजादी के पश्चात् शहरी और ग्रामीण जीवन के साथ-साथ आदिवासी जीवन में आये बदलाव को रेखांकित कीया है ।

शानी के उपन्यास मुख्यत: 'बस्तर अँचल' की पृष्ठ भूमि पर रचित है, जिनमें 'बस्तर अँचल' का स्वर प्रधान है, पर इसे वे आँचलिक उपन्यास नहीं मानते । 'बस्तर अँचल' के आदिवासियों के जीवन पर लिखित 'शालवनों का द्वीप'कृति भी ख्याति प्राप्त है।

➢ शालवनों का द्वीप' (१९८६)

'शालवनों का द्वीप' कथाकार शानी की एक ऐसी सशक्त रचना है जिसका प्रकाशन १९६७ में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली द्वारा हुआ था । यह कृति हिन्दी कथा साहित्य में एक अलग विधा का सूत्रपात करती है, क्योंकि यह न तो उपन्यास है, न ही यात्रा वर्णन और न ही पूर्णत: संस्मरण । जिन अर्थो में संस्मरण विधा प्रचलित है, उसका यहाँ अभाव है । यह एक तरह से कथात्मक विवरण है जो हमें मध्यप्रदेश के बस्तर, के घोर आदिवासी भू-भाग, अबुझमाड के छोटे से गाँव ओरछा में रहनेवाले आदिवासियों के सामाजिक जीवन से अवगत कराता है । इसी कृति के जरिए बस्तर के आदिम जाति मडिया-गोंडों की जीवन पद्धति, रीति-रिवाजों, रूढियों, धार्मिक मान्यताओं के साथ-साथ उनके सुख-दु:ख को भली-भाँति जाना पहचाना जा सकता है । एक तरह से शानी ने अबूझमाड के ओरछा नामक गाँव के माडिया

गोंडों की सामाजीक मान्यताओं एवं रूढियों के मलबे में दबी मनुष्य-पीडा और उल्हास की बडी सजीवता से चित्रित किया है ।

➢ शैलूष (१९८६)

शिवप्रसाद सिंह का 'शैलूष' उपन्यास आदिवासी नट जीवन का समग्र एवं जीवंत दस्तावेज है । लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि पर आधारित इस कृति में नट आदिवासी जीवन के अंतर्विरोध, आर्थिक विपन्नता, रुग्णता, शारीरिक संबंधों की जडता, नई चेतना, संघर्ष, शोषण आदि विभिन्न संदर्भों का प्रस्तूतीकरण हुआ है ।

उपन्यास की कथा मूलत: यायावर जीवन जीने वाले नटों के जीवन पर आधारित है। कथा की पृष्ठभूमि चंदौली तहसील का खेतीपुर गाँव है । सरकार की परियोजनाओं के अंतर्गत भूमिहीन नटों को चालीस एकड जमीन प्रदान की जाती है। किन्तु उपन्यास का शोषक पात्र एवं गाँव का जमींदार धुरफेकन तिवारी बडे अजगर की भाँति है । जमीन को बचाने हेतु नट सब्बो के नेतृत्व में धरफेकन का जमकर विरोध करते हैं । प्रस्तुत उपन्यास के विस्तृत कथानक में जमींन की लडाई ही उपन्यास का घटना केन्द्र रही है । व्यापक तौर पर लडाई होने के बाद अंतत: आदिवासी नट ही जमींन के असली मालिक बनते है । कुछ गौण कथाओं का भी समावेश हुआ है । आदिवासी नटों का अभावग्रस्त जीवन और लोकसंस्कृति के अंकन हेतु विभिन्न कथाओं का संयोजन भी हुआ है । रजिया, गोपू, रुपचंद, रेवती, जुडावन, सावित्री, ननकू, मयनवा, सूरज, सलमा और अमरित ताहिरा की प्रेम कथाएँ विभिन्न संदर्भ उद्‌घाटित करती हैं । लेखक ने ब्राह्मण कन्या सावित्री को नट जुडावन की प्रेमिका-पत्नी बताकर तत्कालीन समय के लिए चुनौती भरा काम किया है । मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने वाले पात्रों में सुरेन्द्र शुक्ल और कलेक्टर

सारस्वत का नाम लिया जाता है । इसके सिवा उपन्यास में मुख्य कथा के साथ गौण कथा के रूप में चमारों की कथा भी समांतर चलती है । वह भी शोषण के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करते हुए दिखाई देते हैं । उपन्यास में पुलिस विभाग का भी विस्तृत अंकन मिलता है । अनेक गौण कथाएँ नटों के जीवन को उद्‌घाटित करने में सहायक होती है । कथा में व्यापक बिखराव के बावजूद संयोजन और सरसता है ।

बीसवीं सदी में भारतीय आदिवासी समुदायों की अर्थ व्यवस्था में वस्तु विनिमय प्रणाली के नष्ट होने के बाद जब से मुद्रा विनिमय का चलन बढा तब से आदिवासी जातियाँ महाजनी शिकंजे में फँसती गई । अभूतपूर्व औद्योगीकरण के साथ विस्थापन का नया जल-जला शुरू हुआ । नतीजतन, इन अँचलों में एक खेतिहर समाज भूमिहीन मजदूर वर्ग में बदलने को अभिशप्त हुआ है । कोयलांचल-शिल्यांचल का पूरा झारखंड क्षेत्र ऐसे हादसों से भरा पडा है । 'धार' या 'समर शेष है' इसी जमीन के उपन्यास है । इसकी अनुगूँज 'डूब' और 'पार' (वीरेन्द्र जैन) तक सुमुखर सुनी जा सकती है। महाजनी और सामंती दखलंदाजी की मिसालें 'सावधान नीचे आग है' तक पसरी हुई हैं । इसी तरह 'पाँव तले की दूब' (संजीव) में आदिवासी समाज की नवीनतम आकांक्षाओं और संघर्षों को वैचारिक आंदोलनों के साथ उत्कर्षित किया गया है । इस अर्थ में वह हिन्दी पट्टी की आदिवासी जातियों के विगत अथवा अतीत के विघटन का सखेद आख्यात नहीं है, बल्कि उसमें झारखंडी अस्मिता के तात्कालिक वर्तमान और अनागत भविष्य की पदचाप सुनाई पडती है । उपर्युक्त उल्लिखित उपन्यासों का क्रमश: परिचय यहाँ प्रस्तुत है ।

➢ धार (१९९०)

नवम दशक के अंतिम वर्ष (१९९०) में प्रकाशित संजीव का 'धार' उपन्यास आँचलिक उपन्यास की एक नई उपलब्धि है । इसमें पूर्णत: अछूते क्षेत्र और विषय का उद्‌घाटन हुआ है । बिहार संथाल परगना में कोयला अँचल की खदानों में काम करनेवाले श्रमजीवी आदिवासियों की व्यथा को इसमें व्यापक फलक पर परिभाषित किया है । उपन्यास के केन्द्र में संथाल परगना का बांसगडा अंचल और संथाल आदिवासी नारी 'मेना' है । उसी के परिप्रेक्ष्य में आदिवासी जीवन, संघर्ष और चेतना का विस्तार होता है । संथाल परगना की कोयला खदानें आदिवासियों के श्रम पर खडी हैं । वे खदानों में कडी मेहनत कर कोयला उत्पादन करते हैं । लेकिन पूँजीपति महेन्द्र बाबू- ठेकेदार, माफिया, पुलिस, अधिकारी और सदोष व्यवस्था के कारण उनका जीवन शोषित, आतंकित, अभावग्रस्त और असुरक्षित मिलता है ।

➢ डूब (१९९१)

इस उपन्यास के केन्द्र में लडैई गाँव है । इस केन्द्रीय गाँव के इर्द-गिर्द के गाँव, कस्बे, इलाके आते-जाते रहते हैं । यद्यपि अपने नाम के अनुरूप यह उपन्यास मुख्य रूप से डूब की समस्या से जूझता रहता है किन्तु उस प्रक्रिया में गाँव के अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक सवालों में रूबरू होता है । अनेक समस्याओं तथा मूल्यों से टकराता है, अनेक मनोवैज्ञानिक सत्यों का साक्षात्कार कराता है । अनेक प्रकार के चरित्र उभरते हैं जो हमारी सामाजिक बनावट और मानव-मन की जटिलता की पहचान कराते हैं । हाँ, अवश्य है कि अन्य आँचलिक उपन्यासों के विपरीत इस उपन्यास में पर्व-त्यौहारों, पेड-पौधों, खेतों, नदी-नालों, मौसमों, ऋतुओं के साथ आदमी के भावात्मक लगाव की कथा उपस्थित है ।

➢ पार (१९९४)

युवा कथाकार वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'पार' बुन्देलखंड अंचल के आदिवासी जीवन के एक दस्तावेज के तौर पर महत्वपूर्ण है । वीरेन्द्र जैन का दूसरा उपन्यास 'डूब' की पृष्ठभूमि बुंदेलखण्ड अंचल का ग्राम समाज है तो 'पार' की पृष्ठभूमि उसी अंचल का आदिवासी समाज है । 'पार' एक स्वतंत्र उपन्यास तो है ही 'डूब' का पूरक भी है । प्रस्तुत उपन्यास का कैनवास १९५२ के आसपास का है । आजाद भारत के चालीस-पचास साल कई उम्मीदों के टूटने और कई प्रतीक्षाओं के निष्फल होने के साल भी हैं । 'पार' दो गाँवों-जीरोन और लडैई के माध्यम से खंडित हो रही जीवन पद्धति और अस्मिता को बचाए रखने की लडाई में गाँव के लोगों की भागीदारी की कहानी है । वर्तमान तकनीकी की अनभिज्ञता एवं धार्मिक अंधविश्वास के कारण शोषित आदिवासी समाज की करुण कहानी को अंजाम देने वाला प्रस्तुत उपन्यास एक और आदिवासियों की जीवन शैली के प्रति हमदर्दी प्रकट करता है तो दूसरी ओर शोषकों के प्रति तीखा व्यंग्य दर्शाता है ।

'पार' की कथा आदिवासी खेरे जीरोन से प्रारंभ होती है । सरकार की योजनाओं, ज्ञान-विज्ञान एवं मानव सभ्यता से कटे इस भूखंड का आधार प्रकृति है या आदिमकालीन खेती का तरीका । अपने समाज की जरूरतें वे लोग प्रकृति से या तो खेती से पूर्ण करते हैं । उनके दूसरे व्यवसायों में शहद बेचना, शिकार करके खाल बेचना, लकडी इकट्ठा करके गैर आदिवासियों को बेचना आदि होता है । जीरोन के आदिवासियों को विकास की परियोजनाओं की कोई जानकारी नहीं है । वे प्रकृति पर बाहरी दखलों और उसके हरेपन के मिटने को ही देख रहे हैं । या फिर लडैई आदि गाँवों से लोगों के खिसक जाने के कारण आदान-प्रदान की मात्रा

में आ रही कमी को। वे समझ रहे हैं कि स्थितियाँ अब उनके लिए वैसी उपयुक्त नहीं रहीं जैसी अब तक हुआ करती थीं । बाहरी दखलों को खदेडने का उपाय भी वे सोच रहे हैं । उन्हें ऐसा आभास भी हो रहा है कि लोग उजड कर इधर-उधर भाग रहे हैं । यही उनका केन्द्रीय डर भी है कि कोई जीरोन में आकर न बस जाए। साथ में, वहाँ राउत आदिवासियों के सामाजिक रीति रिवाजों की कथा भी प्रस्तुत उपन्यास में निरूपित हुई है । समाज के नियमानुसार अगले मुखिया जिसे राउतों की भाषा में गुनिया कहा जाता है, की घोषणा उसके जन्म पर ही करनी है । गुनिया घोषित होने के बाद गुनिया-माई को पुरुष सहवास से वंचित होना है । गुनिया का चुनाव गुनिया-माई का चुनाव भी है । मूल समस्या स्त्री को प्रतिबंधित किये जाते की है । उपन्यास की मुइया तथा फुलिया प्रस्तुत संदर्भ के उदाहरण है । जो एक सहज स्त्री का करुण आक्रांत है।

'पार' में जीरोन के साथ-साथ 'लडैई' की यात्रा भी चल रही है । लडैई 'डूब' क्षेत्र में आता है । सब लोग डूब में ही गाँव छोडकर दूर दराज भाग निकले थे । वे मुरैना, चंदेरी आदि बाहरी कस्बों में बस गये । गाँवों में बची है उनकी स्मृति। विस्थापितों की समस्या भी प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य समस्याओं में से एक समस्या है ।

➢ जहाँ बास फूलते हैं (१९९७)

श्री प्रकाश मिश्र रचित 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास में आदिवासी लुशेइयों की जीवन पद्धति, उनके रीति-रिवाजों, परम्पराओं, रुढियों, आदर्शों को रेखांकित किया है । लुशेइयों की समस्याओं को उनके-जीवन संदर्भों के बीच से उभार कर और जन तथा सरकार दोनों के दृष्टिकोण को सामने रखकर एक बडी जरूरत, एक

बडी माँग को पूरा किया है । उन्होंने इस समस्या का कोई हल नहीं प्रस्तुत किया है । किन्तु उन्होंने जो इसकी आंतरिक यात्रा प्रस्तुत की है, पहचान और झाँकी प्रस्तुत की है वह हमें बैलोस सच्चाइयों के रू-ब-रू खडा कर देता है । वहाँ का तथ्यपरक जीवन और दास्तान इस तरह से प्रस्तुत हुआ है कि इससे गुजरते हुए आप वहाँ की पहाडियों की ऊँचाई, कटानों का तीखापन, नदी का बहाव, आसमान की चमक, भूख से ऐंठते आदमी का रंग, बूटों की आवाज, शिकारी की चालाकी, हवा की छुअन, धूप की गर्मी अपनी नस-नस में महसूस करेंगे और पायेंगे कि इस तरह उन्होंने हिन्दी साहित्य और उसके माध्यम से भारतीय आदिवासि अस्मिता को रेखांकित किया है ।

➢ काला पहाड (१९९९)

भगवानदास मोरवाल का सन् १९९९ में प्रकाशित 'काला पहाड' देश में बढती हुई सांप्रदायिकता पर गहरी संवेदनाओं को व्यक्त करनेवाला आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यास है । स्वार्थी राजनेता सत्ता, संपत्ति पाने के लिए किस सीमा तक गिर सकते हैं उसका बेबाक चित्रण है । सामान्य लोगों को मोहरा बनाकर उनसे राजनीतिक शतरंज खेलते हैं । आमआदमी ही सांप्रदायिक दंगों में अनान्वित अत्याचारों के ग्रास बनता है । इस कथ्य की कर्मभूमि है हरियाणा, उत्तरप्रदेश और राजस्थान की सीमा पर स्थित मेवात, जहाँ इस्लाम धर्मो आदिवासी मेव नाम की अल्पसंख्यक हिन्दुओं के साथ शांति और सद्भावना के साथ वह जाति अपनी जिन्दगी बिताती है । पर कुछ स्वार्थी लोग सांम्प्रदायिकता का जहर घोल देते हैं । सद्शक्ति की पराजय होती है । काला पहाड की कथा अँचल विशेष की होने पर भी अपनी मूल प्रकृति में पूरे देश का प्रतिनिधित्व करती है । ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का टूटना, मानवीय स्नेह सौहार्द का क्षय समुचे देश का कटु सत्य है ।

➢ 'जंगल जहाँ शुरू होता है' (१९९९-२०००)

नवें दशक के बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कथाकार संजीव जी का 'जंगल जहाँ शुरू होता है' उपन्यास आदिवासी धारु जाति और डाकुओं एवं राजनीतिज्ञों के आपसी लडाई को प्रदर्शित करता है । उपन्यास संकेत करता है कि जंगल हर मनुष्य में पनपता रहता है जिससे हमारा अक्सर सामना होता रहता है । भारत नेपाल की सीमा में स्थित चंपारण्य जिले के मिनी चंबल नाम से कलंकित क्षेत्र के आदिवासी धारु जाति का संघर्षमय जीवन यहाँ उकेरा गया है । वहाँ स्थित आदिवासियों को बार-बार डाकुओं से लडना होता है । प्रशासन, समाज विरोधी तत्व, राजनेता, पुलिस आदि से डाकुओं को पोषित किया जाता है । गहन चिंतन-मंथन से यह कचोटने वाला तथ्य रेखांकित करते हैं कि अपराधी मनोवृति रक्तगत वंशगत नहीं होती अपितु तथाकथित सभ्य सफेद पोश राजनेता, पुलिस अधिकारियों के सम्मिलित जुल्म शोषण ही अपराधी तत्वों के निर्माता हैं । वे डाकुओं से भी गये गुजरे होते हैं ।

➢ अल्मा कबूतरी (२००० ई.)

'अल्मा कबूतरी' यायावर कबूतरा आदिवासी जीवन को केन्द्र में रखकर लिखा गया 'मैत्रेयी पुष्पा' का सशक्त उपन्यास है । जिसका प्रकाशन इ.स. २००० में राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से हुआ । प्रस्तुत उपन्यास अट्ठारह अध्यायों में विभाजित है । उपन्यास की कथाभूमि में बुन्देलखंड की 'कबूतरा' नामक आदिवासी जाति है जो अपना संबंध जौहर के लिए किंवदंती बन चुकी रानी पद्मिनी से जोडती है तथा पौराणिक युग तक छलांग लगाकर महादेव शिव के समाज में शामिल हो जाती है । यह जाति आज भी समाज के वृत्त पर डेरा डालकर जीती है । खूटे

उखाडे और पुन: गाडे जाते हैं किन्तु वृत्त के भीतर नहीं परिधि की रेखा से सटे या उससे बाहर ।

उपन्यास में प्रमुखत: दो समाजों को चित्रित किया गया है । पहला आदिवासी कबूतरा समाज, दूसरा सभ्य समाज जिसे कबूतरा जाति के लोग अपनी भाषा में 'कज्ञा' कहते हैं । आदिवासी कबूतरा जाति के प्रतिनिधि पात्रों में कदमबाई, भूरी, अल्मा, राणा, रामसिंह, सरमन, दूलन आदि है । सभ्य समाज के प्रतिनिधि पात्रों में मंसाराम, जोधा, केहरसिंह, राणा, धीरज, सूरजभान, श्री रामशास्त्री आदि हैं ।

कथा का प्रारंभ मंशाराम और कदमबाई की कथा से शुरू होता है । जिसमें दोनों समाज का आपसी टकराव दृष्टिगत होता है । कदमबाई इस उपन्यास की प्रतिनिधि पात्रा है । इसके पति जंगलिया को कज्ञा लोग मरवा देते हैं और कदमबाई के शरीर को धोखे में मंशाराम प्राप्त करता है । परिणामस्वरूप कदमबाई राणा को जन्म देती है । राणा को जन्म देना कज्ञा से टकराने और प्रतिशोध लेने का ही प्रतिफल है पर यहाँ भी उसकी हार होती है । पुलिस द्वारा उनके ऊपर किए जाने वाले अत्याचार, प्रशासन का शोषण, सभ्य समाज का धिक्कार और धृणा, सभ्य समाज के प्रति कबूतराओं का रोष और बदला लेने की भावना, उनकी जीवन वृति, चोरी, छीना-झपटी, लूट, डकैती आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

सातवें दशक से अपनी लेखकीय यात्रा शुरू करनेवाले मनमोहन पाठक का विचारयोग्य कृतित्व देर से सामने आया । उनकी ख्याति देने वाली औपन्यासिक कृतियों में एक मात्र कृति 'गगन घटा धहरानी' मुख्य है । 'गगन घटा धहरानी' उपन्यास में पलामू-रोहतास की सीमा रेखा पर अव्यवस्थित उराव आदिवासियों के जीवन व्यवहार को स्पष्ट किया है। इसके समांतर ग्राम कथा भी चलती है । प्रस्तुत

उपन्यास में महाजनी, सामंती व्यवस्था और लोकतत्व के वैषम्य और संघर्ष का सफल चित्रण हुआ हैं ।

➢ **गनन घटा घहरानी**

बिहार में सामंती खंडहर अब भी जिन अंचलों में पायेदार बने हुए हैं उनमें झारखंड का पलामू क्षेत्र भी है । उत्तर और मध्य बिहार में इन काली ताकतों के निशाने पर मुख्यत: दलित जातिया है तो झारखंड में आदिवासी कबीले । पलामू उन विरल अपवादों में भी है जहाँ सामंती जुल्म की गिरफ्त में आदिवासी और सदान दोनों रहे हैं । आदमीयत के इस बियावान से प्रस्तुत उपन्यास हमें परिचय करवाता है । उपन्यास की आदिवासी कथा से पाठकों को निराश होना पडता है । इस कृति में उराव समाज के सांस्कृतिक अवशेषों का या समाज संगठनों की गुह्य विधि-विधानों का कोई महिमा नहीं हुई है और न ही राजनीतिक मौसम का अभिलेख दर्ज किया गया है । यह अपने अंचल के समाज जीवन का नैसर्गिक आख्यान है ।

लघुंगा, खजुरी और सोनाहात् गाँव, बेगारी पहाड और मोरंगा जंगल के आस-पास उरांव आदिवासियों और सदानों की जो सहज शांत दुनिया बसी है, उस पर जगधारी राय और उसके पालतू चीते का आतंक हावी है । वन विभाग के अफसर और कर्मचारी बीच-बीच में आते हैं और सरकारी मुलाजिमों के वर्ग प्रतिनिधि चरित्रों के कर्म निभाते हैं । इलाके की काली झांह बने जगधारी राय की छत्रछाया में फूलमती, शकुंतला, बिफनी और जागो सेवकिया जैसे मरियल गाछ भी हैं और खौफ के खंजर से लहूलूहान बेहोश दूसरे अनेक निरीह ग्रामीण भी है । सोनाराम और उनके संगी साथी इस जंगल में जिजीविषा की नयी पौध है और खिलाफ मौसम के सामने तन कर खडे हैं । इस ग्राम कथा आँचलिक उपन्यास के कई

रुझान साफ पहचाने जा सकते हैं ।

आठवें दशक में उठी लघुकथा की लहर में जिन रचनाकारों ने आंदोलन और रचना-दोनों किनारों पर तैराकी और गोताखोरों के कौशल से पाठकों का ध्यान खींचा, उनमें एक नाम श्याम बिहारी श्यामल भी है ।

➢ **धपैल**

यह पलामू आदिवासी जीवन में सूखा, अकाल, गरीबी और पिछडेपन के खिलाफ जारी संघर्ष का चित्रण करनेवाला हिन्दी का पहला उपन्यास है ।

धपेल शहर के एक पुरोहित का लोकप्रचलित नाम है, जिसे श्राद्ध कर्म में दशमी के दिन मृतात्मा की क्षुधा तृप्ति के नाम पर अभीष्ट भोजन दिया जाता है । ऐसे पात्र भोजन भट्ट के रूप में सामाजिक उपहास के मॉडल बनते हैंतो भी वे इस अवसर का उपयोग अपनी वृति का विशेषाधिकार मानते हैं । इस उपन्यास में यह नाम-शीर्ष सर्वभक्षी का अर्थपूर्ण प्रतीक बन गया है ।

बीसवीं सदी के उपन्यासकारों में विनोदकुमार का नाम लिया जाता है । पत्रकारिता से जुडे विनोदकुमार का पहला उपन्यास 'समरशेष' आदिवासी संथाल समाज की संघर्ष गाथा को कथाभूमि बनाता साढे तीन दशकों की घटनाओंको अपने उपन्यास में समेटता है ।

आधुनिक आदिवासी जीवन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है राज्यतंत्र में, प्रशासन के कई स्तरों पर उनकी बढती हुई भागीदारी । आज आदिवासी आबादी का एक वर्ग यह भी है जो नये परिवर्तनों का वाहक है । उत्पादक और उपभोक्ता भी । आज देश के किसी भी हिस्से में सुरक्षित आदिवासियों को प्रशासनिक मशीनरी के विभिन्न स्तरों पर कार्यरत देखा जा सकता है ।

➢ चक्रव्युह

श्रवणकुमार द्वारा रचित 'चक्रव्युह' उपन्यास में पहाडी विश्वविद्यालय के कुलपति पीटर और कुलसचिव पहाडी के चरित्र आदिवासी वर्ग के प्रतिनिधि पात्र है । वे इस बात की जमकर हिमायत करते हैं कि आधुनिक भारतीय शैक्षिक संस्थाओं में आदिवासियों का भी हिस्सा है । इधर की हिन्दी रचनाओं मे ऐसे आदिवासी चरित्रों की उपस्थिति बढी है जो अपनी पुरानी जातीय पहचान को दरकिनार कर नये बनते छिन्नमूल वर्ग (रूटलेस क्लास) में दाखिल हो रहे है ।

➢ नदी के मोड पर

यह दामोदर सदन का आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यास है जिसकी कथावस्तु का केन्द्र मध्यप्रदेश और मध्यप्रदेश की आदिवासी भील जाति है । उपन्यासकार ने मध्यप्रदेश के भीलों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक गतिविधियों को बताते हुए किस प्रकार पुलिस एवं व्यापारी इन पिछडे गरीबों का शोषण करते हैं इसका ताजा चित्र खींचा है, जिसकी विशेष चर्चा आगे की जाएगी ।

'समकालीन' दौर की बिल्कुल नई पीढी के उपन्यासकारों में राकेशकुमार सिंह उल्लेखनीय है । वे अपनी कहानियों में नवाचार के लिए खास तौर से जाने जाते हैं । थोडे समय पहले ही उनके दो उपन्यास 'जहाँ खिले हैं रक्त पलाश' नेशनल पब्लिशिंग हाउस से एवं 'पठार पर कोहरा' उपन्यास भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुए हैं । दोनों की कथाभूमि झारखंड है । 'जहाँ खिले है रक्त फलाश' में झारखण्ड का ही एक उपेक्षित जिला पलामू पृष्ठभूमि के केन्द्र में है तथा 'पठार पर कोहरा' में झारखण्ड के वर्तमान जनजातीय जीवन का सशक्त चित्रण है । आधुनिक बदलती हुई परिस्थिति में इस जनजाति के लिए वर्तमान उपलब्ध आर्थिक सीमित साधनों

के माध्यम से जीविका-अर्जन करना असंभव सा हो गया है लेकिन न तो इनके पास अपने जीवन-यापन के लिए अन्य साधन ही है और न उसके लिये ये प्रोत्साहित ही किये जा रहे हैं । इधर कुछ वर्षों से ये लोग जंगल की बाहरी दुनिया के साथ संपर्क की वजह से अपने आर्थिक स्त्रोत तलाश कर रहे हैं । कुछ ऐसी ही कामना लिये राकेशकुमार ने ये दो उपन्यास लिखे हैं ।

'जहाँ खिले हैं रक्त पलाश' में दो प्रकार के परिवेश को रेखांकित कीया है। एक तरफ आँचलिक परिवेश है तो दूसरी तरफ नगरीय परिवेश । आँचलिकता और नगरीय भाषाओं का गजब सम्मिश्रण शिल्प का अनूठा प्रयोग, पठनीयता का त्वरण, समय चेतना और मुद्दों से मुठभेड का साहस प्रस्तुत उपन्यास में है आंचलिक उपन्यास मात्र नगेरतन जीवन का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करने वाला उपन्यास नहीं है जैसा सामान्यतया लोग समझते हैं । आँचलिक उपन्यास अपने प्रतिपाद्य से अधिक अपने शिल्प के कारण विशिष्ट है । यह बात राकेशकुमार ने प्रस्तुत उपन्यास में सिद्ध करके बताई है । 'आंदोलन' आज राष्ट्र निर्माण में बाधा पहुँचाता है । किसी भी सशस्त्र, रिक्तम आन्दोलन पर सार्थक वैचारिक विमर्श हेतु इस महत्वपूर्ण उपन्यास को एक प्रस्थान बिन्दु की भाँति लिया जाना चाहिए ।

दूसरा उपन्यास 'पठार का कोहरा' न सिर्फ झारखंड के आदिवासियों की लय, वेश-भूषा, उनकी भाषा, उनका रहन-सहन, उनकी संस्कृति, उनके पर्व-त्यौहार, उनके देवी-देवताओं को उठाता है, बल्कि पीढियों से चलते शोषण चक्र को भी स्वर देता है । साथ ही इसमें ऐसी हताश आदिवासी युवती के आत्मसंघर्ष की कहानी भी है, जो विराट, सामाजिक केनवास पर अपनी जगह तलाश रही हैं ।

यथार्थ की पकड, भाषा की जमावट एवं रचनाकार की कलात्मक अभिव्यक्ति

के कारण ये उपन्यास हिन्दी के आदिवासी जीवन केन्द्रीत उपन्यासों में अपनी अलग पहचान कायम करते हैं ।

इस प्रकार हिन्दी उपन्यास परम्परा में ग्रामीण उपन्यासों की एक लम्बी परम्परा रही हैं ।

तृतीय अध्याय
दसवें दशक के हिन्दी के ग्रामीण चेतना संबंधित उपन्यास एवं उपन्यासकार

हिन्दी के दशवें दशक में जिन उपन्यासकारों ने अपने उपनयास साहितय के माध्म से ग्रामीण-चेतना की मुहिम जगाई है उनका उल्लेख करना अनिवार्य होगा ।

❋ डो. विवेकीराय

किसी भी साहित्यकार का मूल्यांकन करने से पहले उनका परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक होता है । सभी रचनाकार अपनी कृति में स्वयं को अभिव्यक्त करता है, अर्थात् उनका समग्र लेखन उनके जीवन को स्पष्ट करता है । जीवन व्यक्तित्व और जीवन दर्शन तीनों का साहित्य सृजन में महत्वपूर्ण योगदान रहता है । इसलिए रचनाओं केवस्तुगत अध्ययन और मूल्यांकन के लिए रचनाकार के संबंध में यथोचित जानकारी पाना अतिआवश्यक है । हिन्दी उपन्यास साहित्य को आगे ले जाने वाले में सर्वश्री प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यशपाल, फणिश्वरनाथ रेणु, डॉ. राही मासूम रजा, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन, रांगेय राघव, भैरव प्रसादगुप्त, रामदरश मिश्र एवं डॉ. विवेकीराय आदि को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

आधुनिक भारतीय साहित्य में डॉ. विवेकीराय का नाम बडे आदर से लिया जाता है । उन्होंने साहित्य के अनेक विद्याओं पर अपनी कलम चलाई है । हिन्दी के आँचलिक उपन्यासकारों में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है । आँचलिक उपन्यासकारों में फणिश्वरनाथ रेणु के बाद डॉ. विवेकीराय का नाम ही लिया जाता है । उन्होंने ग्रामीणों को केन्द्र में रखकर अपने कथानक का तंतु बुना है । स्वातंत्र्योत्तर

ग्रामीण जीवन में परिलक्षित परिवर्तनो को उन्होंने अपने उपन्यासों में एवं कहानियों में सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया है। इनके कथासाहित्य में गाँव की खुबियाँ एवं अंतविर्शध हम स्पष्ट रूप से दिखाई देते है। आँचलिक चेतना विवेकीराय के कथा साहित्य की एक विशेषता है । उन्होंने अपने उपन्यासों किसानो, मजदुरो, स्त्रियो तथा उपेक्षितो की पीडा को अभिव्यक्त प्रदान की है । अपनी रचना धार्मिकता के कारण इन्हें प्रेमचंद और फणिश्वरनाथ रेणु के बीच का स्थान दे सके है ।

❁ जन्म

हिन्दी साहित्य के वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. विवेकीराय का जन्म १६ नवम्बर, १६२४ को ननिहाल में भरौली जिल्ला-बलिया में माँ श्रीमती जबिता देवी की कोख से जन्मे हिन्दी साहित्य के धुरीण हस्ताक्षर कुशल शिल्पी व यशस्वी कथाकार डॉ.विवेकीराय का बाल्यकाल मामाश्री बसाऊराय की देख-रेख में बीता था । जन्म होने के डेढ माह पूर्व ही पिता श्री शिवपाल राय की प्लेग की महामारी में मृत्यु हो चुकी थी । इस प्रकार माता के गर्भ से ही इतभाग्य कथाकार आजीवन अभाव व संघर्ष की भट्ठी में तपता रहा, 'किन्तु, किन्तु किसी विद्वान ने लिखा है कि प्रतिभा रूपी नदि हंमेशा अभाव और श्रम रूपी तटों के बीच से ही निकलकर बहती है, इस प्रकार उद्देश्य का संकेत पाकर इस बालक के मन में भी विद्यालय व साहित्य की अभीरुची जगी ।' और उनके ननिहाल से और उनकी माता श्रीमती जबिता देवी से उच्च आदर्शों एवं संस्कारो का संरक्षण मिला और अपनी आगामी शिक्षा और अपना सारा स्वाध्यायी कार्यभी उन्होंने वहाँ से प्राप्त किया, फिर क्या स्वाध्याय के बलपर उन्होंने तमाम उच्च पदवियाँ व पद हाँसिल किये । ऊँचा उठने के बावजुद वे गाँव की मिट्टीसे सदैव जुडे रहे, जिस से उनकी रचनाओं में गाँव के रिति-रिवाज,

संस्कार, पर्व-त्यौहार, अच्छाई-बुराई, नृत्य-गीत, खान-पान, वेशभूषा आदि का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण हुआ है । साथ ही साथ शिक्षा, स्कुल, सडक, बिजली, अस्पताल आदि की दुर्दशा का यथार्थ एवं विशद चित्रण हुआ है ।

➢ माता पिता एवं परिवार

डॉ. विवेकीराय के पिता का नाम शिवपालराय था । और विवेकीराय के जन्म के बाद डेढ माह पुर्व ही उनका अवसान हो गया था । और उनके मामा का नाम बसाऊराय था। उनके पिता के अवसान के बाद उनका बाल्यकाल उनके मामा के वहाँ ही बिता था । वैसे तो उनके पिता गाँव के छोटे से किसान थे, उनके पिता की मृत्यु के बाद डॉ. विवेकीराय ने अपनी वंश परंपरागत किसानी को बनाये रखा । तभी तो वह आज इस स्थिति में भी ग्रामीण अँचलो से दूर किसी बडे शहर या महानगर में बैठकर अपने पुराने संस्कारो व स्मृतियों के सहारे मानस पटल को खँगालते हुए गाँवों की यथार्थ गाथा गाने का असफल प्रयास करते हैं, किन्तु ग्रामीण जीवन से फेंट होने की वजह से वह चाह कर भी वैसा नहीं कर पाते जैसा विवेकीराय ने अपने साहित्य में किया है । कारण आज उम्र के वे पडाव को पार करने के बाद भी उनका संपर्क नित्य गाँवों से बना रहा है । इतनी उग्र के बाद भी एक गाँवनुमा छोटे से शहर गाजीपुर में आने के बाद पी.जी. कॉलेज, गाजीपुर में अध्यापन कार्य करते हुए वे सीधे-सीधे अपने गांव-गवई जीवन व गाँव की खेती-बाडी से गहरे जुडे रहे ।

➢ शिक्षा दीक्षा

डॉ. विवेकीराय की प्रारंभिक शिक्षा उनके पैतृक गाँव सोनवानी, गाजीपुर में हु ई। स्वाध्याय के बलपर उन्होंने स्नातकोतर परिक्षा बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय

वाराणसी से प्रथम श्रेणी में उतिर्ण की सन् १६७० ई. में स्वातंत्र्योतर हिन्दी कथासाहित्य और ग्राम जीवन विषय पर काशी विद्यापीठ, वाराणसी से उनको पी.एच.डी. उपाधी प्राप्त हुई ।

डॉ. विवेकीराय जी के अध्यापकीय जीवन की जो शरुआत 'सोनवानी' के लोअर प्राइमरी स्कूल से शुरु हुई वह हाइस्कूल न रही बलिया, श्री सर्वोदय इण्टर कोलेज खरदीहा गाजीपुर होते हुए स्नातकोतर महाविद्यालय, गाजीपुर में सन् १६४८ ई. तक चली । यह अपने आप में शैक्षिक मूल्यों की प्राप्ति और प्रदेय का अनुठा उदाहरण है ।

जब ७वीं कक्षा में अध्ययन कर रहे थें उसी समय से डॉ. विवेकीराय जी ने लिखना शुरु किया था । सन् १६४५ ई. स. में उनकी प्रथम कहानी 'पाकिस्तान', 'दैनिक', 'आज' में प्रकाशित हुई इसके बाद उनकी लेखनी हर विद्यापर चलने लगी जो कभी थमने का नाम ही नहीं ले सकी इनका रचना कार्य कविता, कहानी उपन्यास, निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोतार्ज, डायरी समीक्षा, भोजपुरी साहित्य आदि विविध विद्याओं से जुडा रहा । अब तक इन सभी विद्याओं से संबंधित लगभग (६०) साठ कृतियाँ उनकी प्रकाशित हो चुकी है । और लगभग १० प्रकाशनाधीन है। 'उनकी संपूर्ण साहित्य साधना पर पंजाब विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, सहेलखण्ड विश्वविद्यालय, पटना विश्वविद्यालय, विक्रमशिला विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, मगध विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, डॉ. भीमराव आंबेडकर विश्वविद्यालय, पंडित दीन दयाल विश्वविद्यालय, शिवाजी विश्वविद्यालय, महाराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजस्थान

विश्वविद्यालय, वीर बहादुरसिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, बेंग्लोर विश्वविद्यालय, ज्योति बाई विश्वविद्यालय, जम्मु विश्वविद्यालय, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय आदि विश्वविद्यालयों में छात्रों द्वारा इन पर शोधकार्य किया जा रहा है । इन सभी विश्वविद्यालयों में एम.फिल./पी.एच.डी. के ७० शोध प्रबंध लिखे जा चुके है, और कई विश्वविद्यालयों में छात्रों द्वाराइन पर शोध कार्य किया जा रहा है ।[१]

➢ जीवन संघर्ष

जन्म से ही विवेकीराय का जीवन संघर्षों और कठिनाइयों में बीता, विवेकीराय के जन्म के डेढ माह पूर्व ही उनके पिता शिवपालराय की मृत्यु हो जाने के कारण उन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पडा । अत: जीवन के कष्टो एवं आघातो से ज्यों-ज्यों इनका साक्षात्कार होता गया त्यों-त्यों जीवनावस्था का स्वरूप, निश्वरता गया । जीवन के आरंभ से ही उन्हें जिम्मेदारियों का सामना करना पडा । पिता की आकस्मिक मृत्यु के फलस्वरूप जीवन के प्रभातकाल में ही उन्हें पारिवारिक दायित्व का वहन करना पडा ।

लेखन कार्य के प्रीत निष्ठा और सतत स्वाध्यायशिल और आदर्श का भरपुर समन्वय होने के कारण और साहित्यिक रुचि के कारण विवेकीराय ने सदैव स्वतंत्र रूप से स्वातंत्र्योतर ग्राम जीवन पर साहित्य सृजन करना चाहा परंतु आर्थिक कारण उसमें अवरोध बनते रहे । और उनका जीवन जन्म से ही संघर्ष और कठिनाईयों में बीता, फिर भी मजबुती के साथ व संघर्षका सामना करते रहे । साहित्य के प्रति अनन्य निष्ठा एवं लगाव ही इन स्थितियों की देन है ।

'डॉ. विवेकीराय ने उन्हीं गाँवों को उपन्यासों का मुख्य वर्ण्य-विषय बनाया है। जिन्होंने गहराईसेदेखा, जिया एवं भोगा है, जिससे उनकी रचनाएँ कल्पना प्रसुत

न होकर अनुभवजन्य होने का कारण पाठक के मर्मतक पहुँचने में अत्याधिक सफल ह[ै]। [३] और आज वह ७६ वर्ष की उम्र के बाद जिन्दा है, और स्वाध्याय शिलता, अथाग परिश्रम के बलबुते पर आज मजबुत परिस्थिति में है, और कहा जा सकता है कि भारतीय गाँवो के प्रति प्रेम, ग्रामीणों के प्रति बद्धता भारतीय संस्कृति के प्रति आदर प्रस्तुत शिक्षा के परिवर्तन में उनका जीवन का संघर्ष ही है ।

➢ व्यक्तित्व

मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण परिस्थितियों के अनुरूप होता है । व्यक्तिगत पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश के अनुसार इसका विकास होता है । किसी साहित्यकार के व्यक्तित्व के अध्ययन का विशेष महत्व होता है । क्योंकि साहित्य में जो विचारधारा होती है, उसका मूल उसके व्यक्तित्व में होता है । किसी मनुष्य की योग्यताएँ होती है, जो उसे अन्य व्यक्तियों से विलग करती है, उसे व्यक्तित्व कहाँ जा सकता है ।

प्रत्येक मनुष्य की अपनी रचियों एवं वृत्तियाँ होती है । एक प्रकार से व्यक्ति के व्यक्तित्व की मानक रुचियाँ उसके जीवन का अहम् हिस्सा होता है ।

विवेकीराय स्वभावत: गंभीर एवं खुश-मिजाज रचनाकार है । बहुमुखी प्रतिभा के धनी सीधे, सच्चे, उदार एव कर्मठ व्यक्तित्व है । ललाट पर एक बडासातिल, सादगी, सौमन्य गंगा की तरह पवित्रता, ठहका मारकर हँसना, निर्मल आचार-विचार उनकी विशेषताएँ है। सदा खादी के धवल वस्त्रों में दिखनेवाले, अतिथियों का धधाकार आतिथ्य सत्कार करने वाले साहित्य सृजन हेतु नवयुवकों को प्रेरीत करनेवाले विवेकीराय भारतीय संस्कृति के महान साहित्यकार है ।

डॉ. विवेकीराय का जीवन सादगीपूर्ण है । गंभीरता उनका आभूषण है । दूसरों

के प्रति अपार स्नेह एवं सम्मान का भाव सदावे रखते है । सबसे खुलकर गंभीर विषय की निष्पति एवं चर्चा करना उनका स्वभाव है । अपने इन्हीं गुणों के कारण बहुनों के लिए वे परम पुज्य एवं आदरणीय बने हुए है । कुल मिलाकर वे संत प्रकृति के सज्जन है । विशुद्ध भोजपुरी अंचल के महान साहित्यकार है ।

डॉ. विवेकीराय धुमक्कड मनमोजी और मिलनसार प्रकृति और ग्रामीण जीवन से जुडी हुई प्रकृति के व्यक्ति है । विभिन्न क्षेत्रो जातियों और बोलियों के व्यक्तियों से मिलने जुलने का उन्हें बेहद शौक रहा है । और कृषक जीवन और ग्रामीण जीवन को लेकर उनको बहुत मोह है । इसीलिए उनके उपन्यास 'सोनामाटी','बबुल', 'नमामीगामम' आदि कृतियों में इस बात का निर्देश मिलता है ।

डॉ. विवेकीराय जी के व्यक्तित्व में स्वाभिमान कीझलक मिलती है । उनके स्वाभिमान के कारण ही वे पुरानी एवं नयी पीढी केलेखकों में समान भाव से सबके साथ सहज तादात्म्य स्थापित कर लेते है । साहित्यकार के रूप में डॉ. विवेकीराय का व्यक्तित्व एक प्रतिभा सम्पन्न, इमानदार, कर्मठ, महत्वाकांक्षी और संघर्षो में पलनेवाले कलाकार है । वे सामान्य जनता गरीब, अछूत, बेसहारा लोगो के हिमायती, शोषितों के प्रति संवेदनशील है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भारतीय गाँवों के प्रति प्रेम, ग्रामीणो के प्रति प्रतिबद्धता, भारतीय संस्कृति के प्रति आदर, प्रस्तुत शिक्षा पद्धति जीवंत संग्राम के जीवंत योद्धा, उदधार अलमस्त मानव, रुढिमुक्त शैव, आस्तिक बहुपठित, बहुबोली पारखी, कहानियों, निबंध, उपन्यास, काव्य और भोजपुरी साहित्य के रचयिता आदि सबको मिलाकर जो व्यक्तित्व बनता है उनका नाम है 'डॉ. विवेकीराय' ।

➢ कृतित्व

जिस प्रकार डॉ. विवेकीराय का व्यक्तित्व बहु आयामी एवं वैविध्यपूर्ण है । उसी प्रकार उनका कृतत्व भी वैविध्यपूर्ण एवं बहुआयामी है । साहित्यकार के रूप में विवेकीराय जी काव्य, कहानी संग्रह उपन्यास, ललित निबंध और शोध समीक्षा, भोजपुरी साहित्यकार के रूप में सामने आते हैं । विवेकीराय जी के विविध साहित्यिक रूपो ने उनके कथाकार व्यक्तित्व बहुमुखी है, पर आज का पाठक डॉ. विवेकीराय जी को उपन्यासकार के रूप में ही अधिक पहचानता है । इस पहचान का मुख्य कारण यही है कि सन् १६८३ से लेकर अंतराल तक सक्रीय रहे है । और कुछ-कुछ वर्षो के अंतराल से वे एक के बाद एक उपन्यास प्रकाशित करते रहे है ।

'गाँव की अपोर पीडा के कारण इस साहित्यकार की समस्त औपन्यासिक जैसे 'बबुल', 'पुरुष पुराण', 'श्वेतपत्र', 'सोना माटी' सब प्रसिद्ध स्थायी स्तंभ है ।'[४]

➢ उपन्यास

डो. विवेकीराय के प्रकाशित उपन्यास इस प्रकार है-

१.	बबूल	सन् १९६७
२.	पुरुष पुराण	सन् १९७५
३.	पुरुष पुराण का नाट्य रूपांतर	सन् १९०५
४.	लोकऋण	सन् १९७७
५.	बनगंगी मुक्त है	सन् २००२
६.	श्वेतपत्र	सन् १९७६
७.	सोनामाटी	सन् १९८३

८.	समर शेष है	सन् १९८८
९.	मंगल भवन	सन् १९६४
१०.	नमामि ग्रामम्	सन् १९६६
११.	अमंगलहारी	सन् २०००
१२.	देहरी के पार	सन् २००२

➢ कहानी

विवेकीराय जी की ख्याति का मूलाधार उपन्यास है, किन्तु विविधर्णी अभिरुचियों ने उपन्यासोत्तर कथा विधाओं की और प्रेरित किया है। उनकी कहानियों का संसार एक बहुरंगी संसार है । उनके प्रकाशित कहानी संग्रह निम्न है ।

विवेकीराय जी की ख्याति का मूलाधार उपन्यास है, किन्तु विविधर्णी अभिरुचियों ने उपन्यासोतर कथा विधाओं की और प्रेरित किया । उन्होंने लेखन कार्य कहानी लेखन से किया है। उनकी कहानियों का संसार एक बहुरंगी संसार है। उनके प्रकाशित कहानी संग्रह निम्न है ।

१.	जीवन परिधि	सन् १९५२ पुन: १९६०
२.	नयी कोयल	१९७५ पुन:
३.	गंगा जहाज	सन् १९७७
४.	बेटे की बिक्री	सन् १९७७
५.	कालातीत	सन् १९८२
६.	चित्रकूट के घाट पर	सन् १९८८
७.	विवेकीराय की श्रेष्ठ कहानियाँ	सन् १९८८

८.	श्रेष्ठ आँचलिक कहानियाँ	सन् १९६६
९.	अतिथि	सन् १९९८
१०	विवेकीराय की तेरह कहानियाँ	सन् २००३
११.	सर्कस	सन् २००५

➢ काव्य

विवेकीराय जी के प्रकाशित काव्य निम्न है और उनको आज भी 'कवि जी' उपनाम से माना जाता है ।

१.	अर्गला	सन् १९५१
२.	रजनी गंधा	सन् १९६४
३.	यह जो हे गायत्री	सन् १९६१
४.	दीक्षा	सन् १९६७
५.	लौटकर देखना	सन् २०००

➢ ललित निबंध

विवेकीराय जी के प्रकाशित ललित निबंध निम्न है ।

१.	फिर बैतलवा डाल पर	सन् १९६२
२.	जुलूस रुका है	सन् १९७७
३.	गँवई गन्ध गुलाब	सन् १९८०
४.	मनबोध मास्टर की डायरी	सन् १९८४
५.	नया गांवनामा	सन् १९८८
६.	बन तुलसी कस गंध	सन् २००२
७.	मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ	सन् १९८८

८.	जगत तपोवन सो कियो	सन् १९९५
९.	आम रास्ता नहीं है	सन् १९८८
१०.	जीवन अज्ञात का गणित है	सन् २००३
११.	चली फागुनहट बौरे आम	सन् १९९२

➢ निबंध और शोध समीक्षा

१.	त्रिधार	सन् १६५४
२.	गाँवों की दुनिया	सन् १९५७
३.	किसानो का देश	सन् १९५७
४.	गुरु गृह गयउ पढन रघुराई	सन् १९६२
५.	स्वातंत्र्योतर कथा साहित्य और ग्राम जीवन	सन् १९४४
६.	हिन्दी उपन्यास: उतरशती की उपलब्धियाँ	सन् १९८३
७.	हिन्दी कहानी: समीक्षा और संदर्भ	सन् १९८६
८.	समकालीन हिन्दी उपन्यास	सन् १९८६
९.	आस्था और चिंतन	सन् १९८६
१०.	गणदेवता से गुड अर्थ तक	सन् १९८६
११.	कल्पना और हिन्दी साहित्य	सन् १९८६
१२.	समय साहित्य और समीक्षा	सन् १९८६
१३.	अप्रतिम कथायात्री नरेन्द्र कोहली	सन् २००३

➢ भोजपुरी साहित्य

डो. विवेकीराय ने भोजपुरी ग्रंथों कासंपादन भी किया है ।

'के कहल चुनरी रंगाल- जनता के पोखरा भोजपुरी कथा साहित्य के विकास (समीक्षा) ओझइती गंगा जमुना सरस्वती (विविध विद्या) ।

विवेकीराय का अनुभव संसार कागज पर उतरने के लिए उफन रहा है । एक धनीभूत पीडा मन में उमड-उमड रही है । बिना बरसे मन हलका होने वाला नहीं। कथाकार जैनेन्द्र कुमार ने कही कहा है 'जो कुछ मुझे धौंट रहा था, अस्वस्थ बनाए हुए था, उसे कागज पर उतारकर मैंने स्वास्थ्य लाभ किया ।

वस्तुत: विवेकीराय जी के सृजन के ये विविध आयाम है । उनका समग्रकृतित्व उनकी बहुमुखी प्रतिभा एवं जीवन में व्यापक अनुभवों का ही परिणाम है । निष्कर्षत: विवेकीराय जी का साहित्य हिन्दी की अनमोल निधि है ।

➢ पुरस्कार एवं सम्मान

डॉ. विवेकीराय को अनेको पुरस्कार एवं मानद उपाधियों से संमानित किया गया है। हिन्दी संस्थापन (उतर प्रदेश) द्वारा 'सोनामाटी' उपन्यास पर दिया गया प्रेमचंद पुरस्कार, हिन्दी संस्थान लखनऊ (उतरप्रदेश) द्वारा दिया गया साहित्य भूषण पुरस्कार, बिहार सरकार द्वारा प्रदान किया गया आचार्य शिवपूजन सहाय सम्मान । आचार्य शिवपूजन सहर्य पुरस्कार मध्यप्रदेश सरकार द्वारा प्रदत । शरदचंद जोशी सम्मान केन्द्रिय हिन्दी संस्थान एवं मानव संशाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली के संयुक्त तत्वाधान में दिया गया पंडित राहुल सांकृत्यायन' सम्मान तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की और हाल में ही २००६ में यश भारती एवोर्ड से भी उनको संमानित किया गया है ।

विवेकीराय को क्या कहिएगा । उनकी व्यथा-वेदना भी केवल एक व्यक्ति की नहीं, सिर्फ एक अदद आदमी की नहीं । उन्हें सुकून मिल नहीं रहा है । अबतक

के अपने लिखष से उन्हें शांति संतोष कहाँ? पूछने पर अपने समानधर्मा दुष्यंत के शब्दों में अपनी बैचेनी को जैसे वे एजहार करते होते है-

'मुझ में रहते हैं करोडो लोग चुप कैसे रहूँ ।
हर गजल अब सल्तनत के नाम बयान है ।'

लेखन उनके लिए दुखेत टीसते परिवेश की यंत्रणा से मुक्ति पाने का माध्यम है। पूछे आप कि क्यों इतना लिखते हैं ? क्यों अपने को दिन-रात खपाते है ? तो स्वभावनुसार एक अट्टहास के साथ आपकी बात को हवा में उडाते हुए निश्चित रूप से वे यहीं उतर देगे । 'सौ रोगों की एक दवा है काहे ना आजमाये' लिखना उनके लिए एक दवा है । लिखना इसलिए कि लिखने से दु:ख छीजता है । ईत मिटता है। अहंकार गलता है । लिखना एक यज्ञ है सृजन यज्ञ ।'[६]

❀ भगवानदास मोरवाल

साहित्य और विज्ञान में सबसे बडा अन्तर यह होता है, कि जहाँ एक में उसके रचयिता के व्यक्तित्व का प्रभाव निहित होता है वहाँ दूसरा उससे मुक्त होता है । साहित्यकार सदा निजी दृष्टि से वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति साहित्य में प्रस्तुत करता है, जबकि वैज्ञानिक वस्तु पर दृष्टि से वस्तुओं के प्राकृतिक गुणधर्मो की मीमांसा करता हुआ उनके संबंध में सामान्य विचारों, सिद्धांतो एवम् नियमों की स्थापना करता है । जहाँ साहित्य में साहित्यकार की निजी अनुभूति नही होती वहाँ भी उनकी कल्पना, चिन्तन मात्रा में अवश्य होता है । अत: साहित्य को यदि साहित्यकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी कह दे तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व बहुत कुछ उसकी आनुवंशिक परंपराओं, पारिवारिक एवं सामाजिक वातावरण, शिक्षा-दिक्षा संबंधी संस्कारों तथा वैयक्तिक

परिस्थितियों एवं बाह्य-आंतरिक द्वन्द्व के प्रभाव से निर्मित एवं विकसीत होता है । उस व्यक्तित्व को समझने के लिए उस व्यक्ति के जीवनवृत का ज्ञान अपेक्षित है ।

साहित्यकार का व्यक्तित्व ही वह फलक होता है, जिस पर रचना रूप लाभ करती है । रचना को जीवंतता भी लेखक के व्यक्तित्व से प्राप्त होती है । इस दृष्टि से रचनाकार के व्यक्तित्व का, उसकी विशेषताओं का प्रस्तुतीकरण और मूल्यांकन महत्वपूर्ण और अपेक्षित होता है ।

इन्हीं लक्ष्यों से यहाँ मोरवालजी के जीवनवृत एवम् व्यक्तित्व का अध्ययन क्रमश: प्रस्तुत किया है ।

➢ जीवन

लेखक भगवानदास मोरवाल हिन्दी कथा-साहित्य, खासकर उपन्यास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण हस्ताक्षर माने जाते है । मोरवालजीने उपन्यास के क्षेत्र में अपने गहन अनुभूति, चिन्तन शक्ति और शिल्प कौशल का परिचय दिया है ।

➢ जन्म

मोरवालजी का जन्म २३ जनवरी १९६० को हरियाणा के अत्यन्त पिछडे एवं उपेक्षित क्षेत्र मेवात के छोटे से कस्बे नगीना में हुआ । हालाकि इन्हें खुद अपनी जन्मतिथि की प्रामाणिकता को लेकर ढेर सारी आशंकाएँ है । शैक्षिक और आर्थिक रूप से अत्यन्त पिछडे हुए जिस परिवार में दो वक्त की रोटी की चिन्ता लगी रहती हो वहाँ बच्चों की जन्मतिथि की चिन्ता करने की फुरसत ही कहाँ? इस देश के अधिकतर बच्चों की भाँति मोरवालजी की जन्मतिथि भी अनपढ माँ के अनोखे गणित पर ही आधारित है अथवा अनुमान से पाठशाला में दाखिले की जरूरत के हिसाब से लिखी गई एक तारीख है ।

➢ माता-पिता

माता श्रीमति कलावती जिनका निधन १९९५ में हो चूका है । अभाव से जूझते परिवार को संभाले रही, वरन् पिता श्री मंगतूराम जो अपने पैतृक गाँव नगीना में बडे पुत्र मनोहरलाल के साथ रह रहे है । पिता की फक्कडाना स्वभाव को ही मोरवालजी जीवन-संघर्ष में वृद्धि का कारण मानते है । 'काला पहाड' में मंगतू का चरित्र मोरवालजी के पिताका ही प्रतिनिधित्व करता है ।

➢ पारिवारिक स्थिति

मोरवालजी के परिवार में वह तीन भाई और माता-पिता समैत पाँच लोगों का परिवार था । बडे भाई मनोहरलाल की घर फूक मस्ती के चलते पांच सदस्यीय परिवार का गुजारा काफी मुश्किल था । यही कारण है कि बडे भाई मनोहरलाल मात्र सातवीं कक्षा तक ही पढ पाई और छोटे भाई सुभाषचंद्र मैट्रिक तक । आर्थिक तंगहाली से जूझते परिवार और पिता का मनमौजी स्वभाव 'कंगाली में आटा गीला' कहावत को चरितार्थ करता था । पिता के फक्कडाना स्वभाव और बचपन में ही शादी का होना मोरवाल के जीवन-संघर्ष में वृद्धि का कारण बना किन्तु वे मानते हैं कि मेरा अच्छा लेखन इन्हीं संघर्षपूर्ण दिनों के संचित अनुभवों का परिणाम है ।

➢ शिक्षा

तमाम विपरीत परिस्थितियों और अभावों से जूझते हुए मोरवालने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा, राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, नगीना तथा यासीन मेव डिग्री कॉलेज, नूह से स्नातक किया । एम.ए. (हिन्दी) एवं पत्रकारिता में डिप्लोमा राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपूर से भागते-दौडते जैसे-तैसे पूरा किया । वर्ष १९९९ ई. के सितम्बर माह में वे नगीना छोडकर रोजी-रोटी की तलाश में दिल्ली चले आये ।

अगभग सात-आठ वर्षो की लम्बी जददोजहद के पश्चात इस संघर्ष में ठहराव आया, जब वर्ष १९८७ के अगस्त महिने में 'केन्द्रिय समाज कल्याण बोर्ड' की मासिक पत्रका 'समाज कल्याण' में प्रस्तुति सहायक के पद पर आसीन हुए ।

➢ विद्यार्थी जीवन

विद्यार्थी जीवन में उन्हें उन सभी मुश्किलों का सामना करना पडा जो प्राय: एक दलित परिवार में जन्मे बच्चे को करना पडता है । गाँव में ही विद्यालय होने के कारण हायर सेकेण्डरी तक शिक्षा बिना किसी विध्न-बाधा के पूरी हो गई, लेकिन कॉलेज के दिनों में बेहद कठिनाईयों का विशेषकर आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पडा । हर महीने फीस और बस पास के पैसों के लिए, जो की उन दिनों (१९७८-८९) आाज की दृष्टि से मामूली से बस के किराए जितनी थी, परिवार से माँगते हुए मशक्कत करनी पडती है । मोरवालजी कहते है कि माँ का सहयोग नहीं होता तो शायद स्नातक करना मुश्किल हो गया । पिता को पढाई-लिखाई से मतलब नहीं था । आर्थिक कठिनाईयों का आलम यह था कि बी.ए. अंतिम वर्ष में तो हिन्दी विषय की आठ-दस रूपयें की पुस्तक भी नहीं थी।

➢ वैवाहिक जीवन

केन्द्रिय समाज कल्याण बोर्ड मानव संसाधन विकास मंत्रालय' (भारत सरकार) में सहायक निर्देशक के पद पर कार्यरत है, मोरवालजी अपने छोटे से परिवार के साथ पालम गाँव, नई दिल्ली में रह रहे है । परिवार में पत्नी श्रीमती सुनिता, पुत्र प्रवेश पुष्प और पुत्री नैया है । प्रवेश पुष्प एम.सी.ए. कर रहे है और नैया जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.फिल कर रही हैं ।

➢ वातावरण का असर

मोरवालजी स्वीकार करते हैं कि मेरी पारिवारिक स्थिति और पास-पडोस के माहौल ने मेरे लेखकिय व्यक्तित्व को तैयार करने में अहम् भूमिका अदा की है । हिन्दुओं और मेवों की लगभग पौने दर्जन जातियों के बीच रहते हुए इनकी विविधवर्णी संस्कृति और परम्पराएँ उनके धर्म निरपेक्ष और कुंठा मुक्त लेखन में सहायक रहीं और व्यापक रूप से जन-सरोकारों को जीवित बनाए रखा । लगभग पन्द्रह हजार की हिन्दू मेवों की आधी-आधी आबादीवाले इस कस्बे में देश के अन्य गाँव कस्बों की तरह प्राय: वे सभी जन-जातियाँ है, जिनके बूते भारतीय समाज का संतुलन आज तक कायम है ।

➢ स्वभाव

भगवानदास मोरवाल लेखक भी है और आदमी भी । उनमें सरलता है, सहजता है, उदारता है, बडप्पन है, सादगी है, नम्रता है, निच्छलता है, विनय है, मधुरभाषा है । अहंम् का भाव तो जैसे उन्हें छू भी नहीं गया है । 'अतिथि देवो भव:' का प्राचीन भारतीय आदर्श उनके यहाँ आज भी उसी आत्मीयता के साथ जीवित है। बिना खाना खाए उनके यहाँ से लौटना संभव नहीं । अरसे से दिल्ली जैसे व्यक्तित्व-विध्वंसक शहर में स्थाई रूप से रहते आते मोरवाल अपनी जडो को अभी भी हरा बनाए हुए हैं । वे न केवल अच्छे वक्ता हैं, अपितु वैचारिक स्पष्टता भी विभिन्न मुद्दों पर झलकती है । वे जन्मजात किस्सा-गो हैं । अपनी रचना-प्रक्रिया और उसमें समाविष्ट विभिन्न प्रसंगो को कहानी बांच रहे हो और हम बच्चे बडी ही तन्मयता से, उत्सुकता से कहानी सुन रहे हों । वे निपुण कथावाचक है ।

मोरवाल के व्यक्तित्व की चर्चा उनकी स्पष्टवादिता का उल्लेख किए बिना

अधूरी रहेंगी। वे उन लेखकों में से नहीं है जो स्वयं को असाधारण साबीत करने के लिए कुछ तथ्यों को छिपा जाते हो, वे खुली किताब हैं । इसीलिए स्पष्ट कहते है कि बचपन में साहित्यिक माहोल नहीं था और न ही साहित्य की कोई खास समझ थी । बस, प्रेमचंद और जैनेन्द्र की कुछ कहानियाँ, जो पाठ्यक्रम में लगी थीं, वे ही पढी थीं । दिल्ली आने से पूर्व (१९८९) तक मुझे यह भी नहीं मालूम था कि 'सारिका' जैसी कोई पत्रिका भी हिन्दी में छपती है । हाँ, बचपन में नाम छपने की आकांक्षा से प्रेरित होकर कुछ तुकबंदियाँ अवश्य स्थानीय अखबारों मे प्रकाशनार्थ भेजी थी । आज तक साहित्य को दुनिया में असल की नकल करने का खेल पूरे शराब पर हैं, ऐसी साफगोई दुर्लभ हैं । उनमें अनुभव, सूक्ष्मदृष्टि और कल्पनाशीलता का सामंजस्य है । उनके पास व्यापक अनुभव है जिसमें उत्तरोतर विस्तार होता रहा है । लेकिन उनका मन ग्राम्य जीवन और पिछडे जन-जीवन में ही अधिक रमता है। शहरी चकाचौंध उन्हें अभी नही लुभा पाई यही कारण है कि अब तक प्रकाशित उपन्यासों में ग्राम जीवन ही उभर कर आया है ।

उन्हें अपनी रचनाओं के लिए किसी विदेशीभाषा के पुस्तकों से प्रेरणा लेने नहीं (आज के सन्दर्भ में, चोरी कहे तो अधिक उपयुक्त है) जाना पडता । अपने आसपास जो देखते है, अनुभव करते है, वही कलात्मक वैशिष्टय के साथ उनकी रचनाओं मे ढल जाता है और इसी वजह से उनके अधिकांश पात्र सच नहीं तो सच है आसपास अवश्य होते है ।

उनकी अपनी निजी शैली और निजी तकनीक है । व्यंग्यात्मकता और नाटकीयता के साथ किस्सागोई का मणिकांचन संयोग उन्हें विशिष्ट बनाता है । यह कहने में संकोच नहीं होता कि वर्णनशैली की जो रवानगी प्रेमचन्द अपने अंतिम

कथा-साहित्य में दे पाये थे, वह मोरवालजी के पहले ही उपन्यास में हासिल हैं । लेखन मोरवालजी के लिए महज एक शौक नहीं, बल्कि तपस्या है । बंद कमरे में बैठकर अवचेतन की कुंठाओं को उटापटांग शैली में लिखते रहने की चालाकी उनसे कौसों दूर है उनके लिए लेखन बडी महेनत और एकाग्रता का काम है । वे बाकायदा 'फिल्ड' में जाकर तथ्यों की खोज और अध्ययन करते हैं । प्रामाणिकता और मार्मिकता के लिए एक-एक संवाद को दस-दस बार संशोधित करना भी उन्हे मंजूर है । अपने लेखन के बारे में वे कहते है: अपने प्रति निर्ममता, लेखन के प्रति ईमानदारी, वैचारिक प्रतिबद्धता एवं स्पष्टता जरूरी है । क्योंकि कथा साहित्य में पाठक को भ्रम में डालने की चालाकी अधिक समय तक नहीं चल सकती । इसी ईमानदारी और प्रतिबद्धता का परिणाम है कि वे अपने पहले उपन्यास से ही हिन्दी कथा साहित्य पर छा गये है और दूसरे उपन्यास में भी उनका लेखकीय व्यक्तित्व निखरकर सामने आया है । कमलेश्वर, डॉ. मेनेजर पाण्डेय, नामवरसिंह जैसे नामचीन आलोचकोंने इन्हें सराहा है ।

➢ सेवाकार्य

समाज कल्याण पत्रिका में प्रस्तुति सहायक के पद पर आसीन होने से पूर्व भगवानदास मोरवालजीने 'मंजुली दर्पण' (मासिक) पत्रिका में सह सम्पादक, 'सुलभ-इन्डिया' (मासिक) में उप संपादक के रूप में तथा 'सारंग' (अनियतकालीन) पत्रिका से जुडे रहे । इन्होंने सात वर्षो (१९८१-१९८७) स्वतंत्र पत्रकारिता की । अब तक उनके विभिन्न सामाजिक सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विषयों पर २५० से अधिक आलेख, रिपोर्ताज, समीक्षात्मक लेख तथा रचनाएँ हिन्दी की सभी लब्ध-प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। आप १९८७ से १९९४ तक

केन्द्रिय समाज कल्याण बोर्ड, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की मासिक पत्रिका 'समाज कल्याण' के सम्पादकीय विभाग से सम्बद्ध रहे ।

➢ भगवानदास मोरवाल: साहित्य परिचय

भगवानदास मोरवाल एक बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकार है । उपन्यास और कहानी के साथ-साथ कविता और साहित्य लेखन में प्रवृत्तियों में भी उन्होंने अपनी लेखनी चलाई है । फिर भी उनका नाम उपन्यासकार के रूप में ज्यादा प्रसिद्ध है । वह एक अच्छे उपन्यासकार माने जाते है । हिन्दी मोरवालजी के कृतित्व के अन्तर्गत सर्वप्रथम हम मोरवालजी की कविता देखेंगें जो निम्नलिखित हैं ।

➢ भगवानदास मोरवाल की कविता

जैसा कि प्राय: कर होता है, ज्यादातर लेखकों की साहित्यिक यात्रा की शुरूआत कविता से होती हैं । भगवानदास मोरवाल भी इसके अपवाद नहीं । स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं में नाम प्रकाशित करवाने की इच्छा के चलते कुछ तुकबंदियों से उनकी साहित्यिक यात्रा का आगाज हुआ । हाँ, यह बात दीगर है कि मोरवाल इनको कविता मानने की बजाय विकास की एक प्रक्रिया मानते हैं । वे कहते हैं, 'आज भी मेरे पास उन प्रकाशित कविताओं, गजलों, गीतों की फाइलें पडी हैं । उन्हें देखता हूँ तो हँसी आती है । लेकिन प्रारम्भिक दिनों के इस लेखन ने ही उनके सृजक व्यक्तित्व का निर्माण किया, इसमें कोई दो राय नहीं ।

स्कूल के अंतिम दिनों मे इन्हें लेखन के प्रति सोच जाग्रत हुई कक्षा ग्यारहवीं में पढते वक्त (१९७७) पहली कविता लिखी । कविता का शिर्षक था- 'मेरा स्वप्न', जो बाद में गुडगाँव से प्रकाशित होनेवाले एक साप्ताहिक 'सुपर एक्सप्रेस' के २५ नवम्बर १९८० के अंक में प्रकाशित हुई इस कविता में किशोर मन के

सपनों, उनकी आकांक्षाओं और राष्ट्र भक्ति का जज्बा छात्र में दिखाई पडता है-

'जब कभी मैं देखता हूँ, खिलती कलियाँ, ये बहारें ।
याद आते हैं स्वप्न में, स्वर्ग के सारे नजारे ।
पर मेरा देश विशाल, इसमें है सारे सितारे ।
हैं कहीं पर्वत विशाल, तो कही नदियाँ ये नाले ।
इसमें है ऐसे जवान, गाती दुनिया जिनके गुणगान ।
है नहीं हिम्मत किसी की, जो करे इनका अपमान ।
वीर भगतसिंह लाल बहादुर, थे ये ऐसे कर्णधार ।
आज हमें उनके सपनों को, जल्दी करना है साकार ।
इसमें भाषा अलग-अलग है, है पहनावा अलग-अलग ।
अपने देश के प्रति उनमें, उठती रहती प्रेम-उमंग ।
कितना विशाल मेरा देश, देखकर बढता मेरा ध्येय ।
मेरी सदा यही कामना, होती रहे सदा विजय ।'

हालाकि यह कविता उनकी पहली स्वरचित रचना है किन्तु पहली प्रकाशित रचना है- शायद सभी जानते है । यह लघु कविता गुडगाँव से प्रकाशित दैनिक पत्र 'मेवात' के जून १९८० के अंक मे प्रकाशित हुई थी । स्नातक कर रहे भगवानदास के विचारों मे पूर्वपेक्षा गूढता और सूक्ष्मता की झलक मिलती हैं-

प्यारे साथियों
काफी अरसे से
इस धरा पर एक अदृश्य शक्ति,
जो ऊपर से नीचे तक

गहरे बेईमानी रंग का चौला
सिर पर अहंकार की टोपी पहने
माथे पर धर्म के नाम का चंदन का झुठा तिलक लगाए,
गले में इश्वर के नाम की झूठी माला पहने
लोगो को अपने जाल में फँसाए हुए
चारो तरफ बडी ही सादगी से धूम रही है
उसका नाम शायद सभी जानते है-
नीचता ।

इस कविता में धर्म के नाम पर लूट-खसोट जैसी बुराईयों की और मोरेवाल ने ध्यान आकर्षित किया है । शैक्षिक दृष्टि से अत्यन्त पिछडे हुए मेवात क्षेत्र में शिक्षा का प्रतिशत आज भी चार या पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं हो पाया है, अत: मोरवालसे इस प्रारंभिक अवस्था में गंभीर और बहु आयामी कथ्य तथा उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति की अपेक्षा करना बेमानी है । इन प्रारंभिक रचनाओं मे कच्चापन दिखाई देता है, लेकिन इस कच्चेपन में संभावनाए भी स्पष्ट दिखाई देती है । प्रारंभिक भावुकता पूर्ण विचारों का पूर्ण परिष्कार इनकी बाद की कहानियों और खासकर इनके उपन्यास 'काला पहाड' में प्रतिफलित है ।

मोरवाल के प्रारंभिक कस्बाई लेखन को प्रोत्साहित करनेवाले व्यक्ति थे- पी.सी.आर्य, जो मुंशी प्रेमचंद के नाम से प्रसिद्ध थे । आजीवन अविवाहित रहे । आर्य पेशे से अध्यापक थे तथा 'वीर अर्जुन' और एक क्षेत्रीय अखबार 'मेवात' के लिए संवाददाता का कार्य भी करते थे । उन्हीं के माध्यम से मोरवाल अपनी रचनाएँ 'मेवात' में प्रकाशनार्थ भेजते थे।

कॉलेज के दिनों में संस्कृत के प्राध्यापक डॉ. रौनक अली और अर्थशास्त्र के प्राध्यापक अस्मानी साहब ने भी बहुत प्रोत्साहित किया था ।

जहाँ तक कविता का सवाल है, वह मोरवाल जी को अधिक रास नहीं आई। एकपात्र काव्य संग्रह 'दोपहरी चुप है' के प्रकाशन के पश्चात उन्होंने अपना पूरा ध्यान कथा-साहित्य की ओर लगा दिया । इस सम्बन्ध में वे कहते है कि- जिन मुद्दों को लेखकर मैं लिखना चाहता हूँ वह कविता में संभव नही कविता की एक सीमा होती है । साम्प्रदायिकता कैसे मसलों को जितना मुखर रूप से कथा-साहित्य में उठाया जा सकता है, उतना कविता में नहीं ।

➢ भगवानदास मोरवाल की कहानियाँ

मोरवाल के इस कथन की पुष्टि उनके प्रथम कहानी संग्रह, 'सिला हुआ आदमी', (१९८६) की 'जहरीले साये', 'नौकरी', 'लक्ष्मी', 'अशिक्षा', 'सिला हुआ आदमी' जैसी कहानियों से होती है । इस संग्रह के क्लेप पर राजेन्द्र अवस्थीने लिखा है- 'भगवानदास मोरवाल की कहानियों से मैं परिचित हूँ । उनकी कहानियाँ अपने वातावरण के प्रति सजाग और जाग्रत हैं । सरस-शैली में एक घटनाक्रम उभरता है और फिर वह धीरे-धीरे अनेक सम्भावनाओं से उलझता हुआ समाप्त हो जाता है । इस प्रक्रिया में लेखकने अपनी भावभूमि को प्रधानता दी है । कहने को ये कहानियाँ वैयक्तिक एवं निजी अनुभवों पर लिखी गई कहानियाँ है, किन्तु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि निजी और वैयक्तिक सरोकार भी सामाजिक परिस्थितियों के रूप ही होते हैं । इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ जिन्हे लघु कहानियाँ कहना उचित होगा- कस्बाई किशोरमन के हार्दिक उद्गार और छटपटाहट से रूप ग्रहण करती हैं। इन कहानियों पर हिन्दी जगत में अधिक नोटिस नहीं लिया गया ।'

अगले वर्ष मोरवालजीने 'हिन्दी की श्रेष्ठ व्यग्य रचनाएँ' (१९८७) नाम से एक पुस्तक का सम्पादन किया । इस पुस्तक में जहाँ हिन्दी के वरिष्ठ रचनाकार विष्णु प्रभाकर, कमलेश्वर, शैलेष मटियानी, हिमांशु जोशी, चित्रा मुदगल, मृदुला गर्ग, राजेन्द्र अवस्थी आदि को लिया गया है वही दूसरी और ऋता शुक्ल, ममता कालिया, विजय किशोर, महेश दर्पण जैसे उभरते हुए सशक्त-रचनाकारों को भी स्थान दिया गया है । इन्होंने 'इक्कीस श्रेष्ठ कहानियाँ' (१९८८) का भी संपादन किया जिसमें नए-पुराने सभी रचनाकारों की श्रेष्ठ कहानियाँ संकलित है ।

भगवानदास मोरवाल अब तक लगभग तीन दर्जन कहानियाँ लिख चुके हैं, जो तीन कहानी-संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी है । 'सिला हुआ आदमी' (१९८६) के पश्चात 'सूर्यास्त के पहले' (१९९०) तथा 'अस्सी मांडल उर्फ सुबेदार' (१९९४) शीर्षक दो और संग्रह आ चूके है । ये संग्रह लेखक की परिपक्वता और 'टेकनीक' की दृष्टि से पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कृत हैं । कहानियों का आकार बढा है और सत्य को पकडने की कलात्मकता अधिक गंभीर हुई हैं । इन संग्रहों मे शामिल अधिकतर कहानियाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित हो चुकी हैं । १९८३ से १९९० के बीच संघर्षशील जीवनकाल मे लिखी इन कहानियों में व्यवस्था के प्रति आक्रोश, पीडा और मानवीय संवेदना को अभिव्यक्त दी गई हैं । इन्हीं गर्दिश के दिनों मे 'पहली हत्या' (गंगा, दिल्ली, सितम्बर १९८८: संपादक कमलेश्वर) 'झूठा दिन' (दैनिक हिन्दुस्तान, दिल्ली, १२ नवम्बर १९८९) 'सूर्यास्त से पहले' (आजकल, दिल्ली, सितम्बर १९९० के४६ वे अंक में), 'पटाक्षेप' (सारिका दिल्ली, अप्रेल १९८९ तथा कथाबिम्ब, बम्बई, अप्रैल-जून १९९०) 'भूकम्प' (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिल्ली, १५ मार्च, १९९७) जैसी उत्कृष्ट कहानियाँ लिखीं । इनके अतिरिक्त 'अस्सी मांडल

उर्फ सूबेदार', 'महराव', 'लेकिन', 'रंग-अबीर', 'बस', 'तुम न होते पिताजी', 'खिडकी' जैसी कहानियोंने हिन्दी कथा-संसार में अपनी खास जगह बनाई है ।

'अस्सी मॉडल उर्फ सुबेदार की भूमिका में प्रो. नित्यानंद तिवारीने मोरवाल के सृजन-कौशल पर लिखा है- 'मोरवाल के पास वह दृष्टि ओर भाषा है जो चीजों और स्थितियों को इतनी दूर तक और देर तक देखती है कि उनकी भीतरी असलियत के रूपों को झलका सकें । इनकी कहानियों में नाटकीयता के साथ-साथ कवित्व भी है जो जीवन प्रसंगों को गहरा बनाता हैं । इनके अलावा समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होनेवाली कहानियाँ हैं- 'अंधेरा' (दैनिक हिन्दुस्तान, दिल्ली, १० नवम्बर १९९९) 'ठिठोली' (दैनिक ट्रिब्यून, चण्डीगढ), 'लक्ष्मण रेखा' (दैनिक हिन्दुस्तान, दिल्ली, १० मई १९८७), 'क्षितिज की और' (दैनिक हिन्दुस्तान, दिल्ली १ अप्रेल, १९८९) 'बारात' (राजस्थान पत्रिका, जयपुर और मंजुली दर्पण, दिल्ली) 'जीने के लिए' (दैनिक हिन्दुस्तान, दिल्ली: २६ अकटूबर, १९८६) 'टूटते तट बंध' (सहज आनंद, (प्रवेशांक) दिल्ली, जून १९८९), 'सेल्स गर्ल' (भाषा, सितम्बर-अक्टूबर, १९९४), 'मैं अभी जिंदा हूँ' (दैनिक मिलाप संदेश, दिल्ली, ३ मई, १९८६), 'संवादों के बीच' (दैनिक ट्रिब्यून, चण्डीगढ, ११ अक्टूबर १९८७), 'अप्रवासी' (जनाधार भारती, (प्रवेशांक) जुलाई १९९१), 'अपनी खुशबू' (सैनिक समाचार, दिल्ली अंक- ४३, २८ अक्टूबर, १९९०), 'ऐसा तो नहीं चाहा था' (दैनिक जागरण, कानपुर, २० सितम्बर, १९८७), 'धूप से जले सूरजमुखी' (आजकल, दिल्ली, दिसम्बर १९८८), 'मुस्कराहट जो लौट आई' (जागृति, चण्डीगढ, अप्रैल, १९८८), 'लिलहार' (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, दिल्ली, १९ जुलाई १९८७), 'खिडकी' (दैनिक ट्रिब्युन, चण्डीगढ १३ तथा २०, अक्टूबर, १९९६), दो अंको

में) 'परिणति' (दैनिक हिन्दुस्तान, दिल्ली, १९ अप्रैल १९९८) 'घडी' (साक्षात्कार: अंक २१५: जुलाई २००४) आदि ।

आजकल उपन्यास लेखन पर अधिक ध्यान केन्द्रित कर लेने के कारण कहानी-लेखन कुछ मंद अवश्य पडा है, पर रूका नहीं है । अभी भी समय-समय पर प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कहानियाँ प्रकाशित हो रही है । हाल की कुछ कहानियों में सांकेतिकता और लाक्षणिकता का पुट बढे है और हाड-हाड को कंपा देनेवाला ठंडापन पाठक को झिंझोड डालने की कुव्वत रखता है । उम्मीद की जानी चाहिए की उनका अगला संग्रह निश्चय ही एक नयी भंगिसा के साथ अवतरित होगा ।

➢ भगवानदास मोरवाल के उपन्यास

भगवानदास मोरवाल ने कविता को अपने अनुकूल नहीं पाया और कहानियों ने उन्हें नाम तो दिया किन्तु जिस प्रसिद्धि की चाह प्रत्येक लेखक को होती है, वह उन्हें नहीं मिल पाई । इस कमी को उनके उपन्यासों- 'काला पहाड' (१९९९), 'बाबल तेरा देश में' (१००४) और 'रेत' (२००८) ने पूरा किया । 'काला पहाड' के प्रकाशन ने उन्हें हिन्दी कथा साहित्य का सबसे चर्चित, उभरते हुए लेखक के रूप में स्थापित किया तो 'बाबल तेरा देश में' ने उनको स्थायित्व दिया और 'रेत' ने उनके बारे में जो सभी के मन में धारणा थी कि वह मुस्लिम समाज को ही केन्द्रित बनाके लिखते है उसे तोडा है । वास्तव में उनकी प्रतिभा उपन्यासों में ही अधिक रमी है ।

ये उपन्यास शैक्षणिक, आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछडे हुए मेवात क्षेत्र के 'समाज और उसकी संस्कृति का एक जीता-जागता आईना एवं गतिशील चित्रकृति

जैसे है । 'काला पहाड' और 'बाबल तेरा देश में' दोनो उपन्यासों में मेवात का न केवल वर्तमान यथार्थ झाँकता है, बल्कि अतीत का काला-सफेद वृतान्त भी भरपूर उजागर हुआ है । लेखक की निगाह यहाँ केवल समय पर नहीं, संवेदना पर भी है। समय और संवेदना दोनों मिलकर मेवात की एक मुकम्मल और प्रामाणिक तस्वीर पेश करते हैं । इन उपन्यासों मे लेखकने जिस 'मेव' समाज को उठाया है, वह हिन्दी-प्रदेश में संभवत: अकेला समाज है, जो इतना संगुम्फित और समेकित चला आया है। लगभग सात-आठ दशक पूर्व हिन्दू से मुसलमानबना यह समाज आज भी हिन्दु-परम्पराओं को छोड नहीं पाया है । कुछ मोटी अभिलाक्षणिकताओं जैसे खतना, रोजा, नमाज, निकाह, हज, जकात के अलावा कुछ भी मुसलमानों जैसे नहीं हैं ।

मेवात की साँझी संस्कृति को आधार बनाकर लेखक ने 'काला पहाड' उपन्यास में आधुनिक साम्प्रदायिक व राजनीतिक ताकतोतं के कुत्सित प्रयासों पर व्यंग्य किया है । भारत विभाजन की घटना के दौरान जो मेव जाति गाँधीजी के कहने पर भारत में ही रूक गई और अपनी जन्मभूमि को धर्म से अधिक महत्व दिया, वही जाति वर्तमान स्वार्थी राजनीति के चलते अकेली पडती जा रही है । लेखक ने 'अयोध्या त्रासदी' के पश्चात मैवात में फैली साम्प्रदायिक हिंसा और राजनेताओं द्वारा आग पर अपनी रोटियाँ सेंकने के दृश्यों द्वारा मेवात के सांस्कृतिक विघटन को दर्शाया है । सलेमी जो उपन्यास का मुख्य पात्र है, जीवन भर फिरका परस्त लोगों से संघर्ष के बावजूद भी मेवात को झुलसने से नहीं बचा पाना और अन्त में इसी दु:ख से वह मृत्यु को प्राप्त होता है । सलेमी की मृथ्यु आपसी सदभाव और सौहार्द के टूटने का सांकेतिक रूप है । उपन्यास की समीक्षा करते हुए

इलाशंकर गुहा लिखते है- 'काला पहाड स्वाधीन समाज के पिछलेपचास वर्षो के इतिहास को रेखांकित करने की कोशिश तो करता ही है, निचले तबके, दलित समाज के जीवन की, मानवीय त्रासदी को भी हमारे सामने रखता है । साम्प्रदायिकता, धार्मिक उन्माद, व राजनैतिक परिदृश्य के अन्त: सम्बन्धों की ईमानदारी से व्याख्या करता है । पिछली सदी में प्रकाशित अच्छे उपन्यासों मे इसकी गणना होनी ही चाहिए ।'

'काला पहाड' की तरह इनका दूसरा उपन्यास 'बाबल तेरा देश में' भी चर्चा के केन्द्र में है । स्त्री-समस्याओं तथा स्त्री अस्मिता का केन्द्र में रखकर लिखे गए इस उपन्यास में इस्लाम मतावलम्बी स्त्री से जुडी समस्याओं को पूरी जानकारी तथा प्रामाणिकता के साथ उठाकर इस्लाम की परिधी में ही उनके समाधानों को बताने का प्रयास किया गया है । स्त्री-उत्पीडन के सभी प्रश्न एक-एक कर सामने आते हैं । मेवात में विशेषकर मेव समाज में जिस तरह स्त्री धार्मिक और कानूनी प्रपंचों के बीच झूल रही है, इस उपन्यास में उन्ही मर्दवादी प्रपंचों का खुलासा करने की कोशिश है। पंचायती राज व्यवस्था में स्त्रियों के लिए आरक्षण का प्रावधान है, जिसके तहत शकीला सरपंच बन जाती है उसके सरपंच बन जाने के बाद उसका पति दीन मुहम्मद उसे किनारे पर स्वयं सरपंची करने लगता है और सारा गाँव उसे ही सरपंच मानने लगता है । मतलब स्त्री-अधिकारों पर पुरुष समाज कुण्डली मारकर बैठ जाता है । लेकिन लेखक ने स्त्री चेतना की ओर संकेत करते हुए सकीला को क्रांति करते दिखाया है । मुसलमानों की देखा-देखी मेवों में भी तलाक की प्रवृति बढ रही है । तीनबार 'मुसलमानों की देखा-देखी मेवों ने भी तलाक की प्रवृति बढ रही है । तीनबार 'तलाक' कहते ही पुरुष को अपनी पत्नी से छुटकारा

मिलजाता है । हालांकि कुछ ही वर्ष पुर्व तक मेवों में हिन्दुओं की भाँति शादी को जन्म-जन्मांतर का रिश्ता मानकर चलने की प्रवृति थी । शगुफ्ता, समीना, मुमताज आदि स्त्रियाँ शरीयत और हदीस पर बलि चढाई जाती हैं । उपन्यास में लेखक ने 'मेव कस्टमरी लॉ' के इस प्रावधान पर भी तीखे सवाल उठाए है कि औरतों का पुश्तैनी जमीन-जायदाद में कोई हक नहीं है। इस प्रकार स्त्री समस्या के साथ-साथ इसमें साम्प्रदायिक ताकतों पर भी विस्तृत चर्चा की गई है । 'काला पहाड' की तरह ही इस उपन्यास के पात्र भी दलित व नारी है और भाषा मेवाती है ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि- 'बाबल तेरा देश में' 'काला पहाड' के आगे के मेवात की कहानी है । ये दोनों उपन्यास मिलकर समकालीन मेवात की एक मुकम्मल राजनीतिक, सामाजिकार्थिक एवं सांस्कृतिक तस्वीर खडी करते हैं । दूसरा उपन्यास पहले का अगला विकास है ।

हिन्दी कथा में अपनी अलग और देशज छवि बनाए और बचाए रखनेवाले चर्चित लेखक भगवानदास मोरवाल के इस नए उपन्यास 'रेत' के केन्द्र में है- माना गुरू और माँ नलिन्या की संतान कंजर और उसका जीवन । कंजर यानी काननचर अर्थात् जंगल में घूमनेवाला । अपने लोक-विश्वासों व लोकाचारों की धुरी पर अपनी अस्मिता और अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती एक विमुक्त जनजाति ।

गाजूकी और इसमें स्थित कमला सदन के बहाने यह कथा ऐसे दुर्दम्य समाज की कथा है, जिसमें एक तरफ कमला बुआ, सुशीला, माया, रूक्मिणी, वंदना पूनम हैं, तो दूसरी तरफ है संतो और अनिता भाभी । 'बुआ' यानी कथित सभ्य समाज के बर-अक्स पूरे परिवार की सर्वेसर्वा, या कहिए पितृसातात्मक व्यवस्था में चुपके से सेंध लगाते मातृसतात्मक वर्चस्व का पर्याय और 'गंगा नहाने'

का सुपात्रा जबकि 'भाभी' होने का मतलब है घरों की चार दिवारी में घुटने को विवश एक दोयम सर्जे का सदस्य। एक ऐसा सदस्य जो परिवार का होते हुए भी उसका नहीं है ।

'रेत' भारतीय समाज के उन अनकहे, अनसुलझे अंतर्विरोधों व वटों की कथा है, जो घनश्याम 'कृष्ण' उर्फ वैद्यजी की 'कुते फेल' साइकिल के करियर पर बैठ गाजूकी नदी के बीहडों से होती हुई आगे बढती है । यह सफलताओं के शिखर पर विराजती रूक्मिणी कंजर का ऐसा लोमहर्षक आख्यान है जो अभी तक इतिहास के पन्नों मे अतीत की रेत से अटा हुआ था । जरायम पेशा और कथित सभ्य समाज के मध्य गडी यौन-शुचिताओं का अतिक्रमण करता, अपनी गहरी तरल संलग्नता, सूक्ष्म संवेदनात्मक रचना-कौशल तथागजब की किस्सागोई से लबरेज लेखक का यह नया शाहकार, हिन्दी में स्त्री-विमर्श के चौखटों व हदों को तोडता हुआ इस विमर्श के एक नए अध्याय की शुरूआत करता है ।

➢ सम्मान/पुरस्कार

इन्हें समय-समय पर पत्रकारिता और साहित्य में योगदान के लिए पुरस्कृत और सम्मानित भी किया गया है । स्वतंत्र पत्रकारिता के दौरान पत्रकारिता के लिए प्रथम वर्ष, १९८५ में 'प्रभादत स्मारक पुरस्कार', १९९९ में साहित्य के लिए 'शोभना पुरस्कार', १९९३०९४ तथा १९९९ के लिए हिन्दी अकादमी दिल्ली द्वारा 'साहित्यिक कृति पुरस्कार' एवं 'साहित्यिक कृति सम्मान', भारतीय दलित साहित्य अकादमी द्वारा १९९५ में ही पूर्व राष्ट्रपति श्री आर.वैंकटरमन के कर-कमलों द्वारा दक्षिण भारत का प्रतिष्ठित 'राजाजी पुरस्कार' प्रदान किया गया । वर्ष २००४ के लिए उन्हें हिन्दी अकादमी द्वारा 'दिल्ली का साहित्यकार' सम्मान प्रदान किया गया।

इसी तरह किसी भी कृति को जानने और समजने से पहले हमें उस कृतिकार के व्यक्तित्व को जानना अवश्य बन जाता है । क्योंकि उनके आस-पास के वातावरण को असर अवश्य ही उनके साहित्य में लिखता हैं । ऐसा ही हम मोरवालजी के बारे में कह सकते है । उनके उपन्यास में वह अपनी आँखों से देखी हुई बात को पेश करते है । जो हम 'काला पहाड' में देख सकते है । इस प्रकार सारी घटना पहले उसकी आँखो के सामने घटित होता है और बाद में कलम के माध्यम से साहित्यिक रूप में हमारे सासामने आती है ।

❋ अब्दुल बिस्मिल्लाह

किसी भी रचनाकार के साहित्य का मूल्यांकन तथा विश्लेषण करने के पहले उसके जीवन संबंधी बातों को जानना जरूरी होता, क्योंकि लेखक के व्यक्तित्व में ही कृतित्व समाहित होता है । लेखक के आस-पास का परिवेश, उसके जीवन में घटित घटनाएँ, उस पर होने वाले प्रभाव भी उसके साहित्य के प्रेरणास्त्रोत होते हैं। साहित्यकार की कृतियाँ पढकर तथा उसके व्यक्तित्व को जानकर पाठक उससे प्रेरणा ग्रहण करता है और उसके प्रति पाठक के मन में आदर भाव जागृत होता है। साहित्यकार के साहित्य में उसके अपने अनुभव दृष्टिगत होते हैं । साहित्यकार के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं से उसका साहित्य समझना आसान होता है । कन्हैयोलाल नंदन ठीक ही लिखते हैं कि 'किसी भी रचनाकार की खासतौर पर बडे रचनाकार की सबसे बडी विशेषता होती है, उसका व्यक्तित्व हर किसी को अपने-अपने ढंग से ग्रहण करने के आयाम देता है ।'[१] बिस्मिल्लाह जी का व्यक्तित्व भी इसी तरह का है । हर्षदेव लिखते हैं- 'कुछ व्यक्तियों का जीवन, जीवन नहीं होता, बल्कि साक्षात आश्चर्य होता है । ऐसे व्यक्तित्व अपने जीवन काल में अपने कर्मों से हमें

चमत्कृत किए रहते हैं ।'[२] बिस्मिल्लाह जी का जीवन भी हमें चमत्कृत कर देता है।

समकालीन हिन्दी साहित्यकारों में जिन विशिष्ट साहित्यकारों की चर्चा की जाती है, उनमें अब्दुल बिस्मिल्लाह प्रमुख है । इस वैश्विक सभ्यता, बाजारीकरण और मूल्यहीनता के दौर में भी उनकी व्यथा लोक से, जनसामान्य से जुडी हुई हैं । बिस्मिल्लाह जी एक उच्च कोटी के प्रतिभावान व्यक्ति है । वे नई पीढी के बहुचर्चित और प्रतिभा संपन्न रचनाकार है । उनकी रचनाओं में अधिकतर जीवनानुभव दृष्टिगोचर होते हैं । उनके विचार संघर्षशील मानव के विचार हैं । वे अपने भोगे हुए बुरे दिनों को भी नहीं भूले हैं । अपने जीवन में उन्होंने जो देखा, उसे ही अपनी कलम चलाते हुए बयान किया है । समकालीन जीवन में जो कुछ बदलाव आ रहा हैं, उसे भी उन्होंने ठीक तरह से अंकित किया है । उनके व्यक्तित्व के संबंध में अगर हम कहना चाहे तो कह सकते हैं कि उन्होंने शून्य में से विश्व निर्माण किया है ।

➢ जन्म तथा नामकरण

नई पीढी के बहुचर्चित कवि, कथाकार तथा प्रबुद्ध चिंतक अब्दुल बिस्मिल्लाह जी का जन्म 'स्कूली दस्तावेज के अनुसार ५ जुलाई १९४९ को उतरप्रदेश के इलाहाबाद जिले के बलापुर नामक गाँव में हुआ, लेकिन बिस्मिल्लाह जी से वार्तालालप के दौरान यह ज्ञात हुआ कि उसका जन्म ३ अगस्त १९५० में हुआ है ।'[३] बिस्मल्लाह जी की जन्म तीथी के संबंध में अलग-अलग मत होने के बावजूद भी दस्तावेज तथा उनसे हुई चर्चा के अनुसार उनका जन्म ५ जुलाई १९४९ मानना ही उचित होगा । बिस्मिल्लाह जी अपने जन्म के संबंध में बताते है कि 'मेरे पिता ने चार शादियाँ की थी । पहली बाबी को तलाक दिया, दूसरी मर गयी, तीसरी को पुन: तलाक दिया । तीसरी बीबी हिन्दू थी, जिनसे एक लडकी भी थी, जो पैत्रुक स्थान

ब्याही थी और मेरी अम्मी चोथी बीबी थी । मेरी माँ के बच्चे एक वर्ष के होते ही मर जाते थे । मैं जब अपनी माँ के कोख में था, तब मेरी माँ को किसी फकीरने दुवा दी कि तुझे लडका होगा और बहुत नाम कमाएँगा । माँ हुआ सुनकर रोने लगी और फकीर से कहने लगी है कि मेरे बच्चे जिवित नहीं रहते हैं । एक साल के होकर मर जाते हैं । तब फकीर ने कहा कि यह जिएगा, इसकानाम बिस्मिल्लाह रखना । मैं जी गया मेरे बाद जो भी पैदा हुए मर गए ।'[४] अत: बिस्मिल्लाह जी का जन्म होने पर उनका नाम बिस्मिल्लाह रखा गया । स्कूल के एक मास्टर ने उनके नाम के आगे अब्दुल जोड दिया तभी से वे 'अब्दुल बिस्मिल्लाह' के नाम से जाने जाते हैं । अपने नाम के आगे पिताजी का नाम नहीं जोडा है तथा अपनी जाति का उल्लेख भी नहीं किया है । अपनी जाति के संबंध में भी कहते हैं कि पिताजी सिदिकी थे तो माता खान थी ।

➢ माता-पिता

बिस्मिल्लाह जी की माता का नाम करीमनबी था । माँ का खानदान बहुत बडा था, लेकिन मामूजान निहायत गरीब थे । उनकी माँ अनपढ होकर भी संस्कारशील तथा संघर्षशील महिला थी । पति की नौकरी छूटने पर व्यापार में घाटा होने पर धरागृहस्थी चलाने का काम उन्होंने ही किया था । वह अपने पति द्वारा अन्याय अत्याचार भी सहती रही । कुछ दिनों बाद उनमें तलाक भी हुआ और अन्त में जंगल मे किसी पेड के नीचे दर्दनाक मौत हुई थी ।

बिस्मिल्लाह जी के पिता का नाम वलीमुहम्मद था । वे उर्दू, अरबी और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे । आर्थिक स्थिति अच्छी होने पर भी 'उन्होंने शौकिया तौर पर जंगल विभाग में नौकरी की थी, परंतु जंगल विभाग के अधिकारियों के

साथ तू-तू मैं-मैं के कारण उन्होंने नौकरी त्याग दी थी । नौकरी अपनी बीवी के देश में होने के कारण वहीं रहते थे पर नौकरी छोडने के बाद वे अपने देश चले आए । वहाँ वे चमडो का व्यापार करने लगे, कभी चुना बगैरा मारने का काम करने लगे, कभी मछलियों का शिकार करने लगे तो कभी राजनीति में भी हिस्सा लिया पर आखिर तक अच्छी कमाई नहीं कर सके । आर्थिक स्थिति बहुत खराब होने से अक्सर बीवी से झगडते थे, मारपीट करते थे । बिना कहे बिस्मिल्लाह जी के लिए भी कुछ नहीं लाते थें । बीवी के गहने रेहन रखकर जो चमडो का व्यापार शुरू किया उसमें घाटा आया और सारा पैसा लेहना में फँस गया था तथा भूखों मरने की नौबत आ गयी थी । तब बिस्मिल्लाह जी की अम्माँ ने टोपरा उठाया ।'[५] यहीं से बिस्मिल्लाह जी के जीवन में गरीबी का आरंभ हुआ था ।

➢ बचपन

बिस्मिल्लाह जी का बचपन मण्डला जिले के हिनौता नामक गाँव में बीता । उनके पिता इसी इलाके में जंगल विभाग में नौकरी करते थे । माँ के ही गाँव में वे भी रहते थे । अत: बिस्मिल्लाह जी का बचपन अपने ननिहाल में ही व्यतीत हुआ है । उनका बचपन बहुत दयनीय परिस्थितियों में गुजरा है । अपने बचपन में कभी वे किसी अच्छी चीज खाने के लिए तरसते थे, कभी एक चड्डी के लिए विवश होते थे तो कभी टूटी-फूटी चप्पल से परेशान होते थे । आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण उनके पिता ने कभी भी उनकी ख्वाईशों तथा जरूरतों पर ध्यान नहीं दिया था । उन्हें अपने माता-पिता में होने वाले झगडों तथा मारपीट के कारण परेशानियाँ भी उठानी पडती थी । सुंदरलाल कथूरिया का कहना है कि 'सतत संघर्ष जीवन की सफलता का मूल है ।'[६] यही बात बिस्मिल्लाह जी के बचपन पर

लागू होती है । उनकी सफलता भी बहुत कुछ उनके बचपन के संघर्षशील जीवन पर आधारित है ।

बिस्मिल्लाह जी का बचपन साधारण परिवारों के बच्चों जैसा नहीं गुजरा है । बचपन में उन्होंने अपने पिताजी के साथ मछलियों के शिकार किए, चमडो के कारोबार में हाथ बटाया, जंगलों में हड्डियाँ बीनने का काम किया है । इसी कारण उन्हें बचपन में खेलकूद से वंचित रहना पडा । बचपन के दोस्तों के साथ कभी उनकी गहरी दोस्ती नहीं हुई । थोडे बहुत दोस्त उन्हें मिले, लेकिन समय-समय पर वे भी बिछडते गए । इर्द के त्यौहार पर भी वे कभी उत्साहीत नही हुए । वे अपने पुराने कपडे पहनकर ही ईद मनाया करते थे तथा रिश्तेदारों के यहाँ से आयी हुई सेवैया खाया करते थे । कभी कभार ईद जैसी खुशी के दिन भी भूखे सो जाया करते थे । बचपन में वे कई बार बीमार हुए मगर उनका अच्छा ईलाज नहीं हुआ। बचपन में अनेक मुसिबतों के पहाड उन पर टूट पडे थे । बिस्मिल्लाह जी जब आठवी कक्षा में थे तब उनके माता-पिता का देहान्त हुआ । साक्षात्कार में उन्होंने बताया कि 'बारह-तेरह साल की उम्र में ही आठ-नौ महिने के बीच माता-पिता का देहान्त हो गया था ।'[७] छोटी उम्र में ही वे आश्रयहीन हो गये । उनके चाचा तथा उनके रिश्तेदारों ने उनके प्रति षडयंत्र रचा था और उन्हें बेघर कर दिया था । उनका सोचना था कि यह लडका अगर बडा हुआ तो जायदाद में हिस्सेदार बनेगा । तब से उनके जीवन में भटकाव शुरू हुआ । उस समय उन्हें उसकी सौतेली हिन्दू माँ की लडकी ने आश्रय दिया । कुछ कारणवश बहन से भी उनकी परवरिश नहीं हो सकी । वहाँ से भी उन्हें निकाल दिया गया । बाद में वे किसी रिश्तेदार के यहाँ आश्रय पाते, लेकिन वहाँ से उन्हें निकाल दिया जाता था ।

बचपन का जीवन उन्होंने बहुत ही लाचारी की अवस्था में गुजारा है । उनके बचपन के जीवन संबंधी अनेक बातें हमें उनके 'जहरबाद' तथा 'समरशेष है' नामक आत्मकथात्मक उपन्यासों में परिलक्षित होती है ।

निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि उनका बचपन लाचारी, बेबसी में गुजरा, लेकिन वे भी परिस्थितियों से जूझते रहे और परिस्थितियों से डटकर सामना करते आगे बढते रहे हैं । बचपन में ही उन्हें संघर्ष करते रहने का सबक मिला है ।

➢ शिक्षा

बिस्मिल्लाह की की प्रारंभिक शिक्षा मध्यप्रदेश के मण्डला जिले के हिनौता नामक गाँव में हुई । संयोगवश उनकी शिक्षा 'हिनौता के उस विद्यालय में हुई जो स्कूल उनके पिताजी के प्रयासों से खुला था । यह शिक्षा बहुत ही दयनीय अवस्था में हुई ।'[८] मिडिल तक की शिक्षा दुल्लोपुर (म.प्र.) के मिशन स्कुल में हुई । वे बचपन से ही मेहनती तथा कुशाग्र बुद्धि के थे । वे पढने के बहुत शौकीन थे । बिस्मिल्लाह जी कहते हैं- 'बाजार से कोई चीज कागज में बाँधकर आती थी, उस कागज को मैं बडे शौक से लेता और उस पर लिखी हुई हर बात पढने लगता था ।'[९]

उनकी हाईस्कूल और इण्टरमीडिएट की शिक्षा उतरप्रदेश के मिर्झापुर जिले में स्थिति लालगंज नामक कस्बे में हुई । इण्टरमीडिएय के बाद वे आर्थिक विपन्नत्राओं के कारण नौकरी ढूंढने के प्रयासों में जुडे रहे । लेकिन 'प्रिन्सिपाल साहब एक पिता की भाँति उनका ख्याल रखने लगे और हर जरूरत को यथासंभव पूरा करने की कोशिश किया करते थे । इस दौर में उनकी किसी मौलाना ने भी सहायता की थी ।'[१०] प्रिन्सिपल साहब ने उनको आगे की पढाई के लिए प्रेरित किया । उन्हें इण्टरमीडिएट में पूरे कॉलेज में सबसे अच्छे अंक मिले थे । बी.ए. में दाखिला लेने

के लिए उनके पास रूपये भी नहीं थे तो उन्होंने अपनी माँ का भोपाली गजरा बेचकर दाखिला करवाया था । उन्होंने अपनी बी.ए. की शिक्षा मिर्झापुर शहर में पूरी की थी ।'[११] बिस्मिल्लाह ने एम.ए. तथा डी.फिल की उपाधियाँ इंलाहाबाद विश्वविद्यालय से हासिल की थी । उनके डी.फिल. (डॉक्टर ओफ फिलासॉफी) के गुरु प्रसिद्ध कवि जगदीश गुप्त रहे हैं । उन्होंने यह उपाधि 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय' विषय पर प्राप्त की है । यह उपाधि आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी लंदन की डिगरी है । इलाहाबाद विश्वविद्यालय में शुरू से ही डी.फिल. डिग्री दी जाती थी । वहाँ उस समय पी.एच.डी. डिग्री नहीं दी जाती थी ।

अत: कहना अनुचित नहीं कि बिस्मिल्लाह जी ने शिक्षा पाना अपना लक्ष्य बनाया था तथा उस लक्ष्य को पूरा करने के लिए उन्होंने अथक प्रयास किए, अनेक मुसिबतों का सामना किया और उच्चकोटि के शिक्षा हासिल कर सके । अपनी शिक्षा के बारे में स्वयं बिस्मिल्लाह बताते हैं कि 'पिताजी उर्दू के सिवा हमें कुछ भी पढने का आदेश नहीं देते थे । अगर उस समय हिन्दी आवश्यक न रहती तो हम कदापि हिन्दी नहीं पढ सकते थे । पिताजी हिन्दी से सख्त नफरत करते थे ।'[१२] अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए उन्होंने छोटी-मोटी नौकरिया तथा ट्युशने भी की थी ।

➢ जीवनयापन तथा नौकरी

बिस्मिल्लाह जी का जीवनयापन उनकी आत्मकथात्मक रचनाएँ 'जहरबाद' तथा 'समरशेष है' में दृष्टिगत होता है । उनके जीवन संबंधी जानकारी प्राप्त करते हुए या पढते हुए रोंगटे खडे हो जाते हैं । उनका जीवन एक अद्‌भूत जीवन है, जो हारकर भी हारना नहीं चाहते थे, मौत आने पर भी उनका सामना करना चाहते थे। उश्रका प्रारंभिक जीवन बहुत सारे संकटों से गुजरा हैं । मातृ-पितृहीन बालक का

बेसहारा जीना और रिश्तेदारों द्वारा भी आश्रय प्राप्त न होना कितना दर्दनाक होता है, इसका परिचय उनके जीवनयापन से मिलता है । वे दु:खों से ही इतने परेशान थे कि उनमें सुखों की अपेक्षा करना व्यर्थ है ।

शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त उन्होंने कई छुटपुट नौकरियाँ की । बचपन से ही अध्यापक बनने की लालसा उनके मन में थी । इसका कारण बताते हुए वे कहते है 'जब औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को जेल में डाला और उनसे पूछा कि आप कौन सा काम करना पसंद करोगे? जवाब मिला कैदियों को पढाऊँगा । औरंगजेब की प्रतिक्रिया थी- शहशाही नहीं गई । याने अध्यापन का अर्थ है शहंशाही ।'[१२]

बिस्मिल्लाह जी ने प्रारंभ में एक स्कूल में अध्यापनका कार्य किया । बाद में मित्र प्रकाशन लिमिटेड में 'माया' नामक पत्रिका के उपसंपादक बने । इसके पश्चात् उन्होंने कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय हनुमाना (म.प्र.) में व्याख्याता पद पर केवल १६ दिन नौकरी की ।[१४] फिर बनारस के एक इन्टरकॉलेज में दस साल तक लेक्चरर रहे । बनारस से 'कदम' नाम से प्रगतिशील विचारोंवाली एक साहित्यिक पत्रिका भी निकाली। उनकी इच्छा थी कि किसी विश्वविद्यालय में जाकर नौकरी करे । उनकी यह इच्छा १९८४ में पूरी हुई । उन्हें जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में नौकरी मिली। उन्होंने १९९३ से लेकर १९९५ तक के दौरान 'वार्सा युनिवर्सिटी वार्सा (पोलेण्ड)' में विजिटिंग एसोसिएट प्रोफेसर के रूप में अध्यापन कार्य किया है । वहाँ उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों को लेकर अध्यापन कार्य किया । १९८८ में सोवियत संघ की यात्रा की । उसी वर्ष ट्युनीशिया में संपन्न अफ्रोएशियाई लेखक सम्मेलन में

हिस्सा लिया । अप्रैल २००५ में बिस्मिल्लाह जी मास्को से वापस आए । मास्को में जवाहरलाल नेहरू सांस्कृतिक केन्द्र है, वहाँ वे एम्बेसी ओफ इंडिया मास्को में जवाहरलाल नेहरू सांस्कृतिक केन्द्र है, वहाँ वे एम्बेसी ओफ इंडिया मास्को की ओर से गये थे । वहाँ उन्होंने दो वर्षो तक हिन्दी तथा भारतीय संस्कृति पर अध्यापन कार्य किया है ।[१५] अब तक बिस्मिल्लाह जी के मार्गदर्शन में आठ विद्यार्थियों ने पी.एच.डी. की तथा चार विद्यार्थियों ने एम.फिल. की उपाधि प्राप्त की है । आजकल वे जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में रीडर के रूप में कार्यरत हैं ।

➢ विवाह तथा पारिवारिक जीवन

बिस्मिल्लाह जी के कोई भाई-बहन नहीं हैं । शुरू से ही उन्होंने अकेले ही भटकाव तथा जिल्लतभरी जिंदगी जी हैं । लेकिन उनका वर्तमान जीवन खुशहाली से बीत रहा है । बिस्मिल्लाह जी अपने विवाह के बारे में बताते हैं- 'मेरा विवाह नौकरी मिलने के बाद हुआ है । यह विवाह मेरी मर्जी से उचित समय पर तथा इस्लामी रीति-रिवाज के अनुसार हुआ है । मेरी ससुराल लखनऊ जिले के फतेहपुर नामक गांव की है ।'[१६] वे प्रगतिशील विचारों के पक्षधर होने के कारण उन्होंने अपना विवाह उचित समय आने पर ही किया है । वे अपने वैवाहिक जीवन से खुश है । उनकी बीवी पढी-लिखी, सुशिक्षित, संस्कारू महिला है । उनक तीन बच्चे हैं, जिसमें दो लडकियाँ तथा एक लडका है । बडी लडकी का नाम शिरी है, जो दसवी कक्षा में पढ रही है। छोटी लडकी का नाम एकरा है जिसे हिर नाम से पुकारा जाता है । वह नववीं कक्षा में पढ रही है । लडके का नाम हिलाल है, जो सबसे छोटा तता चौथी कक्षा का विद्यार्थी है । उनके बच्चे आधुनिक विचारोंवाले हैं । वे हिन्दी को अधिक महत्व नहीं देते । वे अंग्रेजी में ही शिक्षण प्राप्त कर रहे हैं । लडकियाँ अंग्रेजी

अखबार पढना ही अधिक पसंद करती है ।[१७] साक्षात्कार के दौरान अनुसंधान कर्ता ने उनसे प्रश्न पूछा कि आपना साहित्य आपके बच्चों ने पढा है क्या इसके जवाब में उन्होंने कहा कि 'मेरी छोटी बेटी को हिन्दी पढने में दिलचस्पी है । मैंने उसे 'समरशेष है' उपन्यास पढने दिया तो लडकी ने पढकर कहा कि यह सब बकवास है, झूठ है ।'[१८] अत: स्पष्ट है कि उनका विवाह एक सुरक्षित तथा संस्कारशील महिला के साथ उनकीमर्जी से हुआ है । उनके बच्चे भी अच्छी तालीम पा रहे हैं । फिलहाल उनकी जिंदगी खुशहाली से बीत रही है ।

➢ कृतित्व

बिस्मिल्लाह जी के व्यक्तित्व के हर पहलू को हमने देखा है, अब हम उनके कृतित्व का परिचय प्राप्त करेंगे और उनके साहित्यिक योगदान का संक्षिप्त परिचय देंगे । नई पीढी के बहुचर्चित प्रख्यात कवि कथाकार 'अब्दुल बिस्मिल्लाह' का कृतित्व प्रभावशाली एवं बहुमुखी, बहुआयामी रहा है । उन्होंने अपनी कलम चलाते वक्त झीनी-झीनी बातों को भी रेखांकित किया है । उनके लेखन में जो अभावग्रस्त लोग नजर आते है, वे उनके आसपास के परिवेश की देन है । उनके साहित्य में हमें कल्पना से अधिक यथार्थता दृष्टिगत होती है । उनके साहित्य में आशा की किरण मिलती है । उन्होंने अपना साहित्य लेखन कविता से शुरू किया है । बाद में उन्होंने कहानी, उपन्यास, नाटक आदि साहित्य का सृजन किया है ।

➢ उपन्यास साहित्य

अब्दुल बिस्मिल्लाह जी के अब तक प्रकाशित पाँच उपन्यास है । वो इस प्रकार है-

१. समर शेष है सन् १९८४

२. झीनी झीनी बीनी चदरिया सन् १९८६

३. जहरबाद सन् १९८४

४. दन्तकथा सन् १९९०

५. मुखडा क्या देखे सन् १९९६

➢ कहानी साहित्य

बिस्मिल्लाह जी ने सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखी हैं । बिस्मिल्लाह जी की कहानियाँ निम्नलिखित संग्रहों में प्रकाशित हुई है।

➢ टूटा हुआ पंख

प्रस्तुत कहानी संग्रह का प्रकाशन आलेखन प्रकाशन, दिल्ली से सन् १९८१ में हुआ । इस कहानी संग्रह में पन्द्रह कहानियाँ संग्रहित हैं । इसमें संग्रहित कहानियाँ इस प्रकार हैं 'क्षयी', 'कच्ची सडक', 'शीरमाल का टुकडा', 'जन्मदिन', 'अपना अपना अन्त', 'तीर्थयात्रा', 'क्रमश:', 'नन्ही नन्ही आँखे', 'शून्य की ओर', 'शत्रु', 'हीरा', 'थके हुए लोग', 'पागलोंवाली सेल', 'सीला' और 'टूटा हुआ पंख' ।

➢ कितने-कितने सवाल

विवेच्य कहानी संग्रह सन् १९८४ में पराग प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में बारह कहानिया: संग्रहित की गई हैं । जो इस तरह है- 'मुरिद', 'तलाख के बाद', 'दरबे के लोग', 'नया कबीरदास', 'मुर्दे चहेरों के लिए', 'मुक्ति', 'फौलाद बनता आदमी', 'काई', 'दण्ड', 'खण्ड-खण्ड आदमी', 'कितने-कितने सवाल' और 'प्रतिद्वन्द्वी'।

➢ रैन बसेरा

प्रस्तुत कहानी संग्रह में चौदह कहानियाँ संकलित है । इसका प्रकाशन सन् १९८९ में वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली से हुआ है । इसमें संग्रहित कहानियाँ हैं- 'पगला राजा', 'खिलाडी', 'दूसरे मोर्चे पर', 'विदूषक', 'दंगाई', 'भूत', 'कागज के कारतूस', 'अधर्म युद्ध', 'खुशी', 'लफंगा', 'पुरानी हवेली', 'बैरंग चिट्ठी', 'ज्ञानमार्गी' और 'रैन बसेरा' ।

➢ अतिथि देवो भव

यह कहानी संग्रह राजकमल प्रकाशन, दिल्ली से सन् १९९० में प्रकाशित है । जिसमें चौदह कहानियाँ संग्रहित हैं । जो इस प्रकार हैं- 'अलिया धोबी और पाव-भर गोश्त', 'सिद्धकी साहब', 'पूँजी माल और मुनाफा', 'अभिनेता', 'पुष्यभोज', 'खाल खींचनेवाले', 'नर-लीला', 'आधा फुल, आधा शव', 'सुलह', 'यह कोई अन्त नहीं', 'दूसरा सदमा', 'ग्राम सुधार', 'टिन्नु का टेलिफोन' और 'अतिथि देवो भव' ।

➢ जीनिया के फूल

विवेच्य कहानी संग्रह का प्रकाशन वर्ष १९९१ है । जो प्रेम प्रकाशन मंदिर दिल्ली से प्रकाशित हुआ है । जिसके अन्तर्गत सत्ताइस कहानियाँ समाविष्ट है- 'जर्दा', 'इन्द्रधनुष', 'पेशेवर', 'मनुष्य हत्या', 'सालभर का त्यौहार', 'मरूस्थल', 'आग', 'मादा सारस की कातर आँखे', 'एहसास', 'दीवार', उंगलियाँ', 'दो बूढे', 'पटापेक्ष', 'जीनिया के फूल', 'पशु', 'इज्जतदार', 'तूफान से पहले', 'कानून', 'प्रथम प्रसव', 'अछुतोद्धार', 'दैत्य', 'बाजीगर', 'लडके', 'बाप', 'मिट्ठा', 'तराजू' और 'दावत' ।

➢ रफ-रफ मेल

यह कहानी संग्रह राजककमल प्रकाशन, दिल्ली द्वारा सन् २००० में प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत कहानी संग्रह में पन्द्रह कहानियाँ संग्रहित हैं । जो इस प्रकार है- 'जीना तो पडेगा', 'चमगादड', 'लग्गी', 'गोटी', 'बालक स्वामी', 'रफ-रफ मेल', 'गृह प्रवेश', 'नायिका', 'दुलहिन', 'जीवन', 'कर्मयोग', 'नींद जब नहीं आती', 'पेड', 'लंठ' और 'माटा-मिरला की कहानी' ।

➢ अब्दुल बिस्मिल्लाह की विशिष्ट कहानियाँ

इस कहानी संग्रह का प्रकाशन राजकमल प्रकाशन से सन् १९८५ में हुआ है। जिसमें अब्दुल बिस्मिल्लाह जी की विशिष्ट कहानियाँ संकलित है ।

➢ काव्य

अब्दुल बिस्मिल्लाह जी के प्रकाशित काव्य संग्रह इस प्रकार हैं ।

➢ मुझे बोलने दो

प्रस्तुत काव्य संग्रह युगबोध प्रकाशन सिकरौल कैण्ट, वाराणसी से सन् १९७७ में प्रकाशित हुआ है । उपयुक्त संग्रह में 'तैतीस' कविता संग्रहित है । जो इस तरह हैं- 'एक कविता भूमिका', 'लोहे की दिवार', 'सब्जी काटनेवाला चाकू', 'विडम्बना', 'बीसवीं शताब्दी तक का इतिहास', 'रक्तवाद्य', 'अवाच्यवाचन', 'तूफान का संदर्भ', 'देश और युग', 'धाव और सूरज', 'आदमी का बच्चा', 'उसका देश', 'सर्कस के शेर', 'भेडिए', 'मेरा ऊँट', 'जिन्दगी पर लिखा वक्तव्य', 'ऊंघते शहरों से', 'युद्ध', 'इन्सानी ऊँट', 'रक्त की पूर्ति', 'कोई विकल्प नहीं है', 'बकवास बन्द करो', 'जीव और ब्रह्म', 'नृत्य बन्द कर दो', 'लीथो पर लिखी कविता', 'इज्जत विक्रेता', 'सिंह कन्या', 'इस हिजडे जमाने में', 'पैजामें की महत्ता', 'जुर्म', 'कैद

की परिधि', 'मछलियों के बीच' और 'एक कविता पत्नी के प्रति' ।

➢ छोटे बुतों का बयान

यह काव्य संग्रह संभावना प्रकाशन रेवती कुंज, हापुड (उ.प्र.) से सन् १९८२ में प्रकाशित है । इस काव्य संग्रह में इकतालीस कविताएँ संग्रहित है । जो इस प्रकार है- 'शाम होने से पहले', 'मेरी चिडिया', 'वे और उनके बच्चे', 'बीर बहूटी', 'हवा', 'कांच का खेल', 'बच्चे के प्रति', 'भूगोल', 'इतिहास', 'कलयुगी नरायन', 'कच्ची आँखों का दर्द', 'लडाई', 'नन्हीं जंजीर', 'क्रान्तिदूत', 'तब मैं नही जानता था', 'जंगल में उठा हुआ हाथ', 'लोहे के खिलाफ', 'ढोर', 'पहाड के आरपार', 'चील की बेटी', 'आग का कागज', 'एक लोकतांत्रिक देश का बकरा', 'जंगल की आग', 'कबूतरी का विलाप', 'टिड्डी दल', 'शिकारी आएगा', 'पलाश के हत्यारे वर्ण', 'नीला आदेश', 'खोया हुआ सूर्य', 'बहुरूपिया', 'वृक्ष विरोध', 'फर्माने खुदावन्दी', 'नयी सृष्टि का जन्म', 'चाकू पर रखी किताब', 'मालिकाना सलूक', 'पेड या आदमी', 'छोटे बुतों के बयान', 'ठोस बांस', 'इस समुद्र में' और 'पागल' ।

➢ वलीमुहम्मद और करीमन बी की कविताएँ

इस काव्य संग्रह का प्रकाशन वर्ष १९८८ है, जो पराग प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित है । प्रस्तुत काव्य संग्रह में पैंतीस कविताएँ संकलित हैं । वे इस तरह है- 'दुनिया एक स्लेट है', 'खुशबू', 'लडकियाँ बारत देखती है', 'डालिया भर प्यार', 'नहान', 'बिटिया रानी', 'काले रंग की खेती', 'कंती', 'लालगंज का मजूर', 'घर', 'लडकी कंडी लेकर निकली', 'घसियारिन और मोर', 'चूजे का जन्म', 'चूजे', 'चींटा', 'खेल-खेल में', 'गोलिया', 'सुअर चरानेवाली लडकी', 'लडकी नहा रही है', 'बाढ', 'कागज', 'संस्कार', 'कुछ कविताएँ ऋतुओं की', 'वली

मुहम्मद और करीमन बी की कविताएँ'[१] 'कविता लिखने की जरूरत', 'उस दिन', 'बुझे तो जाने', 'चल रही है गैतिया', 'लोग', 'समय', 'वली, मुहम्मद और करीमन बी की कविताएँ'[२], 'भोपाली गजरा', 'दिल्ली', 'हमारे मुलुक में और पाच पानियों का देश' ।

➢ किसने हाथ गुलेल

यह काव्य संग्रह संदर्भ प्रकाशन, नई दिल्ली से १९९० में प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह में दस कविताएँ संग्रहित हैं, जिसमें अब्दुल बिस्मिल्लाह जी के दोहे हैं । प्रस्तुत कविताएँ इस प्रकार हैं- 'सागर का क्या भेद', 'गोरी घूमें खेत', 'चैगेरवा: पानी प्रश्नोत्तरी', 'ना तोता ना काग', 'गेहूँ जैसा रूप तुम्हारा', 'तेरी आँखों के ये जुगनू', 'ये तो रोग वियोग', 'पच्छुम डूबे चाँद', 'मन है लालम लाल' और 'तेरह-ग्यारह' ।

➢ नाटक

➢ दो पैसे की जन्नत

प्रस्तुत नाटक अभिरूचि प्रकाशन, दिल्ली से १९९७ में प्रकाशित हुआ है । इसमें चार नाटक संकलित है । वे इस प्रकार है- 'दो पैसे की जन्नत', 'कागज का घोडा', 'कलियुग का रथ' और 'जनता खुद देखेगी' ।

इनमें 'दो पैसे की जन्नत' नाटक की प्रस्तुति बारह बार अलग-अलग जगहों पर हुई हैं । इसकी पहली प्रस्तुति ८ अक्टूबर १९८६ में भोपाल में हुई थी । बाद में ४ नवम्बर १९८६ में दिल्ली में दूसरी प्रस्तुति हुई । तीसरी प्रस्तुति जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के मुक्ता काशी मंच पर, चौथी प्रस्तुति ३ नवम्बर १९८७ को लखनौ में, पाँचवी और छटी प्रस्तुतियाँ लखनौं में, सातवी प्रस्तुति अलीगढ में,

आठवी प्रस्तुति ९ फरवरी १९८८ को लखनौ में, नवीं तथा दसवीं प्रस्तुतियाँ २३, २४ फरवरी १९८८ इलाहाबाद में, ग्याहवीं प्रस्तुति २९ दिसंबर १९८८ को गोरखपुर में, बारहवीं प्रस्तुति १४ फरवरी १९८९ को मिलाई में हुई है ।

➢ आलोचना

'मयकालीन हिन्दी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय' ।

यह बिस्मिल्लाह जी का शोध प्रबंध है । जिसका प्रकाशन हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद से सन् १९८५ में हुआ है ।

➢ अल्पविराम

यह सरोज प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली से १९९४ में प्रकाशित हुआ है । जिसमें निम्नांकित आलोचनात्मक लेख संकलित है । 'प्रेमचन्द की संघर्ष चेतना', 'प्रेमचंद की रचना-दृष्टि', 'प्रेमचंद की कहकनियाँ और राष्ट्रीय परिवेश', 'नयी कहानी आन्दोलन के महत्वपूर्ण कथाकार: अमरकान्त', 'जिजीविषा की कहानियाँ' 'सुखापत्ता', 'यानी राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास की कहानी', 'भाषा के राजगीर (हरिशंकर परसाई)', 'साहित्य में इतिहास का सृजन', 'अनामदास का पोथा: एकान्तिक जीवन पर सामाजिक जीवन की तरजीह', 'बकरी का नाट्य सौन्दर्य', 'समकालीन हिन्दी कहानी का परिदृश्य', 'इतिहास', 'संस्कृति और साहित्य के अन्त: सम्बन्ध', 'राष्ट्रीय एकता का स्वरूप और रचनाधर्मिता', 'हिन्दी के विकास में व्यवधानकारी तत्व', 'बहुजातीय समाज-व्यवस्था में साहित्य की एकता-निरूपक शक्ति' और 'धार्मिकर रूढिवाद और लेखक' ।

➢ विमर्श के आयाम

यह आलोचना ग्रंथ अनंग प्रकाशन, दिल्ली से सन् २००६ में प्रकाशित हुआ

है । प्रस्तुत ग्रंथ दो खंडो में विभाजित है, जिसमें बिस्मिल्लाह जी के आलोचनात्मक लेख संग्रहित हैं । जो इस प्रकार हैं-

➢ खंड एक

'बाजारवाद के दबाव में साहित्य और साहित्यकार', 'उपन्यास होता क्या है?', 'भारत विभाजन और हिन्दी उपन्यास', 'कहानी से पहले की कहानी', 'हिन्दी कहानी स्वरूप और विकास', 'गहरे मोहभंग की कहानियाँ', 'सामंती मूल्यों के विरुद्ध: शिव प्रसादसिंह की कहानियाँ', 'कफन: उर्दू और हिन्दी पाठक का फर्क', 'काव्य कलापर निराला', 'द्विवेदी जी के कबीर और कबीर के द्विवेदी जी', 'कबीर का पेशा और कबीर की कविता', 'एक नया गवाक्ष खोलती राही की भाषा' और 'साहित्य में नगर' ।

➢ खंड दो

'उर्दू-फारसी में लिखित राम की कथा', 'हिन्दी में अनुवाद की परंपरा', 'हिन्दी में अनुदित उर्दू उपन्यास', 'हिन्दी में अनुदित उपन्यासों की भाषा', 'नेहरू के नाम मंटो का खत', 'मंटो की औरते', 'मिर्जा दादी', 'रूसवा' और 'उमराव जान अदा', 'मीर अम्मन और बागो-बहार' ।

➢ लोकसाहित्य

❑ लोककाव्य- विधा 'कजरी'

इस रचना का प्रकाशन अनंग प्रकाशन, दिल्ली से सन् २००० में हुआ है ।

➢ बालोपयोगी साहित्य

❑ अजगर का पेट

इस संग्रह का प्रकाशन सन् १९८९ में ईशान प्रकाशन, नौएडा (उ.प्र.) से

हुआ है। जिसमें पाँच बालोपयोगी कहानियाँ संग्रहित हैं । वे इस प्रकार है- 'अजगर का पेट', 'अपनी कमजोरी', 'मन का ताप', 'चिडिया' और 'सौने की अँगुठी' ।

➢ सम्पादन कार्य

१. माया

मित्र प्रकाशन लिमिटेड से प्रकाशित पत्रिका माया के सहसंपादक ।

२. कदम

पत्रिका का संपादन

० पुरस्कार एवं सम्मान

बिस्मिल्लाह जी एक सशक्त रचनाकार है । उनकी रचनाओं की तथा व्यक्तित्व की सार्थकता उन्हें मिले पुरस्कारों से तथा सम्मानों से स्पष्ट होती है । अब्दुल बिस्मिल्लाह को तथा उनकी रचनाओं को अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है । वे इस प्रकार है-

➢ उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान पुरस्कार

१. सन् १९७७ में अब्दुल बिस्मिल्लाह के 'मुझे बोलने दो' (कविता संग्रह) को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया ।

२. अब्दुल बिस्मिल्लाह का 'रैन बसेरा' (कहानी संग्रह) को उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के यशपाल पुरस्कार से सम्मानित किया गया है ।

➢ सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार

१. अब्दुल बिस्मिल्लाह का बहुचर्चित उपन्यास 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' को सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार सन् १९८४ में प्राप्त हुआ ।

➢ मध्यप्रदेश का केडिया पुरस्कार

१. अब्दुल बिस्मिल्लाह के 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास को सन् १९८७ में केडिया पुरस्कार मिला ।

➢ दिल्ली हिन्दी अकादमी पुरस्कार

१. अब्दुल बिस्मिल्लाह के 'वली मुहम्मद और करीमन बी की कविताएँ' इस काव्य संग्रह को दिल्ली हिन्दी अकादमी से पुरस्कृत किया गया है ।

➢ मध्यप्रदेश साहित्य परिषद पुरस्कार

अब्दुल बिस्मिल्ला के 'मुखडा क्या देखे' इस उपन्यास को मध्यप्रदेश साहित्य परिषद का 'वीरसिंह देव' पुरस्कार मिला है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है बिस्मिल्लाह जी का व्यक्तित्व असाधारण है और उनकी रचनाओं में हृदयस्पर्शीता, दर्दनाकता का यथार्थ चित्रण हुआ है, जिससे पाठक की अंतरात्मा द्रवित होती है । बचपन में उनकी माता-पिता की मृत्यु, रिश्तेदारों से दुत्कार, अनाचार, अत्याचार तथा शोषण उनके जीवन की संघर्षशीलता तथा भयानकता का द्योतक है । इन सारी परिस्थितियों से जूझते हुए उनका आगे बढना शिक्षा पूरी करना उनके जीवन के साहसपूर्ण तथा संघर्षपूर्ण प्रसंग है ।

बिस्मिल्लाह जी कर्मशील, संवेदनशील, भावुक, मेघावी छात्र, स्वाभिमानी, दयावान, आस्थावान, पशु को श्रेष्ठ माननेवाले, प्रेरणादायी, बुनकरों के प्रति आस्थावान, व्यक्तित्व के धनी है । उनका आकर्षक व्यक्तित्व ऐसा है कि कोई भी सहज रूप से उनकी और आकर्षित हो जाता है । उनके पास कोई सामान्य व्यक्ति भी जाता है तो उससे वे हँसकर तथा आत्मीयता से पेश आते है । उनकी दृष्टि में कोई भेदभाव या ऊँच-नीच नहीं है । वे समानता को माननेवाले निधर्मी व्यक्ति हैं

। उनके साहित्य लेखन को देखते हुए हम कह सकते है कि उनकी लेखनी अबाध गति से चलती आ रही है । बिस्मिल्लाह जी ने हिन्दी साहित्य की अनेक विधाओं को समृद्ध करने का कार्य किया है । उन्होंने काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, दोहों का सृजन किया है और दो पत्रिकाओं का संपादन भी किया है। उनकी अनेक कृतियों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है । अत: स्पष्ट है कि वे समृद्ध लेखक तथा बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी है ।

❋ वीरेन्द्र जैन

वीरेन्द्र जैन का जन्म शिक्षक दिवस पाँच सितम्बर, १९५५ को मध्यप्रदेश के गुना जिले के सिरसौद गाँव में एक जैन परिवार में हुआ । अपने माता-पिता की वह साँतवी संतान है । उनके बाद दो भाईयों और एक बहन का जन्म हुआ । इस तरह वे सात भाई और तीन बहने हैं । जिनमें एक भाई और एक बहन का निधन हो चुका है । उनके पिता खेती-किसानी और साहूकारी का काम करते थे । वीरेन्द्र जैन की माँ जमींदार परिवार से है । पिता का निधन १९८६ में अहमदाबाद में हुआ । वीरेन्द्र जैन के बड़े भाई राजस्थान में अध्यापक रहे । दो साल पहले उन्होने अवकाश ग्रहण किया है । उनके चार भाई अहमदाबाद में रहते है । १९६५ तक पाँचवी कक्षा तक की पढ़ाई गाँव की प्राथमिक शाला में हुई । १९६४ में वे पहली बार पढ़ने के लिए दिल्ली आए थे । प्रवेश नही मिला, सो लौट आए । १९६५ में फिर आए और तब से यहीं रह रहे है । इसी बीच कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय- से संस्कृत की प्रथमा, पूर्व मध्यमा और उत्तर मध्यमा परीक्षाएँ भी पास कर ली थी । सो फिर से दसवीं में पढ़ने के बजाय राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (शिक्षा मंत्रालय) के शास्त्रीय पाठ्यक्रम में प्रवेश ले लिया । महावीर विश्वविद्यालय और लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय

संस्कृत विद्यापीठ में पढ़ते हुए शास्त्री, शिक्षा शास्त्री (बी.एड.) और साहित्य तथा जैन दर्शन से आचार्य की परीक्षाएँ पास की । फिर आचार्य अंतिम वर्ष से पढ़ाई का सिलसिला टूट गया।

कक्षा दस तक आते न आते अपनी गुजर-बसर का भार स्वयं उठाना पड़ा। क्योंकि इनके पिता की सामर्थ्य उन्हें दिल्ली में रखकर उनका खर्च उठाने की नही थी। घर में इनके अलावा पढ़नेवाले चार भाई और जो थे । उनके सबसे बड़े भाई उन दिनो पीएच.ड़ी. कर रहे थे, उन्हीं दिनों उनका निधन हो गया था ।

वीरेन्द्र जैन ने सबसे पहली नौकरी प्रज्ञाचक्षु डॉ. इन्द्रचंद्र शास्त्री को किताबें पढ़कर सुनाने और उनके बोले गए लेखन को कागज़ पर उतारने की की थी । जहाँ परिवार के लोगों ने उन्हें दिल्ली में भर्ती करवाया था । वहीं से तब निकाल दिए गए थे, जब उन्होंने नौवी कक्षा पास की थी । तब से उन्होने अपनी गुजर-बसर के लिए कई तरह के काम किए । प्लास्टिक का पाउडर भरने, डनलोपिनों के गद्दे बेचने, तार बनाने की फैक्टरी में हेल्परी करने, सब्जी मंड़ी में आढ़तियों की बोलियाँ लगाने, कैंटीन चलाने, सुई-धागा, बटन, कफ, कालर, दवाइयाँ सप्लाई करने, एक मंदिर में पुजारी का काम करने और भी कुछ छोये-मोटे काम करने के एवज में जो मिला उसी से गुजर-बसर की और पढ़ाई जारी रखी । कुछ छात्रवृतियाँ भी पाई ।

सन् १९७३ में पहली ठीकठाक नौकरी भारतीय ज्ञानपीठ में मिली । फिर १९७५ में जैनेन्द्रकुमार के पूर्वोदय प्रकाशन में, १९७७ में राजकमल प्रकाशन में, १९७९ में दिल्ली प्रेस की सरिता मुक्ता पत्रिका में उप-संपादक हुए । १९८२ में टाईम्स ऑफ इन्डिया ग्रुप की सारिका में और १९९१ से आज तक टाईम्स ऑइ

इन्डिया के सान्ध्य टाईम्स अखबार में संपादन-विभाग में उपसंपादक का काम करते हैं ।

२३ जून, १९७९ को मणिकांता चौधरी के साथ विवाह हुआ । १९८१ में पहली संतान प्रतीक का जन्म हुआ । जो उसी वर्ष अकाल में ही काल-कवलित हो गया । १९८३ में पहली बिटिया भूमिका का जन्म हुआ और १९८५ में दूसरी बेटी इति का ।

➢ कृतित्व :-

वीरेन्द्र जैन ने अनेक उपन्यास, कहानी-संग्रह, व्यंग्य संग्रह, चित्रकथाएँ, बाल-कथाएँ, लघु उपन्यास आदि लिखे हैं । उनकी रचनाओं में हमारे समाज की कठोर वास्तविकताओं के दर्शन होते है । उनके व्यंग्य संग्रह भी अत्यंत लोकप्रिय हुए हैं । वीरेन्द्र जैन को जो कुछ कहना है अपने बारे में या अपनी अनुभूतियों के बारे में वे अपनी रचनाओं में बराबर कहते हैं । वीरेन्द्र जैन से हुए मेरे पत्राचार में उन्होंने स्वयं लिखा है कि- ''मेरे बारे में मुझे जो कुछ भी कहना है, वह मैं अपनी रचनाओं में बराबर कहता रहा हूँ ।'' 'डूब' और 'पार' की रचना-प्रक्रिया के बारे में उन्होंने एक आलेख लिखा था, जो कथादेश के अक्तूबर २००४ के अंक में छपा था ।

१९७७ में उन्होने व्यंग्य और 'अनातीत' उपन्यास लिखना शुरु किया था । 'अनातीत' उनका पहला उपन्यास है । यों कहानियाँ १९७३ से ही लिखने लगे थे। पुस्तक के रुप में उनका पहला उपन्यास 'सुरेखा-पर्व' १९७८ में छपकर आया । जो उसी वर्ष लिखा गया उनका दूसरा उपन्यास था । 'सुरेखा-पर्व' उपन्यास छपने पर उन्हें राजकमल प्रकाशन की नौकरी गँवानी पड़ी । चूँकी यह किसी और प्रकाशन

से छपा था । फिर भी उन्होने लिखना जारी रखा । शुरुआती चार पुस्तकें वीरेन्द्रकुमार जैन नाम से प्रकाशित है, फिर वीरेन्द्र जैन नाम से ।

प्राय: सभी पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ, लेख प्रकाशित होते रहे । कई रचनाओं का अनुवाद कन्नड, तेलुगु, मराठी, मलयालम, अंग्रेजी, पंजाबी और अन्योन्य भाषाओं में हो चुका हैं । रचनात्मक लेखन के साथ-साथ पत्रकारिता भी करते हैं । यही उनका पेशा है । विभिन्न प्रतिनिधि संकलनों में भी कई रचनाएँ संकलित हो चुकी हैं।

दिल्ली, शिमला, आगरा, हैदराबाद, लखनऊ, त्रिवेन्द्रम, कुरुक्षेत्र और अन्योन्य के विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों में कतिपय शोधार्थी वीरेन्द्र जैन की रचनाओं पर शोध-कार्य कर रहे हैं ।

समाज, शासन, धर्म, संस्कृति, व्यवस्था के दोहरे आचरण को उजागर करना, विरोधाभासों को उघाड़ना, आतंक और आततार्इयों की पहचान करवाना, शोषितों और भरमाए गए लोगों, समूहों के भयातुर मौन को शब्द देना वीरेन्द्र जैन अपने लेखन का उद्देश्य मानते हैं । परिवर्तन और समानता की आकांक्षा पाले हुए हैं । व्यक्तिगत नैतिकता और जोखिम उठाने की हद तक साहस उनका जीवनाधार हैं ।

वीरेन्द्र जैन के प्रमुख उपन्यास, कहानी-संग्रह, व्यंग्य-संग्रह, बालकथाएँ, चित्र-कथाएँ आदि निम्नानुसार हैं ।

➢ उपन्यास-साहित्य :-

नये और उभरते हुए उपन्यासकारों में वीरेन्द्र जैन ने अपनी एक खास और विशिष्ट पहचान बनाई है । एक सजग उपन्यासकार की भाँति अपनी रचनाओं के पूरे

व्यवस्थातंत्र पर बड़ी पैनी और सूक्ष्म द्रष्टि रखते हैं । इस कदर पैनी चीजें उनकी दृष्टि से छूटती नहीं । वह चाहे 'डूब' हो, 'पार' हो या फिर 'शब्द-बध' ही क्यों न हो ! उनके उपन्यास यथार्थ से हमारा आविष्कार करवाते हैं । वीरेन्द्र जैन के प्रमुख उपन्यास निम्नानुसार है ।-

१) सुरेखा-पर्व १९७८

ऋषभचरण जैन एवं संतति, नई दिल्ली

२) अनातीत- १९८३

प्रमोद प्रकाशन, नई दिल्ली

३) प्रतीक: एक जीवनी- १९८३

तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली

४) शब्द-बध १९८७

सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली

(१९९३ से वाणी प्रकाशन से प्रकाशित)

५) उसके हिस्से का विश्वास- १९८८

(तीन लघु उपन्यास)

प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली

६) सबसे बड़ा सिपहिया- १९८८

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

७) रुका हुआ फैशला- १९८९ (दो लघु उपन्यास)

हिन्दी साहित्य संचार, दिल्ली

८) डूब- १९९१

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

९) तलाश- १९९२ (लघु उपन्यास)

आयाम प्रकाशन, नई दिल्ली

१) शुभस्य शीघ्रम- १९९२

('अनातीत' का परिवर्द्धित रुप)

दिनमान प्रकाशन, दिल्ली

११) प्रतिदान- १९९४- (तीन लघु उपन्यास)

जगतराम एण्ड़ सन्स, दिल्ली

१२) पार- १९९४

वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

१३) पंचनामा- १९९६

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

१४) पहला सप्तक-

(सात लघु उपन्यास की एक किताब जिसमें 'सुरेखा-पर्व' और 'अनातीत' भी शामिल हैं ।)

१५) गैल और गान

१६) दे ताली

➢ **कहानी-साहित्य :-**

वीरेन्द्र जैन की ज्यादातर कहानियाँ विषय वैविध्य को लेकर चलती हैं । इनमें

सहजता, आकर्षकता, ताजगी और व्यंग्यात्मकता मिलती हैं । वीरेन्द्र जैन की प्रमुख कहानियाँ निम्नानुसार है ।-

१) बायीं हथेली का दर्द- १९८९
राजभाषा प्रकाशन, दिल्ली

२) मैं वही हूँ- १९९०
जगतराम एण्ड़ सन्स, दिल्ली

३) बीच के बारह बरस-

४) तीन चित्रकथाएँ- १९९३
(प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेन्द्र की कहानी का रुपांतरण)
विकास पेपर बैक्स, नई दिल्ली

➢ **व्यंग्य-साहित्य :-**

वीरेन्द्र जैन के व्यंग्यो में पैनापन हैं, धार हैं, पर कहीं भी तीखापन नजर नहीं आता । उनके व्यंग्य सामाजिक, राजनीतिक हालतों को परखकर, विश्लेषित कर यथार्थ की दिशा में ले जाते हैं । वीरेन्द्र जैन अपने व्यंग्यों के लिए प्रसिद्ध हैं । उनके प्रमुख व्यंग्य-संग्रह निम्नलिखित हैं ।-

१) रावण की राख- १९८२
प्रमोद प्रकाशन, नई दिल्ली

२) किस्सा मौसमी प्रेम का- १९८८
पंकज प्रकाशन, दिल्ली

३) पटकथा की कथा- १९९२

प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली

४) रचना की मार्केटींग

➢ **बालकथाएँ :-**

वीरेन्द्र जैन ने अनेक बालकथाएँ भी लिखी हैं, जो निम्नानुसार हैं ।-

१) तुम भी हँसो- १९८७

सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली

२) बात में बात में बात- १९८९

अनुराग प्रकाशन, नई दिल्ली

३) मनोरंजक खेल कथाएँ- १९९१

चिल्ड्रन बुक सोसायटी, नई दिल्ली

४) खेल प्रेमी मामाश्री- १९९१

पंकज पब्लिकेशन, नई दिल्ली

५) हास्य कथा बत्तीसी

➢ **चित्रकथाएँ :-**

वीरेन्द्र जैन की चित्रकथाएँ निम्नलिखित हैं ।-

१) पितृभक्त कृणाल- १९८४

विक्रम चित्रकथा, नई दिल्ली

२) तिगड़मबाज और साधू दु:खभंजन- १९८५

विक्रम चित्रकथा, नई दिल्ली

इनके अतिरिक्त वीरेन्द्र जैन द्वारा संपादित किताबें निम्नलिखित हैं ।-

- ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता साहित्यकार
  (संकलन-संपादन- १९८८)
  प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली
- धूप की लपटें
  (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की अनुदित और असंकलित कविताओं का संग्रह)
- सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ग्रंथावली
  (नौ खंडों में)

➢ कृतियों का वस्तुगत परिचय: उपन्यास-साहित्य

वीरेन्द्र जैन ने अपने उपन्यासों में सामाजिक शोषण और अत्याचार को उभारा है, तो साथ-साथ राजनीतिक हथकंड़े, षड़यंत्र, एवं भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने की भी कोशिश की हैं । समाज के स्वार्थ, दंभ, लालच, पुलिसतंत्र के अमानुषिय व्यवहार एवं पत्रकारिता के क्षेत्र की अससंगतियों को भी शब्द के माध्यम से अपने उपन्यासों में वाचा देने का सराहनीय प्रयास किया है । वीरेन्द्र जैन के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय देखिए-

❑ सुरेखा-पर्व :-

विद्या दस साल से अनाथाश्रम में रह रही हैं । विद्या से मिलने एक औरत हररोज अनाथाश्रम आती है । जो विद्या के साथ ढेरों बाते किया करती हैं । विद्या को बाद में पता चलता है, कि वह औरत जिससे वह बातें किया करती हैं, वही

उसकी माँ है । बाद मे उस औरत ने विद्या को गोद ले लिया । और अपने घर ले आई । विद्या हायर सेकंडरी में पढ़ रही है । वह उस औरत को मम्मी कहकर पुकारने लगती हैं । विद्या की मम्मी विद्या को अपने घर रखने के बजाय उसकी शादी एक एसे लड़के के साथ कर देती है, जो शादी-ब्याह में भोपूँ (बाजा) बजाने का काम करता है । विद्या को विनय के बारे में बहुत सारी बातें झूठी और बेबुनियाद बताई जाती है । विनय के दोस्त यती को जब विनय की शादी के बारे में पता चलता है, तो वह सोचने लगते है कि- दिल्ली की रहनेवाली पढ़ी-लिखी लड़की विनय के साथ शादी करने के लिए किस तरह तैयार हुई होगी !

शादी के बाद विनय अनाज बेचने के लिए दिल्ली जाता है, मगर अनाज का पैसा लेकर वह गायब हो जाता है । घर वापस नही आता । यती जब उसे गाँव जाने के लिए समझाता है, तो वह अपनी ऊँगली पर निकल आए फोड़े का बहाना बनाकर जाने से इनकार कर देता है । मगर थोड़े दिन बाद वह स्वयं गाँव चला जाता हैं । विनय के जाने के बाद विद्या ने राहत की साँस ली । क्योंकि विनय जब तक यहाँ था, तब तक विद्या की मम्मी अपने दामाद को खुश रखने के बहाने बीस बरस से अतृप्त-सुप्त अपनी इच्छाओं को जगा रही थी । विनय अक्सर मम्मी के साथ सटकर बैठता था । और विनय का हाथ मम्मी के शरीर के साथ अजीब-सी हरकते करने लगता । एक दिन विद्या ने मम्मी और विनय को कमरे में जिस हालत में देखा, उस द्रश्य को और देखने के लिए क्षण-भर वह वहाँ रुक न पाई ।

दिल्ली से विद्या ससुराल आई और एक बच्चे को जन्म दिया । ''वह (बच्चा) मासपिण्ड से ज्यादा कुछ नहीं था, जिसे लगता था किसी चीज ने जगह-जगह से

नोंच खाया हो ।''[१] बच्चे के गर्भ में रहते विनय ने विद्या के साथ राक्षसों सा व्यवहार किया था । जिससे बच्चा गूँगा, बहरा और अपाहिज जन्मा था । विद्या यती के साथ दिल्ली अपनी मम्मी के यहाँ आती हैं । मगर वह अपनी मालकिन के साथ मसूरी गई थी । इसलिए विद्या को थोड़े दिन यती के घर रुकना पड़ा । विद्या को यती के घर बहुत सुख और शांति मिली । यती ने तो विद्या के बेटे अश्विनी को अस्पताल भर्ती भी करवा दिया, ताकि उसकी हालत दिन-पर-दिन सुधरने लगे । विद्या अक्सर यती की तुलना विनय से किया करती है । और यती के प्रति आकर्षित भी होने लगती हैं। विद्या की मम्मी विद्या और यती के संबंध को लेकर बुरा-भला कहती है । गाँव में विनय एक लड़की के साथ अपनी इच्छातृप्ति करते हुए पकडा जाता है । जिससे गाँववाले मिलकर उसे पीट देते है । विद्या को गाँव आकर इस कांड़ का पता चलता है ।

एक दिन विनय अपनी बहन के लिए लड़का देखने दिल्ली आता है । मगर वह विद्या की मम्मी के साथ महिनाभर अपनी इच्छातृप्ति के लिए रचा-पचा रहता है । वह इतना कमजोर हो जाता है, कि सिलाई काम करने के लिए स्टूल पर बैठ भी नहीं पाता । यह देखकर विद्या विनय से कहती है कि- लगातार महीने भर औरत के साथ सोओगे तो यही होगा । तब विनय गुस्से से लाल होकर विद्या को पीटने लगता है । इतना ही नहीं, उसने एक दिन अश्विनी को जोर से जमीन पर पटक दिया । जिससे उसकी मौत हो जाती है । विद्या यह देखकर सन्न रह जाती है । और आँखो से आँसू बहने लगते है । विद्या को दूसरी बार गर्भ रहता है । मगर अब विनय जैसे ही विद्या के बिस्तर पर आता है, तो वह जोरो से चिल्लाने लगती है । क्यांकि

उसे डर हैं, कि कहीं यह बच्चा भी गूँगा और बहरा न जन्मे । ''विद्या ने फिर एक लड़के को जन्म दिया। यह गोरा-चिट्टा और पूरी तरह स्वस्थ पैदा हुआ ।''[२] मगर विनय इस खुशी में शामिल न हो पाया । क्योंकि वह जिम्मेदारी से भागना चाहता था । विनय विद्या और गोपाल के संबंध पर भी शक करने लगता है । घर के गहने चुराये थे विनय ने, जिसका इल्जाम भी विद्या पर ही लगाया जाता हैं ।

विद्या का दूसरा बेटा क्षितिज एक दिन रो रहा था । तब विनय सिगरेट का जला ढूँढ उसके शरीर पर लगा देता हैं । यह देखकर विद्या जली लकड़ी चूल्हे में से उठाकर चार-पाँच बार विनय को चाँप देती है । फिर विनय जैसे ही संभलता है, तो वह उसी लकड़ी से विद्या को तब तक पीटता रहता है, जब तक की वह बेहोश होकर गीर नहीं जाती । एक दिन विनय के पिता की चिट्ठी यती के घर आती है- कि, विद्या बिमार है, और वह अपनी मम्मी के घर आना चाहती है । तुम आकर ले जाओ। यती यह चिट्ठी लेकर विद्या की मम्मी के घर पहुँचता है । तब विद्या वहाँ सशरीर मौजूद थी । तब सारी वास्तविकता यती के सामने स्पष्ट होती है। विद्या यती को सारी घटना कह सुनाती है कि- वह गाँव से दिल्ली किस तरह पहुँची । विद्या यह भी बताती है कि- ''एक दिन विनय क्षितिज के काफी देर तक रोने पर उसे दूध की जगह पानी पिलाने की कोशिश कर रहा था । विनय ने जोर से उसकी पसली पर घूँसा मारा । उधर उसका मुँह खुला और इधर विनय का हाथ डगमगा गया । पूरी चम्मच क्षितिज के मुँह में घँस गई । और उसके प्राण-पखेरु उड़ गए ।''[३] इस तरह विद्या बड़ा भारी मन लेकर दिल्ली आई।

विनय ने साधु श्री १०८ विनय कीर्तीजी महाराज के नाम से दीक्षा ले ली ।

यह बताने जब यती विद्या की मम्मी के घर पहुँचता है, तो वहाँ विद्या मौजूद नही थी। यती विद्या के बारे में पूछता है- तो उसकी मम्मी विद्या का पता यती को देती है । कागज में जो पता लिखा था । उस स्थान पर जाने की हिम्मत यती में नही थी । क्योंकि कागज पर लिखा हुआ पता उस अनाथाश्रम का था, जहाँ विद्या पहले रहती थी । विद्या जब यती के घर रहने आई थी, तब वह यती को अनाथाश्रम ले गई थी। उसने यती को सुरेखाजी से भी मिलवाया था । और सुरेखाजी की सारी कहानी-व्यथा-कथा कह सुनाई थी । और अंत में विद्या ने कहा था कि- ''सुरेखा-पर्व की पुनरावृति हो रही है, और इस सुरेखा-पर्व के तुम प्रत्यक्षदर्शी हो ।''[४] यती यही सोचकर अनाथाश्रम जाने की हिम्मत नही जुटा पाता कि- उस स्थान पर अब एक नहीं दो-दो सुरेखाजी का सामना वह कैसे कर पाएगा ?

समाज में एसी कई सुरेखा है, जो समाज द्वारा यातना, उपेक्षा और वितृष्णा का भोग बनती है । पीड़ा का गरल पीकर भी अमृत रुपी स्नेह देने का प्रयास वह तब तक करती है, जब तक उसकी सहनशक्ति की हद पूर्ण नहीं हो जाती, वह स्वयं समाप्त नहीं हो जाती !!!

❑ उसके हिस्से का विश्वास :-

समग्र उपन्यास की कथा लेखक ने प्रथम पुरुष 'मैं' सर्वनाम को लेकर आत्मकथात्मक शैली में लिखी है । जिसमें कबीर के द्वारा छली गई भोली भाली और मासूम कविता की संवेदनाएँ, व्यथा और पीड़ा को उड़ेलने का भरसक प्रयास वीरेन्द्र जैन ने किया हैं ।

शास्त्रीजी ने दफ्तर से दो महीने की छुट्टी इसलिए लि थी, ताकि वह घर

बैठकर उपन्यास की रचना करना चाहते थे । उन्होने अपनी पत्नी और बच्चों को भी ननिहाल भेज दिया, और घर का सारा सामान भी लाकर रख दिया । ताकि एकाग्रता बनी रहे और घर से बाहर भी न निकलना पड़े । मगर परिस्थितिवश उन्हे अपने एक सहधर्मी के साथ दफ्तर जाना पड़ता है । वहाँ उन्हें कबीर बैठा हुआ मिलता है । नरेशजी ने पिछले सप्ताह ही शास्त्रीजी का परिचय कबीर से करवाया था कि- ''शास्त्रीजी ये है युवा नाटककार कबीर और कबीर ये है हमारे सहयोगी शास्त्रीजी ।''[५] कबीर हिन्दी के वरिष्ठ लेखक भटनागरजी का लेखकीय सहयोगी है। शास्त्रीजी और कबीर कैन्टीन में चाय पीने जाते है । शास्त्रीजी के सामने तब कबीर एक रहस्योदघाटन करता है- कि उसने कविता से कोर्ट मैरिज कर ली है । जिससे घरवाले नाराज है। इसलिए दोनों यहाँ चले आए है और 'ताजमहल' में ठहरे है । यह एसी होटेल है- जहाँ ''आए दिन मुमताजे उड़ाई और दफनाई जाती है ।''[६] यह बात कबीर नहीं जानता था। जब शास्त्रीजी और कबीर भागे-भागे 'ताजमहल' पहुँचे, तो एक बहुत बड़ी दुर्घटना से दो-चार होते हुए रह गए । कविता कबीर को लिपटकर जोरों से रोने लगी।

शास्त्रीजी उन दोनो को अपने घर तब तक के लिए ले गए जब तक कि कबीर कोई अच्छी-सी-नौकरी ढूँढ न ले । कबीर अब तो नौकरी ढूँढने के बजाय दिन भर घर में घूसा रहता है । शास्त्रीजी ने उसे समझाया और दो-चार जगहों के पते भी दिए, ताकि नौकरी ढूँढने में सहायता हो । पर कबीर हर बार कुछ न कुछ बहाना कर वापस लौट आता । और भाग्यवश उसे कहीं नौकरी भी नही मिली । नरेशजी से शास्त्रीजी को पता चलता है कि पहले कबीर संपादकजी के घर रहने

गया था । पर उसके व्यवहार से तंग आकर संपादकजी की पत्नी ने उन्हें घर से निकाल दिया था । तब कविता और कबीर 'ताजमहल' पहुँचे, और वहाँ से उनके घर । शास्त्रीजी अब कबीर की वास्तविकता से परिचित होते जा रहे थे । कविता के लखनऊवाले जीजाजी कविता से मिलने शास्त्रीजी के घर आ पहुँचते है । पर कबीर घर से बाहर चला जाता है । दूसरे दिन दोनों जीजाजी से मिलने होटेल जाते है, और तुरंत वापस भी लौट आते है । कविता आकर जोरो से रोने लगती है । और शास्त्रीजी से पूछती है कि- ''क्या 'चीफ-सब' के लिए इंटरव्यु हुआ था पिछले महीने ?''[७] तब शास्त्रीजी साफ मना करते है । तब कविता शास्त्रीजी को सारा ब्योरा बताती है कि- आज तक कबीर ने उसे यही बताया है कि वह 'चीफ सब' की पोस्ट पर नियुक्त है । और आप सब का बोस है । कबीर ने उससे यह बताकर शादी की है, कि उसे यह नौकरी मिल गई है । और अगर वह उससे जल्द से जल्स शादी नहीं करेगी तो उसकी शादी संपादकजी के दोस्त की लड़की के साथ तय हो जाएगी । तब उसमें कबीर के प्रति एकाधिकार की भावना जागृत हो जाती है । और वह भागकर कबीर के साथ शादी कर लेती है। कविता का विश्वास अब कबीर पर से उठता चला जाता है ।

शास्त्रीजी कबीर से पीछा छुड़ाने के लिए उसे एक स्थान पर नौकरी पर भी रख देते है । और एक किराए का मकान दिलवा देते है । शास्त्रीजी की पत्नी मायके से लौट आती है । वह कविता से मिलना चाहती है, पर अब हालात मिलने जैसे नही थे । क्योंकि एक दिन कबीरने आकर बताया था कि उनके घर से उसके दो हजार रुपये गुम हुए है, यह झूठा इल्जाम सुनकर शास्त्रीजी कबीर को घर से बाहर निकाल देते है ।

कविता एक दिन रोते हुए शास्त्रीजी के घर आती है । और बताती है कि- कबीर को खाँसी के साथ-साथ खून भी निकलता है । शास्त्रीजी कविता और कबीर को लेकर डॉक्टर के पास जाते है । उस डॉक्टर ने दूसरे बड़े डॉक्टर के पास जाकर इलाज करवाने की सलाह दी । पर कबीर उनके पास जाने के लिए तैयार नही होता। दूसरे दिन फरुखाबाद से कविता के मौसा-मौसी आते है, और वह कबीर को उस डॉक्टर के पास ले जाते है । तब पता चलता है, कि- जनाब उस डॉक्टर के पास जाने से मना क्यों कर रहे थे ? वास्तव में कबीर उस डॉक्टर को तीन महीने पहले ही दिखा चुका था । डॉक्टर ने बताया था कि- उसे टी.बी. हो गई है । समय रहते इलाज करवाना ही उचित होगा । पर यह जनाब इलाज करवाने के बजाय शादी-ब्याह में पड़ गए ।

वास्तव में कबीर ने कविता के साथ षड़यंत्र रचा था । खुद की बिमारी का इलाज करवाने के लिए उसके पास तो इतने पैसे नही थे- कि वह अपना इलाज करवा पाए । तब कबीर ने अपने स्वार्थ के चंगुल में कविता को फँसाया । और प्रेम का स्वाँग रचा । जबकि कविता यही मानती रही कि- जनाब उससे प्रेम करते है। कबीर यह भली-भाँति जानता था कि कविता के परिवारवाले उन दोनो को दु:खी नही देख पाएँगे । और उसका इलाज अवश्य करवाएँगे । इसलिए उसने कविता के साथ कोर्ट मैरिज कर ली । फरीदाबाद से आए कविता के मौसा-मौसी जब यह सारी बात शास्त्रीजी और उनकी पत्नी को बताते है, तो वह आश्चर्य से युक्त हो जाते है । कविता के मौसा-मौसी कविता और कबीर को अपने साथ ले जाते है और वहाँ जाकर वह कबीर का इलाज करवाएँगे । चाय पीने के बाद सब उठने लगते

है । अंत में शास्त्रीजी उस चाय के कप को उठाकर फेंक देते है, जिसमें कबीर ने चाय पी थी । तब शास्त्रीजी की पत्नी कहती है कि- ''जूठा कप तो बाहर फेंक दिया तुमने, मगर उसे कहाँ फेंकोगे जो पल रहा है तुम्हारी मुँहबोली बहन के पेट में ।''[८]

❑ प्रतिदान :-

नरेन को पाँच वर्ष के अनुबंध पर अपनी मनपसंद नौकरी मिल जाती है । पिताजी के अधिक आग्रह की वजह से नरेन विवाह से मना नहीं कर पाता । नरेन इस शर्त पर शादी करने के लिए तैयार हुआ कि वह दहेज में एक रुपया भी नही लेगा । नरेन के पिताजी नरेन की इस शर्त पर नाखुश होते है । पर नरेन न माना सो न ही माना । बिना दहेज के नरेन और प्रभा की शादी संपन्न होती है । परिवार की प्रथानुसार विवाह के अगले दिन वर-वधू को गाँव के साथ लगे पहाड़ पर बने मंदिर में जाना होता था । और जब तक दर्शन करके वापस आकर प्रभा सबको खिचड़ी बनाकर नही खिला देती, तब तक वह स्वयं कुछ नही खा सकती । मगर प्रभा की हालत खराब होने की वजह से नरेन ने यह बात कल पर टाल दी । दूसरे दिन प्रभा तलहटी तक तो बैलगाडी में आई । पर कड़ी धूप में पहाड़ की चोटी पर बमुश्किल से चढ़ पाई । भूख और कमजोरी की वजह से उतरते उक्त प्रभा को चक्कर आ जाते है । अधमरी-सी प्रभा घर पहुँचकर खिचड़ी बनाने चूल्हे के पास बैठती है, तो चूल्हे की गर्मी की वजह से वह फिर बेहोश हो जाती है । ''सभी ने एक मत से घोषणा कर दी कि- या तो प्रभा को असाध्य रोग है, या फिर उस पर किसी प्रेतात्मा का साया है ।''[९] शाम तक प्रेतात्मा को भगाने के प्रयास किए गए । जब

नरेन को यह बात पता चलती है, तो वह कहता है कि- ''वह तीन दिन की भूखी प्यासी है । ऐसी हालत में उसे खाना-पानी चाहिए न कि झाडा-बुहारी या ओझाओं के लटके-झटके ।''[१०]

नरेन की नौकरी शुरु हो जाने की वजह से वह प्रभा को लेकर शहर चला जाता है । अम्मा पाँच महीने बाद नरेन के घर आती है । और पूरे घर की व्यवस्था बदल दी जाती है । अम्मा अपने रहने के लिए पहला कमरा पसंद करती है । जो आते जाते प्रवचन प्रसारण केन्द्र बन जाता है । एक दिन नरेन के घर उसके ऑफिसर दंपती मिलने आते है । अम्मा उनके सामने नरेन और प्रभा की शिकायत करने लग जाती है । प्रभा जब शर्बत देने जाती है, तभी अम्मा ने टोका- ''न सिर ठका, न हाथों में चूडियाँ पहनी है ।''[११] ''अब तो उतार लेती इस 'मक्सी' को।''[१२] घर का वातावरण तंग होते देख ऑफिसर दंपती किसी काम का बहाना कर चले जाते है । नरेन और प्रभा एक-दूसरे को नाम लेकर पुकारते है, यह बात भी अम्मा को अच्छी नही लगती और दूसरे दिन सुबह गाँव वापस चली जाती है।

प्रभा और नरेन के सर पर मनीष, शीतेष और पगल्भा को पढ़ाने का दायित्व भी आ जाता है । घर का खर्च बढ़ जाने की वजह से नरेन सुबह सात बजे से लेकर रात दस बजे तक काम में जुटा रहता है । नरेन की तनख्वाह में से एक मोटी रकम उधारी पाटने मे ही चली जाती थी । ''शेष बचे से इनकी फीस, जेब-खर्च, किताबें, कापियाँ, घर खर्च और नरेन का जेब-खर्च यह सब नहीं निकल पाता था।''[१३] मनीष इन सब का दोषी नरेन को ही ठहराता है । अगर नरेन ने दहेज ले लिया होता, तो आज उनकी यह हालत नहीं होती । प्रभा दायित्व बोज से प्रेरित

होकर गर्भ-निरोधक गोलियों का बोक्स नरेन के सामने घर देती है । और अपने आप को पाँच साल तक के लिए समेट लेती है । जब तक की इन सब की पढ़ाई खत्म नही हो जाती । शीतेष इस वर्ष मेडिकल कॉलेज में भर्ती हो जाता है । और मनीष पढ़ाई आधी छोड़कर नौकरी में लग जाता है । अब तो मनीष को अच्छे-भले खाने में भी कंकड मिले नजर आने लगते है ।

प्रभा और नरेन को अध्यापक की नौकरी के लिए भोपाल के केन्द्रीय विद्यालय में चुन लिए जाते है । पंद्रह जुलाई को हाजिर होना था । इसलिए दोनों ने सोचा कि जाने से पहले सबको बिदाई की पार्टी दे दी जाए । प्रभा ने सुबह से ही पार्टी की तैयारी शुरु कर दी थी । मनीष अब तो केवल स्नान व खाने के लिए ही घर आता था । आज भी वह हमेशा की तरह नौ बजे के बाद स्नान करने के लिए आया। और नहाते वक्त अधिक पानी की माँग की । प्रभा ऊपर की टंकी से पानी लेने जाती है। और पैर फिसलने से गिर पड़ती है । मनीष प्रभा को एसी हालत में छोडकर भाग जाता है । प्रभा के पांव में प्लास्टर आता है । शाम को नरेन मनीष को एक चाटा जड़ देता है। ''नरेन का हाथ अभी अपनी जगह वापस भी न आया था कि मनीष ने चप्पल उतारकर नरेन पर बेतहाशा बरसानी शुरु कर दी ।''[१४] प्रभा बीच में पड़ती है, तो मनीष ने दो-तीन लातें उसकी पीठ और पेट में दे मारी । इतने कांड़ के बावजूद मनीष ने बिलकुल विपरीत पत्र पिताजी को लिख भेजा कि- नरेन और प्रभा ने उसे मार डालने के प्रयास किए, पर वह भाग निकला ।

नरेन और प्रभा भोपाल पहुँचकर नौकरी पर जुट जाते है । अचानक एक दिन प्रभा के पेट में दर्द शुरु हो जाता है । डॉक्टर ने चैकअप करके नरेन को बताया

कि- ''आपकी पत्नी के कहीं गिरने, फिसलने, या भारी चोट लगने से पेट में मौजूद बच्चा हिल गया था काफी पहले ।''[१५] अगर समय रहते इसे निकाला नहीं गया तो बच्चे के मर जाने से प्रभा के शरीर में जहर फैल सकता है, जिससे प्रभा की जान भी खतरे में पड़ सकती है । डॉक्टरने यह भी बताया कि- प्रभा अब कभी माँ नही बन सकती। जिस कमरे में प्रभा को लिटाया था, नरेन वहाँ गया तो प्रभा रोने लगी और कहने लगी कि- ''बताओ नरेन, मैं माँ बनूँगी न ?''[१६] नरेन क्या उत्तर देता। डॉक्टर ने भी गलत बात बताते हुए प्रभा को धैर्य बँधाया कि- तुम दो-तीन दिन में बच्चे को जन्म दोगी । नरेन की समझ में कुछ नही आ रहा था कि अब क्या किया जाए? शीतेष एक उपाय देता है । और दोनों दिल्ली जाकर 'पालने' से दो दिन के बच्चे को गोद लेते है। उसी शाम डॉक्टर ने भी प्रभा का ऑपरेशन कर दिया । प्रभा जब आँखे खोलती है, तो नरेन बच्चा उसके सामने धर देता है । उलाहना-सा देती हुई प्रभा बोली- ''देखो, नरेन मेरा बच्चा । देखो, मैं माँ बन गई ।''[१७]

❑ डूब :-

'डूब' वीरेन्द्र जैन की एक सशक्त कृति है । जिसमें लेखक ने यथार्थ का निरुपण कर समाज और राजनीति की अनैतिकता का पर्दा फाश किया है । उतरप्रदेश और मध्यप्रदेश की सीमारेखा पर बेतवा नदी पर राजघाट नामक बाँध बनाने की योजना रखी जाती है, कि वह क्षेत्र 'डूब' क्षेत्र में आ जाता है । डूब के प्रभाव क्षेत्र तले प्रमुखत: लड़ैई, सिरसौद, पानीपुरा, चंदेरी, और मुंगेर जैसे गाँव आए नहीं कि- उन्हें सारी सुविधाएँ देना बँध कर दिया जाता है । मदरसा और गाँव तक पहुँचनेवाले रास्ते भी बंद कर दिए जाते है । गाँव अन्य समाज से कटकर रह जाता है ।

गाँव के समग्र चढ़ाव और उतार को अपनी बूढी निगाहों से देख व समझ रहे है माते । माते इस उपन्यास का प्रमुख चरित्र व गाँव के मुखिया रहे है । गाँव के हर सही और गलत का फैसला तटस्थता एवं इमानदारीपूर्वक करते है माते ।

लड़ैई एक एसा गाँव है, जहाँ हर जाति के लोग रह रहे है । जिसमें साहूकारों की शोषण-वृत्ति का भोग बनते है- किसान और मजदूर । अस्पृश्यता और अंधविश्वास गाँव को खोंखला बना देते है । तो साथ-साथ सांप्रदायिक हत्याकांड़ की वजह से 'मुसलमानी पथरा' गड़ जाते है । मोतीसाव, ठाकुर, निर्मल साव, हलके साव सब मिलकर गाँव के भोले-भाले किसानों को लूट रहे है । ठाकुर से मजदूरी माँगना भी गुनाह है । मजदूरी जब नकद कलदार में माँगी जाती है, तो ठाकुर के द्वारा मजदूरों को मारा-पीटा जाता है । और उनकी झोंपडियों में घूसकर उन्हे जिन्दा जला दिया जाता है । पर ''बिल्ली के गले में घंटी बाँधे कौन ?''[१८]

मास्साव, अरविंद पांडे, माते, अड्डूसाव, गोराबाई और रामदुलारे जैसे पात्र गाँव को सहारा देते है । सरकार की लापरवाही की वजह से नसबंदी योजना में कई नौजवानों की जानें चली जाती है । मुआवजा देने की लालच देकर छल से गाँव के आदमियों की नसबंदी करवा दी जाती है । सरकारी नसबंदी के इस धिनौने और क्रूर अभियान की वजह से चारों और हाहाकार मच जाता है । एक साथ कई लाशें गाँव से निकलती है ।

गाँव एक समस्या से उबरता नही कि दूसरी बड़ी समस्या उसके सामने आ जाती है । गाँव के लोगों को खुशी इस बात की है कि- बाँध बनेगा तो उन्हें मजदूरी मिलेगी । जिससे उनकी गरीबी और बेकारी दूर होगी । मगर उनकी यह खुशी जल्द

ही गमगीनता में बदल गई । बाँध पर उन्हें मजदूरी पर तो नही रखा, उपर से उस समग्र क्षेत्र को विस्थापित घोषित कर गाँव के लोगों से उनके मकान, खेत, कुएँ आदि सब-कुछ छीन लिया जाता है । अपनी जमीन से उखड़ने का दर्द वे सहन नही कर पाते । सरकार द्वारा उनकी जमीन जबरदस्ती किश्तों में अधिग्रहीत की जाती है । और लोगों को विस्थापीत कर नि:सहाय बना दिया जाता है । सरकार द्वारा विस्थापितों के रहने का भी कोई मुकम्मल इंतजाम नहीं किया जाता । मुआवजें के इंतजार में उनकी आँखे तरसती रहती है । पर मुआवजें के नाम पर उन्हें फूटी कौड़ी तक नहीं मिलती। उपर से सरकारी अफसरों द्वारा उन्हें तिरस्कृत कर अपमानीत किया जाता है । जिससे गाँव उजड़ता चला जाता है । टूटता-बिखरता जाता है ।

साल पर साल बीतते चले जाते है, मगर तब भी बाँध योजना का कार्य आगे नहीं बढ़ाया जाता । विस्थापित लोग अनंत इंतजार में लगे रहते है । फिर अचानक एक दिन खबर मिलती है कि- अब 'डूब' क्षेत्र बदल दिया गया है । अब यहाँ बाँध नही बनेगा अभयारण्य बनाया जाएगा । जिससे पशु यहाँ बेखटके रह पाए । मनुष्य को उजाडकर सरकार पशुओं को संरक्षण प्रदान करना चाहती है । अचानक एक दिन सरकार द्वारा आधे बनाए गए बाँध में दरार पड़ने की वजह से बाँध टूट जाता है । आस-पास के समग्र क्षेत्र में पानी फैल जाता है । जिससे कई लोग और पशु मर-खप जाते है । उपर से सरकारी तंत्र रेड़ियो द्वारा झूठे समाचार दिए जाते है कि- इस क्षेत्र को कुछ वर्ष पूर्व ही मुआवजा देकर खाली करवा लिया गया था । यदि एसा न किया गया होता तो कई जाने चली जाती । जबकि वास्तविकता तो

कुछ और ही थी । तब माते का गुस्से होना स्वाभाविक ही है । वे चिल्लाते है कि- ''लाबरी है जा सरकार महा लाबरी! महा झूठी, सरासरी झूठी !''[१९]

इस तरह सरकारी अनैतिकता, भ्रष्टाचार एवं साव की शोषणवृत्ति का वास्तविक चित्रण लेखकने इस उपन्यास में किया है ।

❑ पार :-

'डूब' का उत्तरार्ध 'पार' है । 'डूब' में, ग्रामीण संस्कृति को उभारा है, तो 'पार' में उसी गाँव के पास पहाड़ पर बसती आदिवासी संस्कृति अर्थात 'जीरोन खेरा' को उभारने की कोशिश की गई है । 'डूब' जहाँ पूर्ण होता है, 'पार' वहीं से शुरु होता है ।

'जीरोन खेरा' में नियम बनाया जाता है कि- जिस स्त्री के बेटे को गुनिया (सरपंच) बनाया जाए, उस स्त्री को शारीरिक सुख से वंचित रहना है । इस नियम का पहला भोग बनती है- मुईया और बाद में फुलिया । मगर आखिरकार मुइया इस नियम को तोड़कर जीरोन खेरे से भाग जाती है । फुलिया की देह भी ताप माँगती है । पर वह इन बंधनो को तोड़ नही पाती ।

राऊत खेरे में निर्मल साव का आना जाना अधिक बढ़ गया है । वह इस खेरे में आता और इस खेरे की स्त्रियों को जंगल में सौगात् लेने के बहाने बुलाता और शहर भगा जाता । फिर खेरे में आकर स्त्रियों के भाग जाने की या डाकूओं द्वारा उठा कर ले जाने की बात करता । इन भगाई गई औरतों को शहर ले जाकर वह बेच देता । निर्मल साव औरतों के साथ-साथ बच्चियों को बेचने का धंधा भी करता था । चमार भी मरे हुए पशुओं की खाल बेचता है, जबकि निर्मल साव तो

जिंदा औरतो के शरीर को बेचने का व्यवसाय करता है ।

लड़ैई गाँव में स्थान-स्थान पर गहरें गड्ढे खुद जाने की वजह से वहाँ के पशु अब जीरोन खेरे में चरने के लिए आने लगे । तब जीरोन का मुखिया चिंतित होने लगा, कि अगर गाँव के पशु यहाँ आकर चारा चरने लगेंगे तो हमारे पशु क्या खाएँगे ? ऊपर से यदि कोई पशु कहीं चला गया या खो गया तो हमे तो मार-मार कर ढेर ही कर देंगे ।

जिस तरह सरकारी नसबंदी के धिनौने और क्रूर अभियान का शिकार गाँव बनता है, उसी तरह जीरोन खेरा भी इस अभियान का शिकार बनता है । कई लोग मर-खप जाते है । चारों और हाहाकार मच जाता है । ऊपर से निर्मल साव भी जीरोन खेरा पर अपना झूठा अधिकार स्थापित कर राऊतों की जमीनें हड़पने की ताक में है । निर्मल साव का कहना है कि- जीरोन खेरा की सारी जमीन उनके पुरखों की है । उनके पुरखों की जमीन पर राऊतों ने अपना कब्जा जमा लिया है। इधर खेरे का मुखिया सोचता है, कि- अगर उन्हें उनकी जमीन से खदेड दिया जाएगा तो आखिरकार वे लोग जाएँगे कहाँ ? गाँव में तो लोग उन्हें आने भी नहीं देते । दूर से राऊतों को देखा नहीं कि उसे टरकाया नहीं।

गाँव की स्थिति भी बिलकुल वैसी है । बरसों हो गए पर न तो उन्हें जमीन के नाम पर मुआवजा ही दिया गया और न तो किसी मुकम्मल जगह पर बसाया गया । बाँध परियोजना को भी बदल दिया गया । अब वहाँ अभयारण्य बनेंगे । माते को इंतजार है- अरविंद पांड़े, और रामदुलारे का । माते को विश्वास है कि- रामदुलारे आएगा तो गाँव को जरुर उबार लेगा । रामदुलारे गाँव को मदद करने

आता है । मगर गाँववाले रामदुलारे की मदद नहीं करते । कैलास महाराज गाँववालों को रामदुलारे के खिलाफ उकसाते है । और गाँववाले रामदुलारे और यशस्विनी का विरोध करते है । माते से यह स्थिति देखी नही जाती । जब दु:ख को माते सह नही पाते तब अपने प्राणों का त्याग करते समय यशस्विनी से एक वचन माँगते है कि- ''तू मुझे वचन दे ठकुरानी कि तू मुझे नई देह देकर फिर इसी गाँव में जनमने का सौभाग्य बख्शेगी । वचन दे ठकुरानी ! वचन दे बिटिया !''[३०] और यशस्विनी मन ही मन वचनबद्ध हो गई ।

➢ **सबसे बड़ा सिपहिया :-**

आनंद 'सारिका' पत्रिका में उपसंपादक है । पिछले सप्ताह ही आनंद ने आई.जी.साहब का इंटरव्यू लिया था । सप्ताह भर बाहर रहने के बाद जब वह अपने घर पहुँचता है, तब उसे पता चलता है कि उसके घर चोरी हो गई है । घर में उनकी पत्नी के बहुत सारे जेवर भी थे । आनंद को आशंका है कि- चार सौ रुपये के साथ चोर जेवर भी उठा ले गए है । आनंद रपट लिखवाने पुलिस-स्टेशन पहुँचता है । वहाँ वह सुबह से शाम तक बैठा रहा और अपनी रपट लिखवाने के लिए निवेदन करता रहा । मगर किसी ने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया । सिपहिया लोग राह देख रहे थे कि- यदि आनंद चाय-पानी का बंदोबस्त कर दे या घूस के नाम पर थोडा-बहुत रुपया निकाले तो रपट लिखें । मगर आनंद ने एसी कोई प्रतिक्रिया न दिखाई । सो दिनभर उसे अपमानीत किया गया । और जलिल कर अंत में लापरवाही बताते हुए कह दिया गया कि- तुम अपने घर जाओ । हम बाद में तहकिकात के लिए आ जाएँगे। वास्तव में तीन साल पहले भी आनंद के घर

चोरी हुई थी । और पुलिस ने यही कहा था कि- तुम जाओ हम पिछे आ रहे है। मगर आज तक पुलिस नही आई । और परसो फिर से उसके घर चोरी हो गई ।

सिपाहियों से मदद के बदले जब तिरस्कार और अपमान मिलता है, तब दूसरे दिन आनंद उस आई.जी.साहब के पास पहुँचता है- जिसका हाल ही में इंटरव्यू लिया था । आई.जी.साहब ने उस इंटरव्यू में आनंद के सामने अपने पुलिस कर्मचारियों की बहुत प्रशंसा की थी । मगर आनंद को जो अनुभव हुआ उसके मुताबित आई.जी. की एक भी बात सही न निकली । आनंद पूरा घटनाक्रम आई.जी.साहब को कह सुनाता है, जो कल उसके साथ हुआ था । सुनकर आई.जी. साहब ने शर्म महसूस की । और एस.पी., डी.एस.पी., डी.ओ., सभी को बुलाकर मीठापुर पुलिस थाने में हुई इस शर्मनाक घटना का वर्णन कर उन सभी पुलिस कर्मचारियों को पदावनत करने का दिखावटी निर्णय लिया, और आनंद से क्षमा माँगने की बात कही । क्योंकि आनंद पत्रकार है ।

जैसे ही सभी सिपाहियों को पता चलता है, कि आनंद पत्रकार है, वह सभी आनंद के प्रति दिखावटी सहानुभूति दिखाने लगे । वास्तव में सभी सिपाहियों की मिली भगत थी । सभी मिलकर एसा चक्रव्यूह रचते है, जिससे आनंद का बचकर निकलना कठिन हो जाता है । आनंद ने जो रपट लिखवाई थी वह बदल दी जाती है । और आनंद को बातों में उलझाकर उर्दू में लिखी रपट पर उसके हस्ताक्षर करवा लिए जाते है । आनंद इस बात से बिलकुल अनभिज्ञ था ।

एक दिन रात को आनंद जब अपने घर लौट रहा था, तब पुलिस के आदमियों के द्वारा आनंद को मारा-पीटा जाता है । जिससे वह बेहोश होकर गिर

पड़ता है । अस्पताल में डॉक्टर के द्वारा गलत रिपोर्ट बनाई जाती है कि- ''आनंद रात को शराब के नशे में नदी के पथरीले पुश्ते पर लुढककर पचास फीट नीचे खड्डे में जा गिरा था।''[२१] जबकि यह सरासर झूठ था । और आनंद की समझ में यह आ नहीं रहा था कि- यह सब हो क्या रहा है ? आखिरकार आनंद की समझ में पुलिस का षडयंत्र आ जाता है ।

पुलिस आनंद के पास आकर सूचना देती है कि- उन्होने चोर को पकड लिया है । और वह चोर है, उन्हीं के मित्र रमेशबाबू की पत्नी! यह सुनकर आनंद को धक्का लगता है । दरअसल में पुलिस आनंद को अपना वास्तविक स्वरुप दिखाकर उसका मुँह बँध करवाना चाहती थी । और पत्रिका में कुछ भी न छापने के लिए मजबूर करना चाहती थी । इतना षड़यंत्र कम था कि आई.जी.साहब ने प्रेस कोन्फरन्स में आनंद को खूब बदनाम किया । और आनंद द्वारा लिए गए इन्टरव्यू को भी गलत साबित कर दिया ।

पुलिस के षड़यंत्र, झूठ और गुंड़इया बर्ताव का विरोध करने की आनंद ठान लेता है । तभी रमेशबाबू कहते है कि- ''कौन प्रकाशित करेगा आपके पत्र को ? सच को ? सच तो वही माना जाएगा जो पुलिस की डायरी मे दर्ज है ।''[२२] तभी तो लोग कहते है कि- ''लोक बड़ा न रुपैया, सबसे बड़ा सिपहिया ।''[२३]

➢ **शब्दबध :-**

इस उपन्यास में वीरेन्द्र जैन ने प्रकाशन जगत के भ्रष्टाचार और शोषण का पर्दाफाश किया है । किस तरह प्रकाशक लेखकों पर गीध-सी द्रष्टि गड़ाएँ उनको नोंचने पर तैयार रहते हैं ! इसका वास्तविक चित्रण कर पाने में वे समर्थ रहे है ।

आनंदवर्धन को हितकारी प्रकाशन में नौकरी मिल जाती है । आनंद का महीना-भर का खर्च है- १२० रुपए । मगर हितकारी कार्यालय ने ९६ रुपए माहवार खर्च देना तय किया । आनंद ने संचालकजी के सामने जाकर विरोध प्रकट किया तो संचालकजी ने आनंद की बात पर गौर कर उसकी तनख्वाह बढ़ा दी । पर साथ-साथ काम करने के घण्टे भी बढ़ गए ।

हितकारी कार्यालय से जो भी पत्र लिखे जाते थे, उन्हें संचालकजी के नाम से ही भेजे जाने का नियम था । मुलाजिमों को तनख्वाह कम और अन्य सुविधाएँ अधिक इसलिए दी जाती थी, कि- मुलाजिम दूसरों से वेतन बताते शर्माएँ । और इस कार्यालय से भागकर कहीं जा न पाए ।

हितकारी कार्यालय से तंग आकर आनंद सूर्योदय प्रकाशन में नौकरी करने के लिए तैयार हो जाता है । सूर्योदय प्रकाशन बहुत छोटा प्रकाशन है । दीपकजी सूर्योदय का सारा कार्यभार संभालते थे । सूर्योदय से एकमात्र दीपकजी के पिताजी अरिहंतजी की पुस्तके ही विविध नामों से प्रकाशित होती रहती थी । अन्य किसी भी लेखक की कोई पुस्तक यहाँ से प्रकाशित नही होती थी । सूर्योदय की बिक्री बढाने के लिए आनंद ने अरिहंतजी को फिर से लिखने के लिए प्रेरित किया । और वे इस शर्त पर लिखने के लिए तैयार हुए कि- उनकी पुस्तक की कम से कम दस हजार प्रतियाँ अवश्य निकलनी चाहिए । आनंद ने प्रस्ताव स्विकार कर लिया । और अरिहंतजी लिखने भी लगे । मगर दीपकजी ने दो हजार से अधिक प्रतियाँ छापने से इनकार कर दिया । क्योंकि एसे बहुत से लेखक है जिनकी पुस्तक छापने के एवज में उनसे बहुत पैसे एँठे जा सकते है । दीपकजी केवल वे ही किताबें छापना

चाहते है, जिनका खर्च स्वयं लेखक वहन कर पाए । आनंद यह सब जानकर आश्चर्य में गर्त हो जाता है । वह सोचता है कि- लेखक आखिरकार पैसे क्यों देगा ?

आनंद ने थोड़े-बहुत व्यंग्य और एक उपन्यास भी लिखा है । अपनी पांडुलिपि लेकर आनंद बलभद्रजी के यहाँ छपवाने के लिए जाता है । मगर बलभद्रजी अपनी असमर्थता बता देते है ।

प्रकाशन जगत में एसे बहुत सारे प्रकाशन है- जो लेखक से बढ़-चढ़कर रुपया लेते है । और उनकी पुस्तक छापते नही । मगर पांडुलिपि खो जाने का, कागज उपलब्ध न होने का या प्रेस ने दगा दिया- एसे बहाने निकाले जाते है । और लेखक के पैसो से अपने मित्रो और परिचितों की किताबें छापी जाती है । तो कभी-कभी लेखक से उसकी पांडुलिपि लेकर रॉयल्टी पहले ही दे दी जाती है । और बाद में छापने के लिए कहकर लंबे समय तक उनकी पुस्तक छापी नही जाती । और जब पुस्तक छपकर बाहर आती है, तो वह लेखक के नाम से नही, किसी दूसरे के नाम से प्रकाशित होती है । अपनी पुस्तक छप जाने के बावजूद लेखक को पता भी नही चलता और किसी दूसरे के नाम पर वही पुस्तक लाखों रुपए कमा जाती है । हुई न लेखक के साथ धोखाघडी! और बेचारा लेखक प्रकाशनों के चक्कर काटता रहता है ।

आनंद अब कांताजी के प्रतिबद्ध प्रकाशन में कार्य करने लगता है । कांताजी अपने मुलाजिमों को वेतन के अलावा ५० रुपए अपनी तरफ से इसलिए देती है- कि मुलाजिम कभी उनका विरोध न कर पाए । मगर आनंद ये ५० रुपए लेना

मुनासिब नही समझता । आनंद के कार्य से कांताजी बहुत प्रभावित होती है । प्रतिबद्ध की ओर से आनंद विश्वविद्यालय पहुँचता है । विश्वविद्यालय में पुस्तकों की आढ़तियों की तरह बोलियाँ लगाई जा रही थी । विद्यार्थी इस साल क्या पढ़ेंगे ? ये विद्वान नहीं प्रकाशक तय कर रहे थे।- ''विद्यार्थीयों को क्या पढ़ना होगा यह प्रकाशक का प्रतिनिधि अपने बक्से में बन्द नोटो के बण्डल गिनकर तय कर रहा था ।''[२४] तब आनंद आश्चर्य में गर्त होकर सोचता है कि- क्या यही है प्रकाशन व्यवसाय ? यही प्रकाशकों की नैतिकता और प्रामाणिकता है ?

आनंद द्वारा लिखा गया उपन्यास प्रतिबद्ध से प्रकाशित न होकर किसी दूसरे प्रकाशन से प्रकाशित हुआ । इस अपराध के एवज में आनंद को प्रतिबद्ध की नौकरी गँवानी पड़ी । इस तरह आनंद को प्रकाशन जगत से अनुभव बहुलता प्राप्त हुई ।

➢ **तलाश :-**

समग्र उपन्यास आत्मकथात्मक एवं पत्रात्मक शैली में लिखा गया है । कथा कहनेवाला पात्र है बीरन ।

गाँववाली तमाम जमीन जायदाद जब दादा ने पूजाबब्बा के नाम कर दी, तब मल्लू ने बीरन से विरोध प्रकट करते हुए पूछा कि- आखिरकार दादा ने एसा निर्णय क्यों लिया? उत्तर के रुप में बीरन मल्लू को सारा घटनाक्रम पत्र के माध्यम से बता रहा है ।

शाम के वक्त जब बड़े कक्का संध्या आरती के लिए गए थे, तभी बारह सिपाहियों का दल गाँव में आ पहुँचा । बीरन से पानी लाने के लिए कहा गया । और बड़े कक्का के आने की राह देखने लगे । बड़े कक्का ने आते ही सिपाहियों से आने

का कारण पूछा, और उनके रहने तथा खाने-पीने की व्यवस्था के लिए बहुत सारे आदमियों को दौडाया गया । तभी अचानक एक सिपाही ने बीरन को घर के अंदर फेंक कर बड़े कक्का को घेर लिया । और सभी ने अपना-अपना मोरचा संभाल लिया। तब बड़े कक्का को यह जानते हुए देर न लगी कि ये सिपाही नही डाकू है। डाकूओं ने बड़े कक्का और हलके कक्का को रस्सी से उपर लटका दिया । और मार मारने लगे । बड़े कक्का से निरंतर पूछते रहे कि- घर में जो भी गहना या रुपया हो सब निकालो । नही तो मार दिए जाओगे । मगर बड़े कक्का ने बताया कि- अभी पिछले साल ही डाका पड़ा था । घर में कुछ भी नही है । तभी बड़ी काकी ने डर के मारे गहने और रुपयों की जानकारी डाकूओं को दे दी। बुआ विरोध करने सामने आई तो डाकूओं ने उन्हें मार गिराया ।

जब मलखानसिंह अर्थात् पूजा बब्बा को पता चलता है, कि- बड़े कक्का के घर में डाकू घूस आए हैं, तो उसने अपनी धोती में बहुत सारे पत्थर भरे और घर के उपर चारों ओर से निरंतर पत्थर फेंकता रहा और गोल-गोल घूमता रहा । डाकू जान गए कि- गाँव में एका हो गया है । वह जल्दी ही सामान बटोरकर पहाड पर चले गए । वास्तव में सारा गाँव तो मंदिर में घुसा हुआ बैठा था ।

दूसरे दिन बड़े कक्का सारे गाँव को पूरा किस्सा रो-रो कर बता रहे थे । और कह रहे थे कि- वो तो आप लोगों ने पत्थर बरसाने शुरु किए इसलिए वे डरकर भाग गए । वरना आज इस घर से दो लाश की जगह तीन लाशें पड़ी हुई होती । बाद में कक्का को मालूम होता है, कि पत्थर गाँववालों ने नहीं मलखान ने बरसाये थे । और इसी वजह से उसके पैर सूजकर हाथी के पाँव जैसे हो गए थे । दादा

मलखान को लेकर अस्पताल जाते है, और सोचते है, कि- मलखान का करजा माफ कर दिया जाए। मगर बड़े कक्का ने मना कर दिया ।

गाँव में बारी-बारी से डाका पड़ता रहता है । साहूकार सोचते है, कि एसा कौन-सा रास्ता अपनाया जाए कि- जिससे डाकूओं से बचा जा सके । साहूकारों ने शंकरसिंह नामक डाकू से संरक्षण माँगकर सौदा निपटाया । शंकरसिंह डाकू संरक्षण देने के लिए तैयार हो गया । अब गाँव को किसी से डर नही था । मगर चार साल बाद शंकरसिंह ने पुलिस के सामने आत्मसमर्पण कर दिया । गाँववालों के सामने फिर से सवाल खड़ा हो गया कि- अब क्या ?

गाँव में कभी-कभी सिपाही दल भी डाकू के वेश में लोगों को लूटने का पार्ट टाईम काम करते थे । एक दिन घर का दरवाजा किसी ने खटखटाया । जब देखा तो छः डाकू थे । मलखान, बड़े कक्का, हलकें कक्का और दादा ने जंग छेड़ दी । उस जंग में बड़े कक्का मारे गए । साथ में डाकू वेश-धारी एक सिपाही भी मारा गया। उस सिपाही की खोज में उसके बारे में जानने के लिए मलखानसिंह को पुलिस ने पकड लिया । और मार-मार कर एसा हाल कर दिया कि- जब मलखानसिंह चार दिन बाद वापस लौटा तो अपने बेटो के कंधो पर लदकर । मगर उसने अपना मुँह न खोला । सारे कामों से अब उसे छुट्टी मिल गई । पर सिद्ध बब्बा के थान पर ज्योत जलाने का काम अब भी उसने नही छोडा ।

गाँव के साहूकारों में डाकूओं का डर बढ़ रहा था । उन्हें एक ऐसे युवक की आवश्यकता थी, जो अपने ही गाँव का हो और वहीं डाकू हो जाए । क्योंकि फिर वह डाकू अगर डाका डालेगा भी तो अपने गाँव को छोड़कर । जिससे खूद-ब-खूद

गाँव सुरक्षित हो जाएगा । लाखन किसी अनजाने अत्याचार से तंग आकर डाकू बन जाता है । साहूकार जो सोचते थे वही हुआ । बाद में पूजा बब्बा का छोटा भाई और रुपा तथा अनेका भी डाकू बन गाँव से भाग जाते है । एक दिन पुलिस एक डाकू की लाश शिनाख्त के लिए गाँव में लाते है । जो लाश पूजा बब्बा के छोटे भाई की थी । यही हालत लाखन, रुपा और अनेका की न हो इसलिए पूजा बब्बा अपने एक पैर के दम पर उन तीनों की तलाश में निकल पड़ते है । ता कि अपने छोटे भाई की तरह उनका शब भी शनाख्त के लिए न लाया जाए!

➢ **पंचनामा :-**

दादा का पाँचवा बेटा उर्फ पंचम सुखी व समृद्ध नायक वंश का वंशज है । मगर परिस्थितियों के चलते घर में अभावों के उत्पन्न होते ही पंचम उर्फ अकलंक को मामा द्वारा पहुँचा दिया जाता है- अनाथाश्रम ! शुरुआत में सहमा-सहमा सा रहता अकलंक अब अनाथालय के बच्चों से धुलने-मिलने लगता है । धीरे-धीरे अनाथाश्रम की कठिनाईयों का सामना करना भी अकलंक को आ जाता है । तेल लगाना, खाना खाना, कपड़े धोना, नहाना- इन सब कामों के वक्त रचे जा रहे षडयंत्र का भोग बार-बार अकलंक को ही बनना पड़ता है । मगर बाद में अपनी कार्यदक्षता, धर्मपरायणता एवं सत्यनिष्ठता के चलते सबके ध्यान व आकर्षण का केन्द्र बन जाता है । अनाथाश्रम के सभी बच्चों का प्रतिनिधि भी बन जाता है । जिससे वह प्रधानमंत्री और अध्यक्ष को फूटी आँखों भी नही सुहाता । अंततः उसे एक दिन अनाथाश्रम से निकाल दिया जाता है ।

छात्रावास में मात्र उसके रहने और खाने की व्यवस्था थी । पढ़ाई का खर्च

उसे स्वयं निकालना है, तब उसके लिए अब नौकरी करना अति आवश्यक बन जाता है।

अकलंक प्रज्ञाचक्षु डॉ. इन्द्रचंद्र शास्त्री के यहाँ उनके कहे गए को लिखने की तथा पढ़कर सुनाने की नौकरी करने लगा । वहाँ शास्त्रीजी की नौकरी कम और श्रीमती शास्त्री का कार्य अधिक करना पड़ता था । सो उसे आखिरी सलाम देकर चलते बने । बाद में आढ़तियों की बोली लगाने का, एक कारखाने में हेल्पर का कार्य करने, घड़ियाल की दुकान में कार्य करने का अनुभव प्राप्त किया । इसके अलावा अलग-अलग प्रकाशनों में भी छोटी-मोटी नौकरी कर अनुभव बहुलता प्राप्त की ।

संस्कृत महाविद्यालय मे प्रवेश पाते ही अकलंक आनंदवर्द्धत के रुप में हमारे सामने आता है । विद्यालय में प्रवेश पाते ही अब अकलंक दोपहर तक पढ़ता है । और दोपहर से रात के दस बजे तक कारखाने में नौकरी करता है । यहाँ अचानक उससे मिलने विनय और प्रदीप आते है । जिससे बहुत पहले आनंद उर्फ अकलंक जयपुर अनाथाश्रम में मिला था । और विनय के साथ तो आनंद की पक्की दोस्ती हो गई थी। प्रदीप को एक स्थान पर इन्टरव्यू देना था, इसलिए दोनो आए थे ।

कुछ साल बाद आनंद उस अनाथाश्रम में जाता है, जहाँ विनय और उसकी पत्नी मृणालिनी दोनों मिलकर अनाथ बच्चों की सेवा करते है । उन्हें प्रेम व प्रेरणा देते है । वहाँ सारी व्यवस्था और अपनत्व देखकर आनंद बहुत खुश होता है । और बालिका आश्रम की ही एक लड़की शालिनी को अपना जीवनसाथी बना लेता है । बाद में आनंद और शालिनी भी अपने आपको उस अनाथाश्रम को अपनी सेवा देने के लिए कृतनिश्चयी हो जाते है, जहाँ से आनंद उर्फ अकलंक उर्फ पंचम आया था।

➢ वीरेन्द्र जैन को प्राप्त पुरस्कार और सम्मान :-

वीरेन्द्र जैन की कृतियाँ अपनी अलग ही पहचान लेकर चलती है । उनके साहित्य की उत्कृष्टता को ध्यान में रखते हुए उन्हें सम्मानित कर बहुत सारी कृतियों पर पुरस्कार भी दिए गए है । जिनमें से कुछ इस प्रकार है।-

(१) वर्ष १९८७- में- प्रकाशित मध्य-प्रदेश के लेखकों के उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'शब्द-बध' के लिए मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य संमेलन की ओर से- वागीश्वरी पुरस्कार । (१९८८)

(२) वर्ष १९८८- में- प्रकाशित उपन्यासों में श्रेष्ठ उपन्यास 'सबसे बड़ा सिपहिया' के लिए हिन्दी अकादमी, दिल्ली की ओर से साहित्यिक कृति पुरस्कार । (१९९०)

(३) वर्ष ८९-९० में- लिखी चालीस वर्ष तक की आयु के उपन्यासकारों की पांडुलिपियों में से सर्व श्री राजेन्द्र यादव, डॉ. निर्मला जैन और डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा सर्वश्रेष्ठ घोषित 'डूब' के लिए वाणी प्रकाशन की ओर से प्रेमचन्द महेश सम्मान ।- १९९१

(४) वर्ष १९८९ में- प्रकाशित दिल्ली के लेखकों के बाल-साहित्य में श्रेष्ठ 'बात में बात में बात' के लिए हिन्दी साहित्य अकादमी, दिल्ली की ओर से- बाल साहित्य पुरस्कार ।- १९९२

(५) वर्ष १९८९, ९०, ९१- में प्रकाशित हिन्दी उपन्यासों में से सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'डूब' के लिए मध्यप्रदेश साहित्य परिषद की ओर से- अखिल भारतीय वीरसिंह देव पुरस्कार- १९९३

(६) वर्ष १९९४ में- प्रकाशित कथा-साहित्य में सर्व श्री नामवर सिंह, कृष्णा सोबती, विष्णु खरे, मनोहरश्याम जोशी और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी द्वारा सर्वश्रेष्ठ घोषित उपन्यास 'पार' के लिए- श्रीकांत वर्मा स्मृति पुरस्कार ।- १९९५

(७) वर्ष १९९३ में- प्रकाशित दिल्ली के लेखकों के बाल-साहित्य में श्रेष्ठ 'तीन चित्रकथाएँ' के लिए हिन्दी अकादमी, दिल्ली की ओर से- बाल साहित्य पुरस्कार ।- १९९६

(८) उपन्यास के क्षेत्र में निरन्तर, रचनात्मक और सक्रिय योगदान के लिए- अखिल भारतीय नेताजी सुभाषचन्द्र बोस स्मृति सम्मान ।- १९८९

(९) मध्य-प्रदेश के लेखकों की वर्ष '९४' से '९६' के बीच प्रकाशित कृतियों में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'पंचनामा' के लिए निर्मल पुरस्कार ।- १९९७

(बुरहानपुर मध्य-प्रदेश से)

❋ मैत्रेयी पुष्पा

किसी भी सर्जक के साहित्यिक विश्लेषण व्याख्या एवं मूल्यांकन के लिए उसका जीवन परिचय प्राप्त करना अत्यंत जरुरी है, क्योंकि सर्जक के जीवन और व्यक्तित्व के कई पक्ष उसके साहित्य को किसी न किसी रुप में प्रभावित करते हैं।

ऐसे ही प्रश्नो को लेकर लिखनेवाली अशक्त लेखिका मैत्रीय पुष्पा है । इन्होंने महिला जीवन की नाना प्रकार की समस्याओं को प्रतिपादीत करने का कार्य किया है।

➢ **जन्म तथा बचपन**

हिन्दी साहित्य के इतिहास में बीसवी शदी के उतरार्द्ध मे महिला लेखिकाओ में मैत्रीय पुष्पा को नाम आदर के साथ लिया जाता है ।

'मैत्रीय पुष्पाजी का जन्म ३० नवम्बर १९४४ को अलीगढ जिल्ले के सिकुर्रा गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था ।'[१] पृ.नं.१७३ इनका आरंभीक जीवन झाँसी के खिल्ली गाँव में बीता । मैत्रेयी पुष्पा का परिवार छोटा था । 'मैत्रेयी पुष्पाजी की माता का नाम कस्तुरी देवी और पिता का नाम हीरालाल था ।[२]

जब मैत्रेयीजी अठारह महीने की थी, पिता मोतीझाला की बिमारी में परलोकवासी हो गए परिवार में केवल तीन लोग थे मैत्रेयीजी उनकी माँ कस्तुरी देवी और उनके दादा जो अपने पैरों से अपाहिज थे बचपन में उन्हे पुष्पा नाम से पुकारा जाता था ।

जैन मैत्रेयीजी आठ साल की थी उन्हें प्रशिक्षित ग्राम सेविका की सरकारी नौकरी का फरमान आया । उनकी पहली पोस्टींग जिल्ला झाँसी में हुई । नौकरी और पढाई के चलते मैत्रेयीजी के लालन-पालन पर वह ध्यान नहीं दे पाई । उनका बचपन माँ के होते हुए भी माँ के प्यार से वंचित रहा दादाजी एक मात्र उनका सहारा थे ।

➢ **शिक्षा**

मैत्रेयी पुष्पाजी का आरंभिक जीवन झाँसी के खिल्ली गाँव में बीता । लेकिन माताजीकी नौकरी के कारण मैत्रेयी को पढाने के लिए 'उन्होने अलीगढ में 'समाज कल्याण बोर्ड' की संयोजिका के यहाँ रखने का फैसला लिया । जिससे उनकी पढाई

में बाधा न पडे । किन्तु अलीगढ से मैत्रेयी अपनी माँ के पास झाँसी आ गयी ।

वही 'मोढ' के 'डी.वी.इन्टर' कोलेज से बारहवी कक्षा पास की कालेज मे मैत्रेयी अकेली महिला विद्यार्थीनी थी, जो साईकिल से दस किलोमीटर मोढ तक पढने जाती थी।' इस प्रकार उन्होने बुन्देलखंड कालेज झाँसी से बी.ए. और हिन्दी साहित्य से एम.ए. की परीक्षा पास की ।'[३]

➢ **माता-पिता, परिवार**

मैत्रेयीजी का बचपन ग्रामीण परिवेश में व्यतीत हुआ था । युवावस्था में वह झाँसी शहर में आ गई थी । यहाँ आकर कालेज के शहेरी वातावरण में अनेक परेशानियों का सामना करना पडा ।

मैत्रेयीजी को शादी से पहले पारिवारिक संरक्षण कभी प्राप्त नही हुआ । बचपन से लेकर युवावस्था तक उन्होंने अकेले ही अनेक परेशानियों का सामना किया । इस प्रकार मैत्रेयीजी ने अनेक मुश्केलियों का सामना करते हुए अपनी पहचान समाजलक्षी एवं साहित्य की देहरी पर बनायी । 'उनका विवाह २०-२७ वर्ष की अवस्था में अलीगढ में एक डॉक्टर के साथ हुआ ।'[४]

➢ **कृतित्व**

हिन्दी साहित्य में नारी को केन्द्र में रखकर ज्यादातर लिखा गया है । लेकिन २०वी शदी के उतरार्द्ध में अनेक लेखिकाओं का प्रार्दुभाव हुआ है । जिन्होने अपने साहित्य के माध्यम से नारी समस्याओं को समाज के सामने प्रस्तुत किया है ।

वे एक सशक्त लेखिका के रुप में हमारे सामने प्रकट होती हैं । जिन्होने अपने साहित्य में नारी को केन्द्र में रखकर उनको ऊपर उठाने का प्रयास किया है ।

१. कहानी संग्रह

- चिन्हार
- गोमा हँसती हैं
- ललमनियाँ

२. उपन्यास

- बेतवा बहती रही
- इदन्नमम
- चाक
- झुला नट
- अल्मा कबूतरी
- अगनपारवी
- विजन
- कदी ईसुरी फाग ।

३ पुरस्कार

- फैसला कहानी पर टेलीफिल्म
- 'वसुमती की चिट्ठी ।' सार्क लिट्रेरी अवार्ड । 'द हर्गेर प्रोजेक्ट'
- हिन्दी अकादमी द्वारा साहित्य सम्मान
- उपन्यास 'इदन्नमम्' को शाश्वती संस्था बंगलौर द्वारा नेजानागुड्डे निरुमालम्बा पुरस्कार दिया गया ।

४. आत्मकथा

'कस्तुरी कुंडल बसे'

५. आवरण-चित्र

- प्रतिष्ठित फोटोग्राफर
- देश के अनेक नगरों में छायाचित्र प्रदर्शनी
- प्रेस ऑफ इन्डिया, वीमेन्स प्रेस कोर, दिल्ली जर्नालिस्ट एसोसिएशन ऑफ इन्डिया व आथर्स गिल्ड ऑफ इन्डिया सहित कई संस्थाओ की सदस्य ।

➢ उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय

१. 'चाक'

'चाक' उपन्यास सत्रह भागों में लिखा गया एक सशक्त उपन्यास है । चाक उपन्यास में ब्रज के देहात का सामाजीक, आर्थिक, राजनीतिक यथार्थ का चित्रण है। तो दुसरी और स्त्री त्रासदी है । और इस उत्पीडन के विरोध में संघर्षरत स्त्री शक्ति है। नारी यातना सभी वर्ग, सभी युग और सभी समाज की स्त्रियों का सच है । संघटित स्त्री शक्ति का सभी प्रकार के अन्याय के विरोध में अग्रसर होने के शुभ संकेत इस उपन्यास में दृष्टव्य है ।

उपन्यास का प्रारंभिक बिंदु रेशम नामक स्त्री की हत्या है । अतरपुर गाँव की आबादी एक हजार है । जिसमें ब्राह्मण, जाट, नाई, खाटिक, हरिजन, बनिया तथा कुछ मुसलमान है । रेशम नायिका सारंग की बहिने है और सारंग रेशम के खुन का हिसाब चाहती है । सारंग पढी-लिखी युवती है । सारंग का परिवार कुलीन उसके ससुर गजाधर सिंह और पति रंजीत गाँव के कुलीन मर्दो में आगे है।

गाँव की पुरोहिताई करनेवाली खोरापतिन दादी, कलावतीचाची गुलकन्दी आदि उपन्यास के स्त्री पात्र हैं । ये पात्र तो किसी न किसी प्रकार से विशेष चरित्र में उभरते हैं ।

अतरपुर गाँव मे इन पात्रों को लेकर चलनेवाला उपन्यास कई प्रकार की समस्याओं पर विचार करता है । स्त्रियों की समस्या, दलितों की समस्या, स्त्री-पुरुष संबंध की समस्या, शोषण की समस्या, आदि ।

२. 'बेतवा बहती रही'

'बेतवा बहती रही उपन्यास आँचलिकता के वातावरण में लिखी गई एक महत्वपूर्ण कृति है बुंदेलखंड के आँचल विशेष के जनजीवन की यह गाथा समूचे भारतीय ग्रामीण समाज की कथा बन गई है । उपन्यास की नायिका उर्वशी की त्रासदी हमारे समाज की किसी भी निर्धन स्त्री की हो सकती है । उपन्यास की कथा राजसिरि, सिरसा और चंदनपुर तक फैली है ।

उपन्यास का केन्द्रीय पात्र उर्वशी है । मीरा, उर्वशी, जीजी, नानी, दादी, शेरा की साहसी पत्नी ये सभी अविस्मरणीय चरित्र है । इस उपन्यास में पारिवारिक शोषण का दृश्य दिखाई पडता है । उपन्यास में लेखिका ने बेतवा की धारा अर्थात स्त्री की जीवनधारा- यंत्रणाओं, पीडाओं, निराशाओं, आशा-आकांक्षाओं, क्षणिक सुखों को, कामनाओं को अपने में समेटती हुई बहती ही रहेगी ।

३. इदन्नमम'

यह मैत्रेयी पुष्पाजी का एक नारीवादी दृष्टिकोण को लेकर लिखा गया सफल उपन्यास है । जिस पर १६६६ में शाश्वती संस्था बंगलूर ने नेजानागुड निरुमालंबा

पुरस्कार से सम्मानित किया गया । 'इदन्नमम' प्रकृति की सुंदर छायाँओ का सुखद अनुभव देता है पर साथ ही इसमें बसे शोषितों की त्रासदी मन को संतप्त भी करती है ।

इस उपन्यास की कथावस्तु में तीन पीढियों की स्त्रियों की एक सूत्रात्मक कथा है। उपन्यास का प्रारंभ बऊ (दादी) और मंदाकिनी के प्रवास से होता है । मंदा के पिता की हत्या के बाद अपने आप और मंदा को सुरक्षित न पाकर श्यामली गाँव पंचमसिंह के पास अपना बसेरा बनाती है । दादा के रुप में उन्हें एक सच्चा शुभेच्छु भी मिलता है । लेकिन उनके भाई ककाजू सहायता और सहानुभूति की आड में मंदा के पिता की सारी संपति हडपना चाहता है । कथावस्तु में दो प्रेमकथाओं का जिक्र हुआ है एक मंदा और मकरंदसिंह, दूसरी दादा के भाई और कुसुमा भाभी ।

इस उपन्यास में अनेक समस्याओं को निरुपित किया गया है । इन सभी आतंक, हिंसा, आवेग और घात-प्रतिघातों के बीच मकरंद-मंदाकिनी के निर्मल प्रेम हृदय स्पर्शी चित्रण हुआ है ।

मंदा अपने प्रियवर मकरंद की बांट जोहती रहती है । जो कभी वापस नहीं आता । धुँधली होती हुई अंत में अदृश्य हो जाती है । उसकी दारुण निराशा कारुणिक दृश्यांकन बडा मार्मिक हुआ है ।

चतुर्थ अध्याय
दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण चेतना

दसवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण-चेतना कई संदर्भो में प्रस्तुत हुई है । जिसका उल्लेख निम्नानुसार है ।

➢ **ग्रामीण किसान चेतना :**

भारत कृषि प्रधान देश है । वास्तविक भारतवर्ष गाँवों में बसा है । कुछ लोक कृषि को अर्थव्यवस्था के लिए रीढ की हड्डी मानते हैं तो कुछ लोग भारत के दो तिहाई नागरिकों के लिए जीविकोपार्जन का साधन । वास्तव में कृषि का महत्व इससे भी अधिक है । इतना अधिक है कि इसे शब्दों के आवरण में लपेटना मुश्किल है । कृषि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के भाग्य का निर्धारण करती है । दो तिहाई लोगों के लिए जीविकोपार्जन का साधन नहीं है, बल्कि जीवन का तरीका है । इतिहास हमें बतलाता है कि जो राष्ट्र अपनी खेती के प्रति उदासीन हो जाता है, उसकी जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है । विश्व के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात के अनुसार 'जब खेती फलती-फुलती है, तब धंधे पनपते हैं, किन्तु जब भूमि को बंजर छोड देना पडता है, तब सब धंधे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ।'[१] अर्थात् खेती हमारे जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंग है । कृषि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्राणवायु देती है । कृषि करनेवाले ग्रामीण, कृषक कहलाते हैं, जो कि ग्राम्य-जीवन का एक मुख्य अंग है । भारतवर्ष गाँवों से बना है, गाँवों में रहनेवाले अधिकतर लोग कृषि से

सम्बद्ध रहते हैं इसे स्पष्ट होता है कि भारत कृषकों का देश है । स्वातंत्र्य पूर्व काल किसानों के लिए संघर्ष का काल था । किसान सामन्त और महाजनी सभ्यताओं से शोषित हो रहा था । भारतीय कृषक जीवन बहुत ही दरिद्र, ऋणग्रस्त तथा असह्य कष्टों से भरा हुआ है । 'भारतीय किसान अभी प्राय: परम्परागत कृषि-०ढंगों से चिपका हुआ है । ज्ञान के अभाव में वह कृषि में आधुनिक प्रयोगों की सफलता की ओर ध्यान नहीं देता ।'[२] कृषक भगवान में गहन आस्था रखता है । कर्मवाद तथा भाग्यवाद में वह विश्वास रखता है । इसी कारण स्वातंत्र्य पूर्व किसान का धर्म के नाम पर पूँजीपतियों एवं साहूकारों द्वारा शोषण किया गया । डॉ. रामदरश मिश्र के अनुसार 'धर्म के रूप में भी किसान का शोषर होता था । किसान अज्ञान और अशिक्षा के कारण जुल्म सहते हुए भी खामोश थे । असंतोष को भी वे धर्म के डरावने रूप के कारण उभार नहीं पाते थे । धर्म भी किसानों के लिए अपनी मानवीय महत्ता खोकर गरीब इन्सान को शिकंजे में जकडने वाला अन्धविश्वास और रूढिमात्र रह गया था । इसी धर्म ने किसान को इतना सहिष्णु और कुंठित बना दिया था कि वे हर जुल्म को अपने पाप का फल मान लेते थे और जमींदार को, पंडित को, पुरोहित को, शोषण प्रथाओं को धर्म के नाम पर सिर माथे ओढे हुए थे। पंडितों का धर्म किसानों का खून चूसने का धर्म था ।'[३]

कृषक समाज अंधश्रद्धा, रूढिवाद आदि में जकडा रहता है । जादू-टोने, मरणोपरान्त पूर्वजों का पूजा, सर्वात्मवाद और भूत-प्रेत, देवी-देवताओं आदि में उनका गहरा विश्वास रहता है । डॉ. इन्द्रदेव का मत है कि, 'कृषक समाजों में धर्म के एक और पक्ष से भी परिवार के महत्व को बल मिलता है । इन समाजों में पूर्वज-

प्रजा व्यापक रूप से पाई जाती है । परिवार के पूर्वजों को देवता स्वरूप मानना नि:संदेह परिवार को धार्मिक बल प्रदान करता होगा । भारतीय कृषक-समाज में विवाह आदि अवसरों पर पूर्वजों को निमंत्रित करके स्थापित किया जाता है और उनकी पूजा होती है ।'[४] कृषक समाज के धार्मिक विश्वासों तथा अनुष्ठानों पर भी परिवार के महत्व की छाप है । भारतीय कृषक समाज में धार्मिक अनुष्ठान परिवार के अन्तर्गत ही हो जाते हैं । उनका पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन एवं आर्थिक जीवन सभी कुछ धार्मिक भावना से परिचालित होता है । भारतीय किसान स्थानीय देवी-देवताओं, पीर-पैगम्बरों की पूजा करते हैं । आज कृषक समाज विज्ञान के कारण नवीनता और प्राचीनता के द्वंद्व में फँस गया है । इस कारण गाँव में धार्मिक आस्थाओं का कहीं विघटन हुआ तो कहीं नवीन प्रवृतियाँ जन्म ले रही हैं । अवतारवाद, नियतिवाद, भाग्यवाद, कर्मवाद और आत्मवाद में उसकी आस्था अडिग है।

भारतीय कृषक का समस्त जीवन ग्रामीण संस्कृति से अनुप्राणित है । ग्रामीण-कलाएँ, पर्व, त्यौहार, संस्कार, रूढियों, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, खेलकूद आदि के योग से संस्कृति बनती है । संस्कृति ग्रामीण कृषक जीवन की आत्मा है । 'कृषक का जीवन चाहे कितने ही दुखों से भरा क्यों न रहता हो किन्तु त्यौहार आदि को वे बहुत ही उत्साह-उल्लास से मनाते हैं । देहातों में साल के छ: महिने किसी-न-किसी उत्सव में ढोल-मजीरा बजता रहता है । होली के एक महीने पहले से एक महीना बाद तक फाग उडती है, आषाढ लगते ही आल्हा शुरू हो जाता है और सावन-भादों में कजलियाँ होती हैं । कजलियों के बाद रामायण गान होने लगता

है।'[५] मकर-संक्रान्ति, वसंत पंचमी, शिवरात्रि, दशहरा, नाग-पंचमी, होली, दीपावली, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि कृषक समाज के महत्वपूर्ण दिन हैं । लोक-कथाएँ, लोकगीत, लोकनृत्य, कथावार्ता कीर्तन-पाठ आदि भी कृषक-जीवन की संस्कृति के मुख्य अंग हैं । कृषक समाज में प्रचलित लोक-गीतों का सम्बन्ध प्राय: किसी घटना या विशिष्ट अवसर से जुडा हुआ होता है । भारतीय कृषक का प्रधान व्यवसाय कृषि है । इसी कारण लोक नृत्यों की प्रेरणा इन्हीं से जुडी हुई है । होली, दीपावली, दशहरा आदि त्यौहारों के समय कृषक इनका आयोजन करते हैं । जिसके कारण कृषक की सामाजिकता तथा सामूहिकता की भावना भी बनी रहती है । स्वतंत्रता की प्राप्ति के बाद गाँवों में शिक्षा का प्रसार हुआ, जिससे ग्रामीण किसानों के वैचारिक एवं व्यावहारिक जीवन में परिवर्तन हुआ ।

कृषि सम्बन्धी साधनों में कृषक के लिए हल, दो बैल आदि का होना बहुत ही महत्वपूर्ण है । क्योंकि बिना हल-बैल की खेती नहीं हो सकती । वर्तमान किसान कृषि के लिए ट्रैक्टर, प्रोक्लैनर और अन्य यंत्रों का प्रयोग करने लगा । भारतीय ग्रामीण किसान को गाय तथा बैल के प्रति अधिक प्रेम रहता है । अशिक्षा तथा अज्ञानता के कारण कृषक की अन्धश्रद्धा तथा अन्य मान्यताओं में आस्था होती है। आस्तिकता के कारण वह किसी प्रकार की बीमारी आदि को ईश्वर की देन मानता है तथा उसे दूर करने के लिए देवी-देवताओं आदि की पूजा करता है, मनौतियाँ रखता है । भारतीय कृषक खेती के लिए अधिकतर वर्षा पर आधारित रहता है । वह कृषि सम्बन्धी किसी भी कार्य को प्रारम्भ करते समय भूमि पूजा करता है, हल-बैल को भी परम्परानुसार टीका लगाकर तथा श्रीफल फोडफर पूजा करता है । वह

ऐसा इसलिए करता है कि जिससे धरतीअच्छा धान्य दे । कृषकों की अपनी कुछ विशिष्ट प्रकार की आदतें होती हैं । कृषि-कार्य करते समय तम्बाकु चबाना, बीडी पीना तथा हुक्के को गुडगुडाना उनकी मुख्य आदतें हैं । भारतीय कृषकों में उदारता, नैतिकता, बंधुत्व और धर्म में आस्था आदि गुण देखने को मिलते हैं । भारतीय कृषकों में उदारता, नैतिकता, बंधुत्व और धर्म में आस्था आदि गुण देखने को मिलते है । भारतीय कृषक नीति पर विश्वास रखता है । वर्तमान किसानों में राजनीतिक चेतना विद्यमान है । आज कृषक भी अपने अधिकारों को जानते हैं तथा उनके प्रति जागरुक हैं । श्री ए.आर.देसाई का मत है कि 'वास्तव में ग्रामीण कृषकों के मध्य उत्पन्न राजनीतिक जागरुकता और उनके दिनोदिन बढते हुए राजनीतिक क्रिया-कलाप आज के मानवीय राजनीतीक जीवन के पहलू हैं ।'[६]

अन्तिम दशक के ग्राम चेतना प्रधान हिन्दी उपन्यासों में उपन्यासकारों ने किसानों की समस्याओं का चित्रण किया है ।

ऋणग्रस्त किसान : उपन्यासकार डॉ. विवेकीराय 'नमामि ग्रामम्' उपन्यास में ऋण ग्रस्त किसानों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं- मेरे बेटे साल प्रारम्भ होते ही ऋण लेने की योजना बनाने लगते हैं । गाँव के कुछ नमक चाटकर धनी बन जाने वाले लोगों की पाँचों अँगुलियों के लिए वह अनायास ही घी बन जाता है । लाइसेंसशुदा महाजन के अतिरिक्त अब तक बैंक और को-ऑपरेटीव सोसाइटियाँ भी ऋण देने लगी है। ऋण चक्र से मुक्ति किसान की नहीं । उससे सर्वस्वापहरण का यह कुचक्र निरन्तर चलता रहता है । अच्छे दिन आ रहे हैं, इस आशा में वह जीवन-सागर को हेलता, मचलता, एडी का पसीना चोटी करता चलता

है, किन्तु भाग्य के निष्ठुर हाथ उसे कभी वरदान या सहायता नहीं देते ।

ट्रैक्टर के आ जाने से हमारे यहाँ एक ओर ऐसे किसान हैं जो बैल नहीं रखते और भूसा बेचकर धन बढाते हैं तो दूसरी ओर ऐसे भी किसान हैं जिनका भूसा असाढ मास में समाप्त हो जाता है और सावन चढते-चढते अपनी उदरदरी भरने के लिए ऋण की खोज में निकल पडते हैं ।'[७]

'उसकी हँसी में फीकापन आ गया । दशा यहाँ तक गिरी कि होली-दीपावली पर भी मेरा बेटा खुलकर हँस नहीं पाया । भग्न घर, बरसाती घास की तरह बढता हुआ ऋण एवं ब्याज । ऋण की जगह 'लोन' शब्द ज्यादा चलने लगा । ट्रैक्टर का लोन, खाद-बीज का लोन, कोऑपरेटीव सोसाइटी का लोन, बैंक का लोन, सरकार का लोन । पैदावार की बढती के अनुपात में बढता हुआ परिवार । बढता खर्च, महँगाई की गठिन मार । मशीन के पुरजे, कपडे-तेल-साबुन और बरतन वगैरह के दाम को देखते अन्न तो सस्ते में जैसे लुट रहा है, तिस पर भी लडकियों की शादी वगैरह की व्यवस्था के बवंडर में उसका मन ऐसा उडा रहा है कि हँसने की फूरसत ही नहीं मिलती ।'[८]

उपर्युक्त उद्धरण से पता चलता है कि ऋण लेना किसानों के लिए आवश्यक हो गया है । आजकल ऋण बैंक्स, सहकारिता बैंक्स, लैसेंस्ड बैंक और गैर लैसेंस बैंक भी देने लगे । ऋण का अर्थ है 'लोन' वर्तमान ग्रामीण समाज में बैंकों से ऋण लेना एक फैशन बन गया है । जब किसान अकाल के कारण या फसल ठीक न होने के कारण जब ऋण न चुकाकर वह कष्टों के बवंडर में गिर जाता है, तब सहायता करनेवाले बैंक भी किसान को सताते हैं । ऋण वसुल करने के लिए वे किसान को

सताते हैं और अपमान करते हैं । घर के दरवाजे भी खींच ले जाते हैं । कोई इज्ज़तदार अपना सर्वस्व बेचकर ऋण चुकाता है । जब ऋण नहीं चुका सकता तब वह बेइज्ज़ती का या आत्महत्या का भागी बन जाता है । समकालीन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में इसका विस्तृत वर्णन किया । जैसे आँखों देखा । दर्द भरी ऋण की समस्या किसानों को दुर्भर बनाती है । यह एक जटिल समस्या है । ग्रामों के समस्याओं को सुधार करने वाले लोग सत्वर इस समस्या पर जोर देकर सुलझायें तो किसानों को सुविधा और सुख मिलेंगे ।

शोषित किसान : अन्तिम दशक के ग्रामीण हिन्दी उपन्यासों में उपन्यासकारों ने शोषित ग्रामीण किसान की दीन-स्थिति का चित्रण किया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'दुनिया का प्रमुख धन अन्न मेरा बेटा किसान उत्पन्न करता है, अत: यह दिन ही तरह स्पष्ट है दुनिया के प्रमुख धनकुबेरों में किसानों का नाम प्रथम होना चाहिए । पर ऐसा नहीं है । वे लूट लिए जाते हैं । उनकी सिधाई का नाजायज फायदा उठाकर कुछ पेशेवर तिकडमी जनों ने ऐसा जाल बिछाया कि वे फँसे ही जाते हैं । फिर एक बार फँसने पर तो छुटकारा मिलना कठिन ही है । किन्तु किसान सीधे जरूरतमंदों को बेंच नही पाता । यही उसका दुर्भाग्य है । व्यापारी हैं, सेठ हैं, ये किसानों का जीवन-रस मोल ले लेते हैं । फलत: समस्त रस उनके पेट में जाता है । मेरा बेटा सीटी मात्र का अधिकारी रह जाता है । वह संगठित होकर अपना अन्न रोक भी नही सकता । उसे बेसना अनिवार्य हो जाता है । बेचने के लिए व्यापारियों के पास जाना ही पडेगा । व्यापारी मनमाना लूटते हैं । अब धर्माधर्म और न्यायान्याय का कौन ध्यान रखता है?

जब तक अन्न के आदान-प्रदान द्वारा किसान का काम चलता था, सुखी था। आज बाजार में जाकर वह बुरी तरह लुट गया । शोषण का निर्मम शिकार बन गया । देवकुरी गए दु:ख दूना हो गया । सबसे बडा दुर्भाग्य यह है कि वह आज स्वावलम्बी नहीं रह गया । उसे जीवनयापन की अधिकांश वस्तुएँ क्रय करनी पडती हैं । खरिदने के लिए मुद्रा चाहिए । अब वह मुद्रा-चक्र व्यापारियों के जाल में उसे उठाकर फेंक देता है ।'[९]

'बडे-बडे शोषकों और किसानों के बीच मेरी बस्ती के बनिए एक छोटे शोषक के रूप में हैं । मेरे गाँव वालों का सीधा सम्पर्क इन्हीं से होता है । इन्हीं के माध्यम से वह अन्न मंडियों में भेजता है । मुनाफे का कुछ भाग इन्हें भी मिल जाता है । छोटे-छोटे सीदे के लिए इन्हीं की दुकान में किसान अपना अन्न लेकर जाता है । एक प्रकार से ये ग्रामीण जीवन के अवश्यक अंग हो गए हैं । इनके बिना उनका काम नहीं चल सकता । दुर्भाग्यवश ये बनिए किसानों की स्त्रियों और उनके बच्चों को एक तरफ से चोर बनाते हैं तो दूसरी तरफ उन्हें बाजार में ले जाकर बुरी तरह लुटवा देते हैं । यद्यपि ये स्वयं भी इसी लूटचक्र के शिकार होते हैं ।'[१०]

'अनुदान के साथ फार्म को सहकारी बैंकों से और सरकार से कर्जे भी मिलते थे- कई कर्जे बेकार की मदों पर थे । यह जानते हुए भी कि यहाँ ट्यूबवेल सफल नहीं होंगे, दो ट्यूबवेलों के लिए अनुदान के साथ कर्ज भी दिया गया । इनका भुगतान फार्म को अपने फंड से करना था । पर फार्म बराबर घाटे पर चल रहा था, अनुदान और कर्ज के रुपयों को छोडकर उसके फंड में कुछ था ही नहीं । तब कर्ज की अदायगी के लिए दुबे महाराज ने सदस्य किसानों के शोषण का नया तरीका

निकाला । उसने मजदूर की मजदूरी से कटौती करके एक ऋण अदायगी फंड बनाया और मजदूरी की कटौती का वह पैसा, जो उसकी अपनी जेब में न गया हो, इस फंड में डालना शुरू किया । पर कर्ज की अदायगी के लिए यह रकम बहुत कम थी, तब उसने रामलोटन जैसे उन सदस्यों को पकडा जिनके पास फार्म के बाहर निजी जोतें भी थीं । उसने उन्हें कर्जे की लम्बी रकमें सुनाकर कहा कि फार्म के कर्जे की देनदारी उनकी निजी जिम्मेदारी है जिसे मजदूरी में कटौती से ही पूरा नहीं किया जा सकता । अगर वे कर्जे की वसूली में जेल से बचना चाहते हो उन्हें अपनी फार्म से बाहर वाली जोत बेचनी या रेहन करती होगी । इस जाल बट्टे में उसने कुछ किसानों की जमीन खरीद ली, कुछ चकी रेहन रख ली । उन्हें उसकी कीमत नहीं दी गयी, कहा गया कि कीमत की रकम सरकार को कर्ज अदायगी में दे दी गयी है । किसान कुछ सोच सकें इसके पहले ही उनकी जोत उनके हाथ से निकल गयी थी । रेहन के नाम पर किसी कागज पर अँगुठा लगवाकर उसने रामलोटन की जमीन भी अपने कब्जे में कर ली । सरकारी कानून है कि किसान की जमीन को रेहन कब्जे के साथ नहीं हो सकता । पर यहाँ सरकार का कानून नहीं दुबे महाराज का कानून चलता है ।

'रामलोटन ने कुछ शोर मचाया था । उसने कहा कि कागज पर मेरा अँगुठा लिया, मेरा खेत भी ले लिया पर रेहन को रुपिया मुझे मिला ही नहीं । तब दुबे ने जवाब में उसे गाली दी कहा, 'तो क्या उस कोऑपरेटिव वाले कर्ज का भुगतान तुम्हारे बाप ने किया है? यह इसी रुपये से तो हुआ है ।'[११]

'प्रधानमंत्री नेहरू ने सहकारी खेती के कार्यक्रम का ऐलान बाद में किया था।

यह प्रयोग यहाँ पहले ही शुरू हो गया था । पर इसमें सैकडों बाधाएँ थीं । किसानों की राजनीतिक शिक्षा अधूरी थी, फार्म की जमीन जंजर और बीहड थी । उन्हें भूदान में जोत के रूप में पहले वह जमीन अलग-अलग दी गई । बाद में सहकारी फार्म बना । उन्हें कभी भरोसा नहीं हो पाया कि जमीन सचमुच उन्हीं की है । जिन जमींदार ने अपने किसानों के अँगुठे लगवाकर यह भूमि भूदान में दी थी, वही कई सालों से सहकारी फार्म के अध्यक्ष बने हुए हैं । इसके बाद कहने का क्या रह जाता है ?'

उन्होंने हाथ के इशारे से मंत्रीजी से बात जारी रखने के लिए कहा । वे कहते रहे, 'जमीन को खेती लायक बनाने के लिए असम्भव किस्म के साधनों की जरूरत थी, सबसे पहले पानी! बेतवा के किनारे यहाँ ट्यूबवेल कामयाब नहीं होते, कुओं का पानी तक पाताल तोड-गहराई में है । बँधी बनाकर मुश्किल से एक फसल ली जा सकती थी, वह भी तब जब कि बारिश अच्छी हुई हो ।'

'बहुत-से किसानों की छोटी-छोटी जोतें दूसरी जगहों पर थीं । वे वहीं ज्यादा महेनत करते थे । करना भी चाहिए था । यहाँ करना भी चाहते तो कितना करते और क्या करते ? फिर, सरकारी अनुदानों ने और मुसीबत बरपा कर दी । उसी के पीछे सहकारी सुपरवाइजर, इंस्पेक्टर, संस्था के सचिव, अध्यक्ष, जिले के कृषि अधिकारी न जाने कितने लोग फार्म पर गिद्दों की तरह टूट पडे । चोरी और गबन! पर मुकदमा किसी पर नहीं चला।'[१२]

'वे पुन:समझाने लगे, 'राजकाज में तेजी लाना अपने हाथ की बात नहीं । वे लोग अपने तरीके से करते हैं हर काम । नौकरशाह और राजनेताओं के हाथ का

खिलौना हो गया है हमारा जीवन । यहाँ प्रजातंत्र नहीं, शोषणतंत्र लागू है ।'

'हाँ, गाँव का जीता-जागता जीवन हमारे अपने हाथ में है । कच्ची मिट्टी की तरह मुलायम । इसे सँवारा जा सकता है । बार-बार गढा जा सकता है । अनुपम रूप दिया जा सकता है अपने अनुरूप ढाला जा सकता है ।'

मन्दाकिनी के भीतर भरा मलाल गले तक आ गया । विकल होकर कहने लगी, 'कैसे जिये महाराज ? किसे सँवारें ? किसे गढें? दरार पडी अकाल की मिट्टी को नहीं गढा जा सकता । नहीं सँवारा जा सकता । हमारी तरह क्रैशरों की हदबन्दी में आये किसान लोग अब मजदूर भी नहीं रहे । कंगाल और मुँह देखते हुए बैठे हैं । हमें मोह नहीं था जर-जमीन का, लेकिन अन्याय नहीं सहा जाता । कोई हमें कौडियों में ठग ले जाय, यह नहीं देखा जाता । बाहरी आदमी हमारी जमीन से पैसा खोद रहा है । हमारे पहाड की चट्टानों से धन काट रहा है और मूल लोग मजदूरी को भी तरस रहे हैं ।

'स्थानीय मजदूर रखते नहीं ये लोग । डरते हैं, संगठन न बना लें । एक मिट्टी से जन्मे लोग एक होकर उनके विरुद्ध ही जेहाद न छेड दें। बस, यही एहतियात बरतते हुए ठेकेदारों ने भूखों के मुख की रोटी छीन ली ।'[१३]

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार डॉ. विवेकीराय, श्रीलाल शुक्ल, मैत्रेयी पुष्पा के उपर्युक्त ४,५ उद्धरणों से जान पडता है कि किसान शोषित होता रहा है। उपन्यासकारों का उद्देश्य इसी वातावरण का वर्णन करके छोड देना नहीं है । वरन् स्वावलम्बी होने की ओर इशारा है । किसानों को अपने पाँव पर खडे रहने का धीरज देना है । ग्रामीण वातावरण का और शोषित किसानों की समस्या का विस्तृत

वर्णन करनेवाले उपन्यासकारों का उद्देश्य उनके जीवन को सुधारने का है । गाँव में शोषण अनेक प्रकार का होता है । अनाज बेच लेते समय किसानों का शोषण होता है । फसल काटने के बाद, अनाज बेच लेते समय बाजार में अनाज का मूल्य गिर जाता है । इसका कारण शोषण ही है । सारा अनाज किसान के हाथ से सेठों के कोठे में जब चला जाता है तब अनाज का दाम बढ जाता है । अनाज तौलते समय भी गोलमाल करते हैं । अनाज का मूल्य चुकाते समय भी नाना प्रकार के कमीशन सामने आते हैं । सेठ-साहूकार किसान के पैसे काट लेते हैं । सेठ-साहूकार, ठेकेदार किसान की असहायता को लेकर उन्हें लूटते हैं । ग्रामीण समाज में किसानों का शोषण पग-पग पर होता है । इसी का वर्णन अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण उपन्यासों में किया गया है ।

आलसी किशान : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार डॉ. विवेकीराय ने 'नमामा ग्रामम्' उपन्यास के ग्रामीण किसानों में बढता आल्य का चित्रण किया है । आलस्य गाँवों में बढने के अनेक कारण हैं । खेती-बाडी का काम लगभग ३ महिने में पूर्ण होता है । खेती बोने के बाद फिर खेत काटने तक किसान निकम्मा बना रहता है । दूसरा काम करने के लिए उसके पास रुपये नहीं रहते हैं । गाँव में कारखाना नहीं रहता है और उनके लिए काम भी नहीं रहता है । गाँव में कुछ किसान एक जगह इकट्ठा होकर गप-शप उडाते हैं । आपस में लडते हैं । इस प्रकार गाँव में आलस्य बढता है । नेहरूजी के अनुसार 'आराम हराम है ।' अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकारों का उद्देश्य वर्तमान किसानों में फैलने के आलस्य को दूर करके उन्हें जागृत बनाना है । जागृत किसान अपनी शक्ति का सदुपयोग कर सकता

है । दूसरा काम काज कर सकता है । वह देश के लिए लाभदायक हो जाता है । राष्ट्रीय आय भी इस प्रकार ज्यादा से ज्यादा बढा सकते हैं । अगर किसान जागृत हो जाता है तो उन्हें साक्षर बना सकते हैं । साक्षर होने के बाद उनके जीवन को और भी पुरोगामी बना सकते हैं । इनके उपपतिकरण के लिए निम्न उद्धरण प्रस्तुत है-

'अपनी छोटी दुनिया में, किसान अपनी सीमित विलासिता की भावना से प्रेरित होकर अपव्यय करता है । यह अपव्यय अधिकांश में अपने अवकाश के क्षणों का समुचित उपयोग न करने के कारण होता है । अपनी चारपाई के लिए किसान सुन्दर-से-सुन्दर रस्सी तैयार कर सकता है। वह मजबूत के साथ सुखप्रद भी होती। पर इसके लिए वह सीधे बाजार की ओर दौडता है । गृहस्थी के सामान, खेती की आवश्यक वस्तुएँ तथा दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाली वस्तुओ के लिए वह बाजार ही की शरण लेता है । यहाँ तक कि यदि बिकें तो किसान अपनी लाठी भी अब खरीदेगा ही । या ऐसा मानें कि वह उन्हें खरीदने लगा है । शहरों में लाठियाँ भी बिक रही हैं । दातुन बिकती है । आश्चर्य क्या कि सुविधा की दृष्टि से शहर से लौटता मेरा कोई बेटा खरीदता आए । फिर, अब तो वह भी मंजन, पेस्ट, ब्रश पर उतरने लगा है । वह खाने-पीने का तम्बाकु शहर से खरीदता है । आसानी होती है । कौन घर पर बनाने का कष्ट करे ? कुछ रुपए खर्च कर देने से चीजें आसानी से मिल ही जाती हैं । बेशक पैसा काफी सस्ता हो गया है । जीना जरूर महँगा हो गया है ।'[१४]

आधुनिक किसान : ग्रामीण उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास में

आधुनिक शिक्षित किसान के विचारों का सजीव चित्रण किया गया है । निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है-

'चाक' उपन्यास का पात्र रंजीत किसान सम्मेलन में कहता है-

'सर! जो कुछ पढा है, उसके आधार पर मुझे कृषि वैज्ञानिक मान सकते हैं आप, और जो कुछ किया है, उसके चलते किसान ।

वैसे हमारे गाँव के लिए यह धिक्कार की बात है कि सोलह दर्जा पढा लडका हल जोते, खेत सींचे, खलिहान उठाए ।... लेकिन मैं इसी बात को आदर्श मानता हूँ अपना ।'

'मेरे दोस्तो! पढकर मुझे रासायणिक खाद और उन्नत बीजों की किस्मों के बारे में पता चला, नई-नई तकनीकों की जानकारी मिली । बंजर धरती का कटाव रोककर, उसमें अनुकूल खाद-खुदाई करके अपनाऊ बनाने के नुस्खे हासिल हुए ।'

'दूसरी ओर अनुभव ने यह ज्ञान दिया कि कीटनाशकों के दुष्प्रभाव को देखा जाय तो एक डरावनी तस्वीर हमारे सामने होगी । एल्डरीन बडी खतरनाक चीज है। खुन का कैंसर इसी का फल है, यह तो मैं साबित नहीं कर सकता, लेकिन इतना कह सकता हूँ कि किसानों का स्वास्थ्य खराब करने में इसका बहुत बडा हाथ है। बी.एच.सी. और डी.डी.टी. भी जहरीली चीज हैं । हमारे पशुओं में कैंसर की रसौली जैसी बीमारी इसी का फल है, मुझे ऐसा लगता है । इसे बन्द करके देखा है मैंने। डी.डी.टी. तो शरीर के अन्दर जमता जाता है, यह ध्रुव सत्य है । खर-पतवार खत्म करने की दवा केंचुओं, गिजाई और बीरबहूटियों का नाश कर देती है । ये कीडे धरती के दोस्त हैं । पक्षी भी मर जाते हैं कीटनाशक दवाओं के असर से । किसान

इन्हें प्राकृतिक-स्त्रोंतों की हत्या मानता है ।... मगर वही अनपढ किसान, दुर्भाग्य का मारा, आज तक सूदखोरो के चंगुल से नहीं निकल पाया ।

'हालाँकि पुराने किसानों के पास अनुभव की सम्पदा है । वे बादलों की जाति-प्रजाति देखकर ही बता देंगे कि बरसने वाली घटा कौन-सी है- करिया बादर जी डरवावे, भूरा बादर पानी लावे! मिट्टी सूँघ कर घोषणा कर देंगे कि इसमें गेहूँ बोना ठीक रहेगा या चना ? मिक मिट्टी अभी बीज पचाने लायक बनी भी है या नहीं ? उन बूढों को आप क्या कहेंगे? वैज्ञानिक!

...मगर यंत्र-उपकरणों ने किसान की हाड-तोड मेहनत और समय की बचत की है। जो लोग पूरी तरह उन यंत्रों का इस्तेमाल करते हैं, उनके लिए खेती साल भर की नहीं, महज तीन दिन की है- ट्रैक्टर, थ्रेशर, कल्टीवेटर, साइकिल !'

'उख्टा रोग, चेंपा, इल्ली-गिडार, टिड्डी आदि फलनाशक चीजें हमारे देशी साधनों से काबू नहीं आतीं तो किताबों में उन पर काबू पाने के कारगर साधन दिए हैं । वैज्ञानिकों ने खोजें की हैं । उख्टा रोग का उपचार फसल चक्र । अर्थात् बदल-बदलकर फसल उगाना । एक ही अनाज की किस्म बोते रहने से हरी-भरी फसल को सूखने का रोग लग जाता है । अत: गेहूँ के बाद चना, चना के बाद मटर, मटर के बाद... उसके उपचार है।'

'और मोहसीन काढने से ग्रामवधुएँ इन्द्र- भगवान से मेह बरसवा लेती हैं । आप कहेंगे अन्धविश्वास ! लेकिन विश्वास फलने लगे तब ?'

'असल में अनुभव और ज्ञान-विज्ञान के जरिए नए किसान का जन्म होगा, धरती को नया जीवन मिलेगा । अब पता नहीं कि ये विचार कैसे लगे आप लोगों को ?'[१५]

२. ग्रामीण मजदूर चेतना :

पूँजीवाद ने मजदूर वर्ग को जन्म दिया । समाजवादी चेतना ने मजदूरों की दरिद्रता के प्रश्न को मालिकों के द्वारा शोषण के प्रश्न के साथ जोडकर उन्हें संगठित होने और अपने अधिकारों के लिए उठ खडे होने के लिए उठोरित किया।

शोषित मजदूर : 'नमामि ग्रामम्' और 'इदन्नमम' आदि अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने शोषित ग्रामीण मजदूरों का चित्रण किया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'हमारे भीतर का वह वर्ग, जो न खेतिहर है और न व्यापार ही करता है, यह इन दोनों की ईर्ष्या की दृष्टि से देखता है । कारण यह है कि उसे मजदूरी के लिए किसान के पास आना पडता है और सोदे के लिए बनिए के पास । उसे ऐसा भान होता है कि किसान और बनिया दोनों चैन की बंशी बजा रहें हैं । हम सारे दिन हाय-हाय करते हैं । तब भी पेट भी आग बनी रहती है । किसान बैठे-बैठे हुकुम चलाता है अथवा थोडा हाथ-पैर हिला देता है और ये बनिए बैठे-बैठे माल मारते रहते हैं । इस प्रकार प्रत्येक अपने जीवन से सन्तुष्ट नहीं है और दूसरों से ईर्ष्या करते हैं । प्रत्येक की दृष्टि में दूसरा सुखी और दु:ख का भोग केवल उन्हीं के मत्थे पडा है ।'[१६]

'मेहनत मजदूरी छोडो, खाना-पीना भूलो, पर इतेक भारी अतियाचार!

हमारी जनी-मानसें बेंची जाने लगी हैं अब । जिन्दे आदमियन का व्यापार करने लगे हैं अभिलाख!

पिछले डेढ साल से होंश सिये बैठे हैं हम, पर दिन-दिन बढता ही जा रहा

है यह कुव्यापार । मालिक की अगाई कैसे करे हम? कैसे रोके-बरजें उनको ?

अचम्भा लगता होगा तुम्हें । जरूर लगता होगा, तभी तो तुम चौंक परीं। पर ये सोह अपना साँची बाते हैं बेटा! हम भोग रहे हैं सो कह रहे हैं ।

किसनुआ बैमार गिर गया। जनी ने रात-दिन मेहनत करी । आदमी बिरोबर काम उठाया । क्या जाने क्या ओरिआयी मालिक को, सो बोले, तुम्हारा काम दूसरी जगह लगा आते हैं, वहाँ मजूरी का रेट जास्ती है । औरत को भी आदमी के बिरोबर मिलती है दिहाडी। अपने बच्चा पाल लोगी । आदमी की दवा-दारू करा लोगी ।'

'गोपालपुरा के पहाड पर लगा राउत कहता है कि अभिलाख सिंह उज्जैन में बेंच आये थे बाय । पैंतीस सौ रुपइया में !

कौन सहना चाहता है बिटिया, यह कहो कि सहना परता है । हम कितेकऊ होसियार हो जायँ, इनकी चालाकी से पार नहीं पा सकते । इनकी बातों का असल सत नहीं निचोर सकते ।

अफसर की अगाई और घोडा की पिछाई कहाँ नों करे आदमी ? आगई काटी थी हमने, एक तो काटी थी, जब जंगलों से खदेरे गये थे । अपने पेड-रूखों से जुदा कर दिया था हमें । जडों से काटकर फेंके तो मुरझाते हुए भी तीर, लाठी, बल्लम लैके जुझ परे थे हम । हार नहीं मानी थी किसी तटियाँ । पर अन्त में क्या बना ? क्या मिला ? पुलिस ने मार-मारकर घुटने फोर दिये । भेजा चटनी बना दिया, बंदूकों की बट से धि-धिसकर । जो बचे थे, वे ठूँस दिये जेहल में । हमारी पैरोकारी किसी ने नहीं की । किसी ने नहीं गिने के कितने भर गये । कोई नहीं

आया मदत-सहायता के लानें ।

सालों मे सिरकारी हुकुम आया कि वन के बागी, बंदी छोडे जा रहे हैं, उनके नातेदार ले जावें आकें ।

जो मिले बिटिया, वे मरे में न जिन्दों में । क्या-क्या तो बैमारी व्याप गयी ! पेट सूज गये, जोर टूट गये, पेसाब की राह खून गिरे । निगवे चलवे से लाचार! एक मन तो आया कि नरमदा, बेतवा मइया के हवाले कर दें उन उधजिन्दी लहासों को...।

न विसवात हो तो देखि आओ, कछू अबै भी बेतवा के किनारे डरे हैं, कछू नरमदा मइया के चरनों में कुढिया आदमियों के तरह डरे हैं ।'[१७]

'अवधा, तुम लोग अपने ललितपुर, सागर, गुना के गाँवों में लौट क्यों नहीं जाते? क्यों खानाबदोस की तरह बेघर हुए घूमते हो ? यहाँ भी तो कुछ करते ही होंगे ।'

'करते थे । ऐन काम करते थे । लकडी काटने का काम था हमारा । जंगल सिरकारी हो गये तब तक भी करते रहे । टेकेदारों के यहाँ मजूरी करी हमने । पेड काटने की मजूरी।'

एकाएक अवधा की आवाज कमजोर पड गयी, 'पर, काहे की मजूरी जिज्ञी! चोरी कहो, भडियायी । ठेकेदार हमसे भडियायी ही करवाते थे । ठेका तो लें पचीस पेडो का और कटावें हमसे पचास पेड । जो पकरे जायँ तो हम जेहल में । जमानत करवाने तक न जावें ठेकेदार । जे और कह दें, हम नहीं जानते इन्हें, छिपकें काट रहे होंगे ।

'जिज्ञी, बाल-बच्चा भूखे मरते रहें । कोई पुछउआ नहीं फिर । पूछे तो जनी-मानसों को, उन्हें बुलावें रात-बिरात । अब बताओ, कैसे काटते जिन्दगानी ?'

'ठेकेदार-व्यापारियों की तो यही चल्ला है कि नफा हो तो खुद घरो, नुकसान हो तो मजूर के सिर । निठोर यह भी नहीं कहते कि सैकडों-हजारो कमाये हैं, तुम दो रुपइया जास्ती हो लै लो ।'

वह बुत की तरह खडी रही । अवधा का बुलउआ फिर आ गया । और वह घर की ओर चल दी ।

उपर्युक्त उद्धरणों से पता चलता है कि ठेकेदार, महाजन एवं किसान मजदूरों को लूटते हैं । एक उद्धरण में उपन्यासकार ठेकेदार के बारे में बताते हैं कि वह वृक्ष कटवाता है । ठेकेदार मजदूरों द्वारा एक-एक दिन पचास-पचास वृक्ष कटवाता है । पकडे गए तो सारा नुकसान मजदूरों का होता है । महाजन भी इसी प्रकार मजदूरों को लूटते हैं । ग्रामीण उपन्यासकार बताते हैं कि किसान भी किसान मजदूरों को लूटता है । मजदूर एवं किसान में अन्तर यह है कि किसान का महेनत केवल किसान का ही होता है लेकिन मजदूर की मेहनत मजदूर की नहीं रहती । इस प्रकार अनेक ग्रामीण उपन्यासों में मजदूरी-चिन्तन प्रस्तुत किया गया है ।

➢ ग्रामीण शिक्षा क्षेत्र की उपलब्धियाँ :

शिक्षा मानव जीवन का आवश्यक अंग है । वह मानव को पूर्णता प्रदान कर उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करती है । आधुनिक सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों (आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक एवं सांस्कृतिक) में शिक्षा की आवश्यकता सर्वसम्मति से मान्य है । गाँव में शिक्षा का अत्यधिक महत्व हैं, क्योंकि गाँव की

विभिन्न समस्याओं के मूल में शिक्षा का अभाव प्रमुख कारक रहा है परन्तु अभी भी अशिक्षा और अज्ञानता का राज्य गाँवों में है । शिक्षा वह प्रक्रिया है जो सांस्कृतिक विरासत को एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरिक करती है और ज्ञान को समाज के सदस्यों में प्रसारित करती है । अत: ग्रामीण की स्थिरता नवीन वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार, ग्रामीण पुननिर्माण एवं स्वावलम्बी ग्राम के विकास हेतु शिक्षा का प्रसार आवश्यक है ।

शिक्षा क्षेत्र में ग्रामीण शिक्षक, ग्रामीण छात्र, ग्रामीण स्त्री शिक्षा, ग्रामीण विद्यालय आदि-आदि अंगों का विचार किया गया है ।

ग्रामीण शिक्षक : अध्यापक शिक्षा का मूलाधार है । प्राचीन विचारधारा के अनुसार वह ब्रह्मा है, देव है और महेश्वर है । वह अपने ज्ञान के प्रकाश में सैकडों ज्योतियॉ को प्रकाशित कर अज्ञानांधकार को दूर करता है । वर्तमान जीवन में वह सामाजीक प्रतिष्ठा के अभाव एवं निस्साहयता से बुरी तरह संत्रस्त है । अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने ग्रामीण शिक्षकों में घटते मूल्यों का चित्रण किया । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं-

'पिछले दो दिनों में उन्होंने जो देखा था वह सिर्फ खिझाने वाला था । सबसे पहले यहाँ की जबान! हायर सैकेंडरी स्कूल के अध्यापक या अल्लाह! आज के अध्यापक अब ऐसे हो गये हैं । वे आपस में और छात्रों से भी गँवारू जबान बोलते हैं! छात्र उनसे भी ज्यादा गँवार! और छात्राएँ-शहर की छात्राओं की नकल करने में मशगूल ।'[१८]

'जगिया गाँव की पिछडी जाति के लोगों के बीच का पहला युवक है, जो

कॉलेज में पढता है । उसके वर्ग और उसकी बिरादरी के शेष युवक प्राथमिक स्कुल में दो-तीन क्लास पढने के बाद ही गाँव के बाबू लोगों के यहाँ बनिहार और चरवाह बन गए । दरअसल, प्राथमिक स्कूल के गुरुजी पिछडी जाति के लडकों को स्कूल में पढने आया देख जल-भुन जाते थे । कहते थे, 'अरे, सरला, टेंगरिया, परेहुआ, तुम सब पढ-लिख जाओगे तो फिर बनिहारी-चरवाही कौन करेगा ? तुम सर्वो का तो जन्म बडों की सेवा के लिए ही हुआ है, स्कूल में आकर तुम सब क्यों अपना धरम बिगाड रहे हो ?'

लेकिन जगिया गुरुजी की बात को अनसुनी कर पढता गया । जब कभी अपने को बहुत अपमानित महसूस कर पढाई छोड देने की बात वह सोचता तो उसके पिता भिखारी दुलार-प्यार से उसे समझा-बुझा पुन: पढाई में लगा देते ।'[१९]

'कम उमर हो मास्टरजी, सो कम तजुरबा है । मास्टर के हाथ में कुबेर का खजाना नहीं होता, सृष्टि का खजाना होता है । जिसके बालक की चुटिया हमारे हाथ में हो, फिर क्या दुर्लभ, क्या कठिन ? मैंने एक बात सोची है- अब की बार छमाही इम्तहान में आधे से ज्यादा बालक फेल कर दो, सालाना में दूसरे आधे...।'

'हमारा क्या होगा हैडमास्टरजी? जूते पडेंगे । गाँव के आदमी इतने अंधे नहीं कि अपने बच्चों की योग्यता न जानें । अनपढों की बात नहीं करता, पर आजकल इतने पढे तो हर गाँव में मिल जाएँगे कि प्राइमरी के बच्चे की थाह ले लें । जो बच्चे पढने में कमजोर हैं, उनको छमाही तक सँभाला जा सकता है ।'

'तुम तुमसे बात करना बेकार रहा । भय बिन प्रीत न होत गुसाई- सुना है? तुम साज-सँभाल मत करो । सीधे फेल करने का टारगेट बनाओ ।'

'सो क्यों?'

'सो यों कि महतारी-बाप भागे-भागे आएँगे तुम्हारे पास और ट्युशन के लिए गिडगिडाएँगे । यह कोई इण्टर कालेज नहीं कि हर बच्चा ट्युशन की नसैनी चढे बिना अगली कक्षा में पढ जाता है । यहाँ तो हमें ही युक्ति सोचनी पडेगी । सो सोच ली तरकीब । मनमाने पैसे माँग लेना । थोडा नामालून सा कमीशन मेरा, मैं तो साफ बात कहता हूँ।'

श्रीधर ऐसे देखते रह गए, ज्यों सोच रहे हों कि उनके सामने थानसिंह मास्टर नहीं, कोई संत बैठा है, जिसकी वाणी में मधुरता है और माथे में बुद्धि । बातें कपटरहित...।

ऐसे क्या देख रहे हो ? देखो, हमारी दिन की पगार में हीला नहीं, रात के समय के चार पैसा पैदा करने हैं । समय जाया करने से कोई तमगे तो मिल नहीं जाएँगे । और फिर इसमें हर्ज की क्या है ?'

श्रीधर असमंजस में बैठे थे- चाहकर भी ऐसा किया जा सकता है ? थानसिंह मास्टर की बातों ने तो दिमागी उलझन बढा दी ।

'श्रीधर, इतनी बुद्धि न रखें तो हमारे गाँव का बनिया ही हमारी मास्टरी की तनख्वाह को ब्याज में घोलकर पी जाए ।'[२०]

'हुकम सिंह ने पाँव इस तरह आगे बढाए ज्यों गद्देदार पंजे रखती हुई दिल्ली बढ रही हो कदम-दर-कदम ।

बेआवाज चाल की धमक से परेशान हैं श्रीधर। उनके कान बेहद सतर्क, सचेत रहने लगे हैं आजकल । हुकमा सेंघ लगाने आ रहा है ? लम्बे-लम्बे सुनसान

डग मास्टर के पीठे पीछे की खामोशी रौंद रहे हैं । रजिस्टर निकाल लिया हुकमा ने ।

सारा लाज-लिहाज चिथडे कर डाला श्रीधर ने । आवेश में भूल गए कि हुकमा प्रधानजी का कुलदीपक है । झपटकर रजिस्टर छीन लिया । शैतान सवार है, मास्टर पर, तू यह चोरी! किसलिए करता है? क्योंऽऽऽ?'

लडका हडबडा नहीं गया, काँप गया । धिग्धी बँध गई ।

'मैं रोज सोचता था- आज कहूँ? आज कहूँ कडाई के साथ ।... लेकिन तुम पढे-लिखे हो हुकम सिंह, लियाकत बरतते हो व्यवहार में, इसलिए... मैंने इशारा किया था, पर तुम समझना नहीं चाहते या जानबूझकर...? थानसिंह गैरहाजिर रहते हैं तो उनकी हाजिरी भरने की तुक ?'

हुकमा शरीफों की तरह सिर झुकाकर खडा हो गया ।

'कितने रुपए लेते हो ?'

'तीन सौ' यह कहकर हुकमसिंह ने रजिस्टर फिर झपट लिया । और इसी छीना-झपटी में श्रीधर और हुकमा गूँथ पडे । स्कुल के बच्चे इधर-उधर भागने लगे।

'सालों, बेईमानी करते हो ! रिपोर्ट करूँगा में । भले अलीगढ से लखनऊ तक... एक-एक का पर्दाफाश करूँगा । इस थानसिंह को मुअतिल न कराया तो...।'

राकेश ने भाई का पक्ष नहीं लिया । श्याम सुन्दर और हरि ओम जैसे बडे-बडे लडकों की मदद से बीच-बचाव हुआ । श्रीधर मास्टर खुद भी हट गए एक ओर। रजिस्टर उनके हाथ में था ।

'तो तुम, प्रधान के बेटे होने की वजह से इस चोरी में शामिल हो । चोरी

और सीना जोरी का हक तुम्हें हासिल है । तुम्हारे पिताजी को तीन सौ रुपए महीने की जरूरत है? मेरे ख्याल में नहीं । तो फिर वे तुम्हारी सज्जनता को जलील कराने पर क्यों तुले हैं ? तुम्हारी एवजी पर थानसिंह मास्टरजी जो हजार फोकट के अपनी जेब में घर लेते हैं- हर महीने । माँ मर गई तो ईमानदारी से रहने का हक भी छीन लिया तुम्हारे पिता ने ? नौकरी नहीं लगी तो उठाईगीरी पर उतार दिया ?'

हुकमसिंह की आँखों में यकायक तरल कतरे छलछला आए और फूट-फूटकर रोने लगा, जैसे उपेक्षा अवमानना का सोता खुल पडा हो आँसुओं की धारों में ।

गाँव में होहल्ला हो गया- मास्टर और हुकमा में मार-पीट हो गई ।

थानसिंह अपने भाइयों के साथ दनदनाता आया, 'साले की मश्कें बँधवा दूँगा। समझता क्या है ? हमारी बिल्ली, हम से ही म्याऊँ ! कुम्हारटा की हिम्मत तो देखो, हुकमा पर हाथ छोड गया!'

प्रधानजी के संग रंजीत भी आ गए स्कूल में । श्रीधर को एक ओर ले जाकर बोले, 'क्या जरूरत थी तुम्हें ? अपने काम से काम रखो । भाड में जाए साली हैडमास्टरी । गाँव के लोग तो सोचते नहीं, आप सोंचते हो ।'

थानसिंह जबडे खोलकर दनदनाना चाहता था, मगर उसका भाई भूरा आगे-आगे बोलने लगा, 'ला रे राकेसा, ला रजिस्टर । हम करते हैं दस्तकत । रोके साला हमें कोई।'[२१]

'...मगर अब की बार... अब की बार नहीं चूके कैलास मामा ।'

पकड अधिक मजबूत । संसी से भी कठोर गुंजलक ।

वह मछली-सी छटपटाने लगी ।

अवस टाँगे, बेदस हाथ उठाये न उठे !

बीमार देह प्रतिरोध करते-करते निरस्त हो गयी ।

...और पूरा का पूरा मरदाना शरीर मन्दाकिनी के ऊपर उलट पडा । वह चीख उठी, जैसे दीवार ढही है । आसमान टूटा है । दब गयी मन्दा । देह पिसकर चूरन हुई जा रही है...

'छोडो! छोडो!... मामा... छोड दो!' किसी तरह आवाज कौंधी ।

स्वर को कठोर हथेलियों ने मजबूती से पूरी तरह भींच डाला । कच्चा देह पर परिपक्व मजबूत शरीर कस गया ।

मुख गरम साँसो से जलने लगा । मूँछो के बाल नागफनी के काँटों की तरह होंठ और गालों को छीलने लगे ।

साँस घुटने लगी । प्राण जाने लगे ।

...कि सहसा, अचानक कई जुगनू चमक उठे एक साथ!

कुसुमा ने टार्च की रोशनी तेज कर दी ।

'मन्दा, बिन्नू, ढिबरी नीं जराई ? इँधेरा ही इँधेरा! और जे...?

'को है रे तें? मोंडी की खटिया पर...' भाभी ने टार्च का चँदोबा पुरुष के ऊपर लगा दिया ।

'ओ तेरी नास हो जाए । ठठरी बँधे तुम्हारी! हुलकी परै तुम पै...। मोरी मतारी, जे कैलसवा ! कैलास मास्टर! अब तोय नहीं छोडेंगे हम ।'

अपने बचाव के लिए जो लाठी भिंड को लेकर गयी थी, कैलाश पर दे मारी। मारती गयी, मारती ही गयी ।

कपडे ठीक करके भागता तब तक तो पाँवों की हड्डियाँ तोड डालीं ।

'कीरा परें तुम्हारे । मन्दा मामा कहकें टेरती है, सो भी नहीं ख्याल किया ? फिर काहे को बहन-भानिज मानने का स्वाँग भरते हो ? राच्छत! कुकरमी! अधरमी!'[२२]

ग्रामीण छात्र : छात्र आगे चलकर देश का नागरिक एवं भाग्य विधाता बन जाता है । विद्यालय उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहयोग देने वाली प्रमुख संस्था है । आज गाँव के छात्र गाँव में व्याप्त निर्धनता के शिकार हैं । अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण उपन्यासों में छात्रों के घटते मूल्यों का चित्रण किया गया है । वर्तमान छात्रों में अनुशासनहीनता परिलक्षित होती है । अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार डॉ. विवेकी राय अपने 'नमामि ग्रामम्' उपन्यास में समकालीन ग्रामीण छात्रों में पतन होते मूल्यों को दर्शाया है । उपन्यासकार डॉ. विवेकी राय का विचार है कि आज के अनेक ग्रामीण छात्र अध्यापकों का सम्मान नहीं करते । वे धूम्रपान करते हैं । अध्यापकों और माता-पिता की आलोचना करने में समय लगाते हैं । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'आज मेरी बस्ती का छात्र जल्दी ही बीडी-सिगरेट पीने, चट्ठी पर बैठने, दल बनाकर लडाई-झगडा करने, गाँव के बडे लोगों की, माता-पिता की भी आलोचना करने, झगडा लगाने, दिन-भर बवंडर की तरह घूमने, असमय में ही कुटेवों एवं अप्राकृतिक दुर्विहारों से शक्ति-स्फूर्ति से हाथ धोकर उदासी और रोग मोल लेने,

फैशन की फाँस में बुरी तरह फँसकर बाप-दादा की गाढी कमाई फूँकने, स्कूल में राजनीति कर घर का आटा गीला करने, स्कूल को टाट या बेंच, डेस्क खराब करने के साथ अपना अमूल्य समय बरबाद करने, अध्यापकों को परेशान करने और गाँव की राजनीति में भाग लेने की अनायास शिक्षा प्राप्त कर लेता है ।

स्कूलों की संख्या बढी और पैंट-बुशर्ट में नर-वानर झुंड-के-झुंड स्कूलों की ओर जाते दिखाई पडे । शहरी पहनावे में लडकियाँ घरों से निकलीं । इन्हें देखकर आशा का सिर ऊँचा हो जाता है; परन्तु परखने के बाद पुन: झुक जाता है । शिक्षा के नाम पर ये केवल स्कूल में जाते हैं । उन्नति और प्रगति के नाम पर उनकी ऊँचाई और आयु बढ जाती है । ऐसे पढने वाले निकलेंगे जिन्हें घडी देखने, मनीआर्डर करने तथा शुद्ध सरल हिन्दी में घर की चिट्ठी-पत्री भी लिखना नहीं आता । स्कूल में फेल-पास की खाई पार करने के बाद इनसे पुस्कों का साथ छुट जाता है । सारा जीवन जगत गति एवं युगगति से अपरिचित मिट्टी के ढेले की भाँति बीत गया ।'[२३]

ग्रामीण विद्यालय : विद्यालय एक सामाजिक संस्था है । समाज की आवश्यकताओं को पुरा करने के लिए उसकी स्थापना तथा संचालन किया जाता है । छात्रों के सर्वांगीण विकास में विद्यालय का योगदान महत्वपूर्ण है । अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यास 'युद्धस्थल', 'यह अन्त नहीं' और 'भीम अकेला' में ग्रामीण उपन्यासकारों ने ग्रामीण स्कूलों की दुस्थिति का चित्रण किया । वर्तमान गाँवों के अनेक स्कूल आज दुरवस्था में हैं । इसका प्रमाण उपन्यासों के निम्न उद्धरणों के निम्न उद्धरणों द्वारा दृष्टिगोचर होता है-

'गाँव से बाहर बच्चों के पढने के लिए पाठशाला का निर्माण किया गया है । पाठशाला में सिर्फ दो कमरे हैं और एक बरामदा । उसकी हालत ऐसी है कि एक कमरे में तो गुरुजी ने अपने मवेशियों का भूसा रखा दिया है और दूसरे कमरे को तो कमरा कहना कमरों का उपहास उडाना होता है । उसका छप्पर उजड चुका है, दीवारें नूनी लगने की बजह से झड रही हैं तथा खिडकियाँ और दरवाजे कभी के गायब हो चुके हैं । बच्चे या तो इसी कमरे में बैठकर पढते हैं या बरामदे में । लेकिन थोडी-सी धूप बढ जाने और हल्की-सी आँधी-पानी आ जाने पर भी गुरुजी को पाठशाला बन्द करने का बहाना मिल जाता है ।'[२४]

'चुनिया ने सुना था कि रघुनाथपुर का वह स्कूल उस इलाके का पहला पक्का स्कूल था । इलाके के अन्य स्कूल मिट्टी की दीवारों और खपरैल छत वाले ही थे । लेकिन वह पा रही थी कि कभी का यह पक्का स्कूल अब कच्चे स्कूलों से भी खराब स्थिति में आ गया था । कमरों के पलास्तर झड गए थे और ईटें उखड आई थीं । स्कूल के तीनों कमरों के दरवाजे नदारत थे, शायद गाँव वाले कबार कर ले भागे थे । मास्टर और बच्चों के आने पर ही यह स्कुल, स्कुल लगता था, नहीं तो खंडहर जान पडता था ।'[२५]

'मैंने उठकर स्कूल भवन की परिक्रमा की । भवन में दो कमरे थे, एक गली थी । ये खंडहर ऐसी कोई चीज नहीं बता रहे थे कि कभी इमारत बुलन्द थी । इस देश के लाखों इन्सानों की तरह जिन पर कभी यौवन चढता ही नहीं, इस भवन ने भी अपने जोश भरे दिन शायद कभी नहीं देखे । स्कूल की छत को आँधी उडा ले गई । फिर उसकी दीवारों का टूटना शुरू हुआ । पानी, वर्षा, धूप ने उन्हें खंडित

किया । एक भी कमरा ऐसा नहीं था जिसके अन्दर कुछ भी सुरक्षित रखा जा सके। छतविहीन भवन की दीवारें अलग-अलग अनुपात में टूटी थीं। पूरी दीवार कहीं नजर नहीं आई ।

इस भवन के बाहर आँगन संकरा है । इसके पडोस में एक थोडा खुला हुआ स्थान है । पेडों की छाया में हल्दू का एक पेड बरगद के पेड की शाखा के साथ जुडवाँ होकर आसमान की ओर बढ रहा है । इसकी छाया में उनतालीस बालक-बालिकाएँ बैठे हैं । यहाँ तीन गाँव डुँगरा, मरगाँव, भिऊँपाणी के बच्चे आते हैं । मैंने एक बच्चे को बुलाकर उसकी कापी मँगाई, उसकी लिखावट, अच्छी थी, हिज्जों की कुछ गलतियाँ थीं ।'[२६]

ग्रामीण स्त्री शिक्षा : स्त्री-शिक्षा के परिणाम स्वरूप नारी-वर्ग में अधिक परिवर्तन परिलक्षित होता है । आधुनिक चेतना सम्पन्न नारी उन नैतिक मूल्यों और सामाजिक धारणाओं का विरोध करने लगी, जो उसके विकास में बाधक हैं । जड परम्पराओं, रूढिगत संस्कारों एवं जर्जर-मान्यताओं का विरोध इस वर्ग द्वारा होने लगा । वर्तमान नारी पुरुष की सम्पति बनकर जीवन-यापन करना अपना अपमान समझती है ।

स्वातंत्र्योतर काल में स्त्री शिक्षा का प्रसार जोर से हुआ । शिक्षा के परिणाम स्वरूप स्त्री घर के सीमित दायरे से बाहर निकल आई । केवल विवाह ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य न रह गया था वरन् विभिन्न व्यवसायों को अपना कर वह अपने सुद्रढ व्यक्तित्व का परिचय देने लगी । शिक्षा से स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुई । आर्थिक स्वतंत्रता और स्वावलम्बन की भावना ने समस्याओं के संघर्ष

के लिए उसे प्रेरित किया । स्त्री-शिक्षा ने नारी को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया । शिक्षा के परिणामस्वरूप नारी में आत्मसम्मान की भावना जागरित हुई । शिक्षा से उन्हें नई दृष्टि और नए विचार मिले । आज की नारी स्वयं अपना भार वहन करने की क्षमता रखने वाली हो गयी ।

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार रामदरश मिश्र अपने 'बीस बरस' उपन्यास में वर्तमान ग्रामीण लडकियों की शिाा में विकास के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया है । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'सुभाष चला गया तो मैं अकेला हो गया । चलूँ कहीं घूम आऊँ । दरवाजे पर बैठा-बैठा क्या करूँगा । गाँव से बाहर निकल कर बगीचे की ओर चला तो देखा तमाम बच्चे स्कूल की ओर जा रहे थे । उनमें अच्छी-खासी संख्या लडकियों की थी और बडी-बडी लडकियाँ भी थीं । यानी दर्जा सात-आठ में पढनेवाली लडकियाँ थीं। दर्जा चार तक को कन्या पाठशाला भी खुल गयी है जिसमें सुखदेव की भानजी भी पढाती है । सुना है जवार के लोग कोशिश कर रहे हैं कि वह स्कूल भी हाईस्कूल तक हो जाय लेकिन यह इतना आसान तो है नहीं । जब होगा, तब होगा, तब तक लडकियाँ सहशिक्षा ही ले रही हैं । यह देखकर अच्छा लगा कि लडकियों की शिक्षा के मामले में काफी बदलाव आया है । हर आदमी अपनी बच्चियों को स्कूल भेज रहा है । वे कहाँ तक पढ पा रही हैं यह अलग बात है ।'[२७]

ग्रामीणों में लडकियों की शिक्षा के प्रति विशेष भावना : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यास' युद्ध स्थल' में उपन्यासकार मिथिलेश्वर ने 'भरतपुर' गाँव के लोगों में लडकियों की शिक्षा के प्रति प्रकटित विरोध भाव को दर्शाया है । उपन्यास

का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'सत्ती मैया के चौरे और घुनसार की बैठक की तरह ही यहाँ की अधिकांश लडकियाँ भी अनपढ होती हैं । गाँव में सिर्फ चौथी कक्षा तक की पढाई होती है, लेकिन वह पढाई भी पच्चीस प्रतिशत लडकियाँ ही कर पाती है । असल में गाँव के लोग लडकियों को पढाने के पक्ष में नहीं होते । उनकी मान्यता है कि लडकियाँ कम बोलें, लुक-छिपकर रहें, चूल्हा-चौका का काम जान जाएँ, बस यही काफी है । शादी-ब्याह कर दिया जाएगा । जहाँ जाएँगी, वहाँ घर सम्भाल लेंगी । पढाई-लिखाई और देश-दुनिया की जानकारी से उनको क्या मतलब ?'[२८]

गाँवों में शिक्षा सुविधा का अभाव : अन्तिम दश के ग्रामीण उपन्यासकार रामदरश मिश्र ने अपने 'बीस बरस' उपन्यास में गाँवों में हाईस्कूल शिक्षा की सुविधा के अभाव का चित्रण किया है । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है-

'कई बार इसने स्कूल को पुरस्कार दिलाये थे । स्वस्थ और सुन्दर था । कुल मिलाकर यह मास्टरों का चहेता छात्र था और मेरा अच्छा मित्र था । इसने मेरे ही साथ उर्दू मिडिल भी किया था । इसके बाद...। यही प्रश्न इस कछार क्षेत्र के छात्रों के साथ लग जाता था । इसके बाद हाईस्कूल में दाखिल होने के लिए बीस मील दूर शहर जाना पडता था । शहर के अलावा दूर-दूर तक और किसी स्थान पर हाईस्कूल नहीं था । लोगों की औकात कहाँ थी कि वे अपने बच्चों को शहर भेज कर अंग्रेजी की शिक्षा दिलाते । इसलिए मिडिल या उर्दू मिडिल शिक्षा-यात्रा का अन्तिम पडाव बन जाता था और बच्चे बिखर जाते थे । यही हाल दिनेश का हुआ ।'[२९]

दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार डॉ. विवेकी राय ने 'नमामि ग्रामम्' उपन्यास में दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया है । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली को ही सदोष बनाया जाता है । प्रणालियाँ भी एक-से-एक निकलीं । हर प्रणाली स्कूल में जाकर कूडादान बन गई । वहाँ प्राय: उनका सडा-गला और परम हास्यास्पद रूप दिखाई पडता है। अध्यापकगण भी विचित्र हैं । एक तो बेचारे कभी-कभी ही आते हैं और दूसरे, आने पर करते क्या हैं ? दिन भर बीडी, सिगरेट, सुर्ती, तम्बाकु, गाली और डाँट-फटकार से मुँह खाली नहीं रहता । गाँवों में एक कहावत मशहूर है कि जब शाहजहाँ बादशाह कैद हो गया तो उससे पूछा गया कि तुम क्या-क्या चाहते हो ? उसने उत्तर दिया के खाने को चना और पढाने को लडके । इस पर बिगडकर उसके बेटे ने कहा- 'बादशाहत की बू अब तक नहीं गई !' हमारी गँवाई की मास्टरी क्या है, बादशाहत है । बिना दाम के सैकडों गुलाम । कोई नहला रहा है, कोई पैर दबा रहा है, कोई घर से विविध प्रकार की वस्तुएँ खाने-पीने के लिए ला रहा है । यह भावना आम लोगों की है । अध्यापक इसे और बढा-चढाकर समझाते हैं । यदि शिक्षा की बात छोड दें तो अन्य ऊपरी व्यवहार में गुरुकुल से कम हमारे गाँव के विद्यालय नहीं। सेवा बुरी नहीं है, बल्कि इसकी टेव वांछनीय है । प्रश्न है कि सिर्फ सेवा की एक तरफ से होती है या दूसरी तरफ से भी कुछ होता है ? पढाई-लिखाई खाक बला। छडी के बल पर सारी विद्वता और शिक्षा प्रणाली चलती है । अखिल गंदी आदतों के सर्टिफिकेट लेकर स्कूलों से निकलते किसान-शावक देखे गए हैं । पढने की

सनद कौन पूछता है ? शिक्षा-प्रसाद और शिक्षितों की बेकारी दूर करने के नाम पर ऐसे-ऐसे अध्यापक भरती किए गए जो अभी दस वर्ष पढें तब भी शायद ही अपने पद के अनुरूप योग्यता प्राप्त कर सकें । यह महकमा ऐसा है कि कुछ सनद का, कुछ भुजा का, कुछ भाग्य का और कुछ भगवान का बल लगाकर एक बार दाखिल हो गया तो वह कितना भी अयोग्य क्यों न हो, साठ साल तक के लिए समाज में गधों का गोल बरियार करने के लिए रजिस्टर्ड हो जाता है । सरकार की ओर से इन मदरसों का निरीक्षण करने के लिए जो निरीक्षक तैनात किए जाते हैं, वे भी अपनी और अध्यापकों की नौकरी बचाते फिरते हैं । एक निरीक्षक के बारे में लोगों का कहना था कि जीतना ही प्रथम कोटि का भोजन मिले, उतना ही उच्च कोटि का मुआइना हो! यह सब गडबडझाला है । प्रगति विरोधी समस्याएँ हैं । जनता अंधी नहीं है । यह सब देखकर मास्टर के प्रति उसकी क्या सम्मान-भावना रह जाएगी ? सब अध्यापक ऐसे नहीं हैं। कोई-कोई तो अत्यन्त कर्मठ, आदर्श और पूज्य मिलते हैं । शोचनीय हैं, वे, जो इस मानपद को अपने व्यवहारों से कलंकित करते हैं । पहले इन अध्यापकों को पैसा इतना कम मिलता था कि वे दो कौडी के आदमी समझे जाते थे । ऐसे आदमी जो सीधा-सतू से लेकर 'पास कराई' (गुरु दक्षिणा) तक के लिए बालकों को परेशान करते रहते थे ।

लेकिन अब ऐसी स्थिति नहीं है । अब चेतना अच्छा हो गया है और सेवा सुरक्षा भी बढ गई है । मगर इतने पर भी हमारी बस्ती के मदरसे नरक बने हुए है।

फिर इस नरक के पंक से कोई ग्रामीण कुल-कमल निकल आता है तो वह अपनी विरोधी परिस्थितियों की प्रतिक्रिया में दूर तक उन्नति करता चला जाता है।

शेष बालक उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण के फेर में सनद लिये अंकार्थी बने विद्यालय के बाहर-भीतर चक्कर काटते रहते हैं ।'[३०]

शिक्षित बेरोजगारी : औद्योगीकरण एवं शिक्षा के प्रसार ने जहाँ एक ओर शासन व्यवस्था को दृढता प्रदान की है वहीं दूसरी और शिक्षित बेरोजगारी जैसी भीषण समस्या को जन्म दिया है । जनसंख्या वृद्धि तथा अपर्याप्त साधनों के कारण यह समस्या और भी गम्भीर होती जा रही है । आज की जटिल परिस्थितियों में यह सम्भव नहीं है कि सभी को नौकरी मिले और पढा-लिखा युवक अपने पैतृक धंधों को अपनाना नहीं चाहता । इस प्रकार शिक्षित वर्ग में बेरोजगारी के कारण कुंठा, निराशा, ग्लानि, आक्रोश एवं धृणा की भावना बढती जा रही है । शिक्षित युवकों का बेरोजगारी की अवस्था में ह्रास भी होता है । आज जनसंख्या एवं शिक्षा को मात्र फैशन के रूप में अपनाने से यह समस्या और भी बढ गई । रोजगार कार्यालय में आज भी लम्बी-लम्बी कतारें देखने को मिलती हैं । गरीब अथवा मध्यमवर्ग शिक्षा पाने और नौकरी की तलाश में निकलता है । न मिलने पर जैसी भी हो, जो भी, आजीविका मिलती है उसे ग्रहण कर लेता है ।

'नमामि ग्रामम्', 'भीम अकेला', 'बीस बरस' आदि उपन्यासों में बेरोजगारी की समस्या को दर्शाया गया है । उपन्यासों में पात्र शिक्षित रहने पर भी उनको रोजगारी नहीं मिलती । इस सन्दर्भ में निम्न उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं-

'एक सामान्य किसान का पुत्र आज भी नौकरी के लिए ही पढता है उसकी शिक्षा पहले अधिकांश मिडिल तक होती थी । अब गाँवों में हाईस्कूल खुल गए हैं और वह हाईस्कूल तक पढने लगा है । कालेज जाने लगा है । युनिवर्सिटियों में भीड

बनने लगा है । इन दरजों को पास करने के बाद वह प्राय: बेकार हो जाता है । पहले वह मुहर्रिरी-क्लर्की से लेकर अध्यापकी तक पर चोंच मारता था । सफलता नहीं मिलती तो देह बनाकर पुलिस में भरती हो जाता था । कुछ अच्छी नौकरियों पर भी किसान-परिवार के बालक पहुँच जाते थे । थानेदार से लेकर जज तक और प्रोफेसर से लेकर इंजीनियर तक की नौकरियों पर पहुँच जाते थे । परन्तु अब ऐसा तब समझा जाता है जब साक्षात् विष्णु भगवान भाग्य का फाटक खोल देते हैं । लेकिन अब विष्णु भगवान के द्वार फाटक का खोला जाना अनेक कारणों से बंद हो गया है । एक स्थान के लिए जहाँ दो हजार उम्मीदवार खडे हो जाते हैं, वहाँ फिर और क्या हो सकता है ? गाँवों में बेकार गली-गली घूम रहे हैं । तिस पर भी ऐसी धारणा जोर पकडती जा रही है कि बिना नौकरी-चाकरी के किसान-परिवार पनपता नहीं है । यह भावना कुछ ऐसी ही है जैसे नौकरी में बिना ऊपरी आमदनी के प्राण नहीं होता । घर की कमाई के साथ जिस किसान परिवार में नौकरी का रुपया नहीं आता, वह उन्नतिशील नहीं समझा जाता । दूसरी ओर बेकारों की संख्या रक्त बीज की भाँति बढती चली जा रही है ।'[३१]

'प्रधान जी का लडका जिसने मेरे बारे में उन्हें सूचना दी थी, बी.ए. पास है और वह घर पर रहता है, बेकार है । काम कहीं मिलता नहीं है । बगैर काम के बच्चे को घर से बाहर भेजें तो कहाँ भेजें ।'[३२]

'क्या करेगा भाई? मैं जिंदगी भर बम्बई में अपने को खपाता रहा और चाहता रहा कि मेरे बेटे भी कुछ बन जायें । पेट काट-काट कर घर पैसे भेजता रहा। तीन बेटों में से दो तो नालायक निकल गये । दसवीं भी पास नहीं कर सके

लेकिन यह पढने में तेज निकला । इसने सेकेंड क्लास में बी.ए. किया । नौकरी नहीं मिली । लोगों के कहने से बी.एड. भी किया, नौकरी नहीं मिली । पाँचसाल से यह यों ही भटक रहा है नौकरी की खोज में ।'

'हाँ यह समस्या तो है ।'

'जिस दो बेटों को मैं नालायक समझता रहा, वे घर से भागकर बाहर चले गये और गाजियाबाद की फैक्टरियों में काम कर रहे हैं और अच्छा कमा रहे हैं । लेकिन यह लेबर का काम तो करेगा नहीं और कलम का काम कहीं मिलता नहीं। अब बुढौती में यह दर्द मुझे खाये जा रहा है ।'[३३]

रोजगार की तलाश में नगर जाते शिक्षित ग्रामीण: अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार रामदरश मिश्र अपने 'बीस बरस' उपन्यास में रोजी-रोटी की तलाश में शहर जाते ग्रामीणों की व्याकुलता का चित्रण किया है । निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'क्या जिन्दगी है इनकी भी । इनका अपना गाँव तो है लेकिन वह न उन्हें रोटी दे सकता है न सामाजिक सम्मान । और दूसरे गाँव या स्थान रोटी तो देते हैं किन्तु वह अपना अपनापन नहीं दे पाते जो जीने के लिए बहुत जरूरी है । रोटी और अपनेपन के बीच झूलती इनकी जिन्दगी यों ही बीत जाती है । हम पढे-लिखे लोग गाँव से छूटकर शहर में अपनी एक नयी दुनिया बना लेते हैं जिसमें अपना मकान होता है, परिवार होता है, नये मित्र होते हैं, पडोसी होते हैं, मोहल्ले होते हैं, हमपेशा लोग होते हैं और न जाने कितने-कितने लोग होते हैं किन्तु ये...।

कुछ भी हो रोटी जीने का आधार है । और कैसा विचित्र लगता है कि आज

इस बुनियाद की खोज में हमें घर-परिवार, जर-जवार के न जाने कितने रागात्मक लगावों की बुनियादों को छोडना पडता है । मैं भी तो रोटी की तलाश में ही गाँव से बाहर गया था । तब मुझे अपने ये खेत-खलिहान, घर-दुआर, बाग-बगीचे, मौसम-पर्व कितना पुकारते थे, कितना रुलाते थे, कितना बेचैन करते थे और आज तक मेरे भीतर से गये नहीं, रह-रहकर मुझे खींचते रहते हैं ।'[३४]

निरक्षरता : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार ज्योतिष जोशी ने अपनी 'सोन बरसा' उपन्यास में निरक्षरता की समस्या को दर्शाया हैं । उपन्यास का निम्न उदाहरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'गाँव में निरक्षरता का साम्राज्य है । किसी की भी रुचि पढने-लिखने में नहीं है । लोगों का यही मानना है कि जब पढने-लिखने से नौकरी ही नहीं मिलने वाली, तो फिर पढकर पैसा, समय और दिमाग खराब करने की जरूरत ही क्या है ।'[३५]

➢ गाँव में विकास :

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यास 'चाक' और 'बीस बरस' में उपन्यासकारों ने समकालीन गाँवों के विकास की दशा को चित्रित किया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं-

'सन् १९८० से ९० तक आते-आते 'अतरपुर' में विकास का मूर्तिमान रूप दिखाई देते लगा । चकरोड ने गाँव को सडक से जोड दिया । ट्यूबवेल के बहाने बिजली आई । इन दिनों यहाँ दीयों-दिबरियों के साथ-साथ बल्ब भी जल उठते हैं। गर्मियों में जो लोग बिजली के पंखे मँगा लेते हैं, उनके घर फरटिदार हवा भी चलती है । रेडियो बजता है । गाँव के प्रधान फतेसिंह के घर जल्दी टेलीविजन आने वाला है ।'[३६]

'अरे भाई, हम लोगों के जमाने के गाँव को देखा होता । क्या था तब- गरीबी, भुखमरी, अशिक्षा, बाढ के अलावा । अब अपने गाँव के पास ही अंग्रेजी स्कूल, कॉलेज खुल गया है । तमाम लडके पढ-पढ कर अफसर हो गये हैं । लोगों ने खेत खरीद लिये हैं, पक्के मकान बनवा लिये हैं, नदी पर बाँध-बँध गया है, बाढ भी रुक गयी है, तमाम ट्यूबवेल गड गये हैं, खेतों में फसल भी अच्छी होती है । हरिजन टोली भी अब वह नहीं रही । वे अब किसी के वश में नहीं रहे । भाग-भाग कर परदेश पकड लिया । वहाँ से पैसे भेज रहे हैं ।'[३७]

'पहले लोग हफ्ता भर इस बाजार का इन्तजार करते थे । वे इसी के भरोसे होते थे । अब गाँव-गाँव में तरह-तरह की दुकानें खुल गयी हैं, लोकों की जरूरतें पूरी हो जाती हैं फिर इस बाजार में क्यों आयें ? आते हैं तो खास कर साग-सब्जी के लिए या गोश्त के लिए या फिर मिलने-जुलने या मन बहलाव के विचार से ।'[३८]

➢ ग्रामीण जीवन और समस्याएँ में बदलाव :

वर्तमान ग्रामीण जीवन अनेक समस्याओं से ग्रस्त है । गाँवों में अनेक प्रकार की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याएँ विद्यमान हैं, जिनके कारण ग्रामीण प्रगति के प्रयास के बावजूद भी वे प्रगति नहीं कर सके । शिक्षा प्रसार ने ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षितों की बेकारी की संख्या में वृद्धि की है ।

अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में निम्न समस्याएँ परिलक्षित होती हैं ।

ऋण की समस्या : अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में ऋण की समस्या को उपन्यासकारों ने दर्शाया है । 'औरत' उपन्यास का पात्र

सोबरन राय शिवेन्द्र के पिता को ऋण देता है और वह मनमानी करके वसूल करता है । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'सुन रे तोरे बाप ने एक हजार रुपया लिया था ।'

'का कहो, का कहो, हो सोबरन ।' हल्ला-गुल्ला की खबर पाते ही शिवेन्द्र के बाप आ गए 'तू इतना झूठ काहे बक रहे हो । हम तो कुल पाँच सौ रुपिया लिहे रहे ।' देवेन्द्र हकलाकर बोले ।

'पाँच सौ रुपिया लिहे रहे तो पाँच साल का सूद भी तो लगेगा । रुपिया पीछे चवन्नी सूद अबी चलत है । अरे ई कहो कि हम ईमानदार हैं कि 'चक्कर बुद्धि' नाही लै रहे हैं । अउर एक साल का सूद माफी कर दे रहे है। सवा सौ रुपिये का खाली चारै साल में पाँच सौ रुपिया हो गया ।'[३९]

भ्रष्टाचार : सरकारी दफ्तरों में आज रिश्वतखोरी ने बहुत बडा उधम मचा रखा है । तहसील, कचहरी, रजिस्ट्रार, ऑफिस, कलेक्टर कचहरी इत्यादि सरकारी दफ्तर आज रिश्वतखोरी के अड्डे बन गए हैं । सामान्य प्रकार के काम के लिए भी पैसे भी माँग की जाती है, और पैसे का वजन जब तक कागज पर रखा नहीं जाता तब तक कागज आगे की कार्यवाही के लिए दूसरे टेबुल तक पहुँच भी नहीं सकता। सामान्य व्यक्ति को तो उसका काम पूर्ण कर लेना आज बडा ही कठिन कर्म हो गया है ।

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने धूस समस्या को दर्शाया है । मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास में 'अतरपुर' गाँव का प्रधान-श्रीधर मास्टर को घूस देना चाहता है । शिवप्रसाद सिंह के 'औरत' उपन्यास में 'करमपुर'

गाँव का जमींदार सोबरनराय-थानेदार को घूस देना चाहता है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होते हैं-

'प्रधान जी श्रीधर के करीब खिसक आए । फुस-फुसाकर बोले-गले दिन...

'हम समझ रहे हैं, तुम क्यों रूठे हो ? हमारे बालक की उमर के तुम मास्टर जी, समझते हो कि हम तुम्हारे दिल की बात न समझेंगे ? हिस्सा तुम्हारा भी होगा । मुक्त में नहीं लेना चाहते तुम्हारे दस्तक । अब सबके दस्कत की कीमत है, तो तुम्हारे दस्तकों की क्यों न होगी ? दो कोठरा भी खडे नहीं करने । इसी स्कूल की रँगाई-पुताई करवानी है, बस । इंजीनियर बिल्डिंग पास कर देगा । अहलकार दस्कत करके मंजूरी दे देंगे । बोलो, तुम कितना माँगते हो ? दस हजार ? बारह? चलो पन्द्रह तक ।'

श्रीधर इसी बात को सुनना चाहते थे । अपनी निजी राय पर प्रधान की मोहर लगाना चाहते थे । कितना ही सोच रहे थे वे... कोहरे में से कोई स्पष्ट शोर आया और श्रीधर के कानों के आर-पार हो गया... बोलो कितना माँगते हो! तुम्हारा हिस्सा! तुम्हारा हिस्सा! बोलो कितना...।'[४०]

'आपने हुजूर पहचाना नहीं शाइत, आप करमपुरा के जमींदार हैं सोबरन सिंह । रायबहादुर सोबरन सिंह को आप नहीं जानते हुजूर ।' सोबरन के दरबारी सुलोचन ठाकुर ने कहा । 'अबे, कलुवा ले आ नजराना ।' कलुवा ने सजाव दही की मटकी, एक बोरी बासमती चावल, ढेर सी सब्जियाँ और मिठाई का एक बडा डब्बा सामने सजा दिया । सुलोचना बोले- 'हुजूर यह सब कुछ घर का ही है । यह सजाव दही देखिए हुजूर । दो इंच मोटी साढी है इस पर । और हुजूर इस देस

दिहात में बासमती चावल तो अपने हुजूर रायबहादुर साहब के अलावा किसी को सूँघने भर भी मयस्सर नहीं होता ।'

थानेदार ने सामने की घंटी पर हथेली पटकी- 'मुंशीजी जरा कांस्टिबुल अब्दुल को भेजिए ।'

'आया हुजूर' अब्दुल ने सलाम ठोंका- 'हुकुम हुजूर ।'

'यह सारा सामान उठाकर बरामदे में फेंद दो । और इन सज्जन से पूछकर रपट लिख लो । मेरी तो समझ में नहीं आता थाना और नजराना दोनों लिए बराबर हैं । ऐसे आदमी की रपट का क्या भरोसा । फिर भी इस देहात के नामी गिरामी आदमी हैं, इसलिए ये जो कहें लिख लो । हम जरूरी समझेंगे तो तफ्तीश के लिए जायेंगे ।'

सट्टेबाजी की समस्या : मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' उपन्यास में सट्टेबाजी की समस्या को दर्शाया गया है । निम्न उदाहरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है-

उपन्यास का पात्र फतेसिंह प्रधान रंजीत से कहता है ।

'तुम दस्तखत कराओ । बाकी काम हमारा, कहकर फतेसिंह ने रंजीत के कंधे पर हाथ रखा तो लगा कि वे दवे जा रहे हैं- एक बडी दीवार के नीचे...।

'नब्बे हजार का सट्टा है । हाथ आ गया तो दो चुनाव लड लोगे, बाद में मिट्टी और पक्की ईटों के दो कोठरा खडे करा देंगे । इंजीनियर तैयार बैठा है । हिसाब लगाया था, सबका हिस्सा देकर पैंसठ हजार कहीं नही गए । चुनाव में खर्च एक लाख से ज्यादा करना नहीं हमें । फिर भी प्रधानी बुरी नहीं इतने में ।'[४२]

जमीन के बँटवारे की समस्या : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में जमीन

के बँटवारे की समस्या को उपन्यासकारों ने दर्शाया है । 'सोन बरसा' उपन्यास में सुखाड चौधरी की जमीन उसका भाई बनवारी चौधरी देना नहीं चाहता । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है-

'अजय और रूपाली ने देखा कि बनवारी चौधरी जोर-जोर से चीख रहे हैं और सुखाडी चौधरी सर झुकाए ऐसे बैठे हैं जैसे उनसे कोई अपराध हो गया हो । कृष्णकांत मिश्र का द्वार लोगों से भर गया है । लोगों में खुसुर-पुसुर हो रही है- 'यह भी क्या अन्याय है ? बडे भाई को घर में घुसने से रोक दिया और अब उल्टे बेशर्म होकर कह रहा है कि वह एक इंच जमीन भी हिस्से में न देगा, उन्हें जो करना है कर लें उसे इसकी कोई परवाह नहीं है । अँधेर है भाई, कोई देखने वाला नहीं है ।' परिमल बाबू चुपचाप बैठे हैं और देख रहे हैं कि क्या-क्या हो रहा है । अचानक वे बोल पडे-

'बनवारी जी, मैं तो कुछ कहने का हकदार नहीं हूँ फिर भी कह रहा हूँ कि यह तो कोई इंसाफ नहीं हुआ कि आप अपने भाई का हिस्सा ही मार लें ।'[४३]

जन-संख्या वृद्धि की समस्या: बढती हुई जन-संख्या मनुष्य-समाज के अस्तित्व के लिए चुनौती बन गई है । वास्तव में जन-संख्या वृद्धि की समस्या विश्व की भयंकर समस्या है । हमारे देश में प्रतिवर्ष एक करोड की जन-संख्या के अनुपात से वृद्धि हो रही है । सन् १९४७ में जब हमारा देश स्वतंत्र हुआ, तब जन-संख्या ३३ करोड थी किन्तु आज १०० करोड से अधिक है । मिथिलेश्वर के 'युद्ध स्थल' उपन्यास में जन-संख्या वृद्धि की समस्या को दर्शाया गया है । इस सन्दर्भ में निम्न उदाहरण प्रस्तुत है-

'जगतनारायण सिंह की शादी रामशरण बहू के आने से दो साल पहले हुई थी, लेकिन उनकी पत्नी को आए अभी एक वर्ष भी पूरा न हो पाया था कि वह पुत्रवती हो गई । उसके बाद फिर तो हर साल बच्चे होने लगे । सात लडके और पाँच लडकियाँ । एक पूरी फौज । गाँव के लोग मजाक करने लगे, 'अब बंद करो जगतनारायण... इस गाँव की जनसंख्या इतनी जल्दी दुगुनी मत करो...।'[४४]

सडकों का अभाव : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने सडकों के अभाव की समस्या को दर्शाया है । मिथिलेश्वर के 'यह अन्त नहीं' उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है-

'बरगद से आगे बढ चुनिया सडक पर आ गई । गाँव के बाहर से होकर गुजरने वाली सडक । यह सडक कई गाँवो से होते हुए शहर को जाती थी । लेकिन उनके गाँव के कस्बे के बस पडाव तक एकदम कच्ची, धूल भरी और ऊबड-खाबड थी । कहीं गड्ढे की तरह गहरी हो गई थी, तो कही पर्वत की तरह ऊँची, तो कहीं साँप की तरह टेढी। सडक की माफिक समतल तो कहीं थी ही नहीं । बचपन में बाबू की बैलगाडी पर चढकर वह इस सडक से गुजरती थी तो रास्ते भर हिचकोले खातीत रहती थी । वह बचपन से ही सुनती आ रही थी कि यह सडक पक्की होने वाली है, लेकिन आज तक इसे उसी रूप में पा रही थी । एक बार गर्मियों में इस पर मिट्टी पडनी शुरू हो गई थी । नगदी मजदूरी पर इलाके-जवार के सारें मजदूरों को मिट्टी फेंकने के काम पर लगा दिया गया था । गाँव में सरगर्मी मच गयी थी कि सरकार इस सडक को बनवा रही है । पर बरसात में फिर खबर कर यह अपने पुराने चोले में वापस आ गई । उसके बाद फिर उस पर कभी मिट्टी फेंकने का काम

दुबारा नहीं हुआ । गाँव में इस बात की चर्चा है कि सरकारी कागज पर तो यह सडक पक्की घोषित हो गई है, अब यह पक्की न बन सकी तो इसका दुर्भाग्य...।'[४५]

पेयजल की समस्या : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में पेय जल की समस्या को उपन्यासकारों ने दर्शाया है । ग्रामीण उपन्यासकार विद्यासागर नौटियाल के लघु उपन्यास 'भीम अकेला' का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है-

'चाय आई । चाय में मुक्त हस्त से चम्मच-दर-चम्मच चीनी डाली गयी थी। उसकी मिठास की तेजी को कम करने के लिए मैंने होटल वाले को आवाज दी- मीठा जरा ज्यादा हो गया है । थोडा पानी देना तो । उत्तर कुशाल सिंह ने दिया- पढिये क्या लिखा है ।

'मेरे सामने दुकान की दीवाल पर एक छोटी-सी तख्ती लटकी थी । तख्ती पर लिखा था-

'यहाँ पर पानी दस पैसे लीटर और दूध पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है ।'

चाय में दूध डाला गया । कलियासीड के पानी की बात होने लगी । मालूम हुआ कागज पर एक पेयजल योजना काफी दिनों से बनी है । करीब दो किलोमीटर की दूरी से पानी लाया जायेगा । पर उस पर अमल नहीं हो रहा है । कलिया सौड पौढी गढवाल जनपद में मुख्य मोटर मार्ग पर एक महत्वपूर्ण स्थान है । यहाँ की बस्ती में रहने वाले लोगों को पानी अलकनन्दा से लाना पडता है । नदी नीचे बहती है और वहाँ से जाने में सीधी खडी चढाई पडती है । यहाँ से नदी तट तक आना-जाना डेढ किलोमीटर पडेगा । इस पानी के लिए सभी मंत्री, नेता वायदा कर जाते हैं । पर योजना बनती नजर नहीं आती ।'[४६]

सिंचाई के साधनों का अभाव : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यास 'भीम अकेला' में गाँव के नहर निर्माण में रुकावट की समस्या को उपन्यासकार विद्यासागर नौटियाल ने दर्शाया है । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'नहर का निर्माण कार्य पूरा नहीं हुआ है । निर्माण जारी है । यह धारी नहर है । इस नहर का निर्माण हमारे सपने साकार करेगा । पर निर्माण कब होगा, और होगा भी या नहीं- इसका उत्तर अब फिलहाल तो शायद कोई नहीं दे पायेगा ।

सेरा से धारी तक नहर बनाई जा रही थी । सिंचाई विभाग ने इसके निर्माण में अनेक करतब दिखाये । वर्षों तक फाइलें इधर से उधर चलती, रुकती, सरकती डुबकियाँ लेती रहीं । आज से ठीक सात वर्ष पुर्व इस पर कार्य शुरू हुआ । कार्य पूँछ की ओर मध्य भाग से शुरू हुआ जैसा कि हमारी करीब-करीब सभी योजनाएँ उल्टी तरफ से शुरू की जाती हैं । पहाड को बीच में खोद दिया गया और खोदा जाता रहा । जो पैसा इसके लिए मंजूर हुआ वह खर्च हो गया पर नहर कोई शक्ल नहीं ले पाई । अब सिंचाई विभाग के अभियन्ताओं ने पानी की मात्रा के बारे में कह दिया है कि इतना भर पानी ले जायेंगे तो वह धारी गाँव ने आगे नहीं पहुँच सकेगा। लिहाजा धारी गाँव की आबादी के उपरान्त वीरान पहाड को पार करने के बाद जो धारी गाँव के समतल खेत फैले हैं वे रूखे ही रहेंगे । अभियन्ताओं की इस महत्वपूर्ण शोध का पुख्ता करने के लिए भारत सरकार की ओर से सन् १९८० का वन अधिनियम भी चला आया ।

इस अधिनियम के अनुसार वनभूति का उपयोग गैर वनप्रयोजन के लिए किसी भी रूप में किया जाना हो तो ऐसी स्थिति में राज्य सरकार के लिए

आवश्यक होगा कि वह एतदर्थ केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति कार्य को प्रारम्भ करने से पहले प्राप्त कर ले ।

धारी नहर पर भी वन अधिनियम का ग्रहण लग गया । धारी नहर वनभूमि से होकर गुजरेगी । अत: जब तक केन्द्रीय सरकार से उसकी स्वीकृति नहीं मिलती नहर के एक इंच पर कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सकता ।'[४७]

गाँवों में चिकित्सा का अभाव : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने गाँवों में चिकित्सा सुविधा के अभाव की समस्या को दर्शाया है । गाँव में अस्पताल न रहने के कारण गाँव के लोग परेशान हैं । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'हाँ, तो उस तीसरी रात अगम के एक दोस्त के पेट में जोरों का दर्द उठा। अनपच और पेट की गडबडी का दर्द समझ गाँव में इलाज करने वाले एक 'ग्रामीण डॉक्टर' से उसे दवा भी दिलाई गई, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ । दर्द बढता ही गया । जब दर्द में वह छटपटाने और चोखने-चिल्लाने लगा तो उसी रात अगम और उसके दोस्त उसे शहर ले चल पडे । पालकी पर उसे लादकर पहले वे कस्बे के बस स्टैण्ड आए । फिर वहाँ से एक जीप पर उसे चढा आरा शहर लाए । वह शहर के एक बडे अधिकारी का पुत्र था । उसके पिता के प्रभाव से शहर के बडे अस्पताल में रातों-रात उसकी विशेष चिकित्सा शुरू हो गई । चिकित्सकों के अनुसार उसके पेट का अपेंडिक्स भ्रष्ट कर गया था । अगर उसे अस्पताल लाने में और कुछ विलम्ब होता तो वह नहीं बचता । तत्काल उसका ऑपरेशन किया गया। ऑपरेशन के बाद जब वह होश में आया और चिकित्सकों ने कहां कि अब वह

खतरे से बाहर है तो अगम उसके परिवार जनों और मित्रों से इजाजत ले अपने गाँव लौट आया ।'[४८]

'...और मन्दाकिनी की ओर देखते ही कुसुमा चिन्ता में डूबने लगी, देखे तो बिन्नू का मुख ऐसा हो गया है जैसे खून निचुर गया हो । निराट पीरा...

अब डाकू-भडियों की फिकर करें कि मन्दा को देखें ।

सरकारी अस्पताल में दिखा गया, तसल्ली हुई, लेकिन डाक्टर बिरगवाँ आने को तैयार नहीं । अपनी परेशानी बताई, फीस भरने का वादा किया, मगर डाक्टर नहीं माना । बोला, 'ऐसी ड्यूटी नहीं करते हम ।'

वैद्य जी की दुकान पर पहुँच गयी कुसुमा ।

चलते समय कह आयी, 'रोज के रोज चले आयें आप । फीस की चिन्ता न करना । लाचारी समझो हमारी ।'

झोला में से निकालकर, लकडी बँधवाकर गाडी पर परदा तनवा दिया । ममुख-सूख गया है बिन्नू का । पानी का धैला भी रख लेना चाहिए ।

रास्ते में मन्दाकिनी कुछ चेती-सी लगी । कमजोर स्वर में बतियाने लगी, 'भाभी, हमारे गाँव से एरच तो और ज्यादा दूर है । सो भी अच्छा अस्पताल नहीं है वहाँ । उरई कोंच जाने की तो सोचना ही मुश्किल है, ज्यादा बीमार आदमी के लिए । सबर करके बस झेलते रहो वहीं के वहीं । मरने की बाट हेरते रहो ।'[४९]

➢ **अंधविश्वास :**

भारत की अधिकांश जनता अशिक्षित होने के कारण यहाँ का ग्रामीण समाज अंधविश्वासों में फँसा हुआ है । अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण उपन्यासों में

उपन्यासकारों ने गाँवों में व्याप्त अंधविश्वासों को दर्शाया है । अंधविश्वासों के कारण गाँव के लोग कुछ होने का डर रखते हैं । अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यास 'चाक', 'युद्धस्थल', 'विश्रामपुर का संत', 'औरत' और 'यह अन्त नहीं' आदि में ग्रामीण जीवन में फैले हुए अंधविश्वासों का चित्रण किया गया है । उदाहरणत: एक लडके के बाल अगर धुँधराले होकर भँवर जैसे दिखने लगते हैं तो उन्हें भँवर के बाल कहते हैं । उससे उसकी माँ खतरे का बहाना करती है और समझती है कि इस प्रकार भँवर के बाल रहने से वह कहीं पर पानी में डूब मरेगा । वह उस लडके को तैरने से या पानी में जाने से मना करती है ।

अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासकारों का उदेश्य ग्रामीण जीवन में फैले हुए अंधविश्वासों को दूर करना है । ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

(सारंग-रंजीत)

'जाहर पीर पर शीश नवा देना चंदन का । लो यह, मंगो दादी ने सलामती का तावीज दिया था । धागा नहीं मिल रहा । वहीं डोरा लेकर इसके गले में बाँध आना । भूलना नहीं । यही ढाल है, यहीं तलवार ।

अपनी मुट्ठी में दबाकर राई, नौन और मिर्च ले आई चलती बेला, लपककर बेटे की बराबरी में पहुँची, सात बार उतारा और पिछवाडे को मुट्ठी उछाल दी ।'[५०]

'उनके सिर पर सामने वालों में एक गोल चक्र बना हुआ था । उनकी दादी उसे 'भौंर' कहती थीं । उनकी शक्ल नदी में उठने वाली भँवर जैसी थी । जब तक बाल बहुत बडे न हो जाते, यह भौंर कंधे का अनुशासन नहीं मानती थी, उसके

बाल अलग-अलग दिशाओं का रुख किये रहते थे । यह समस्या तो सिर्फ साज-सज्जा की थी, असली समस्या दादी के अंधविश्वास की थी । वे मानती थीं कि जिसके बालों में ऐसी भँवर होती है उसे पानी में डूबने का खतरा रहता है । इसीलिए वे अपने पोते को नदी में नहाने से या तैराकी करने से हंमेशा रोका करती थीं ।'[५१]

'जब दवा-दारू और पूजा-पाठ करके गई, उन्हे बच्चा नहीं हुआ, तब वे ओझा, गुनियों के चक्कर में फँसने लगीं । रामशरण को ओझाई और झाड-फूँक में तनिक भी विश्वास नहीं था, लेकिन अपनी पत्नी के लिए उन्होंने नये सिरे से विश्वास पैदा किया । फिर गाँव के नामी-गिरामी ओझाओं से लेकर इलाके के प्रसिद्ध ओझा उनके यहाँ आने लगे । रामशरण बहू की ओझाई शुरू हो गई । कोई ओझा प्रेत का प्रकोप बताता तो कोई डाकिनी का । शराब की बोतालें गिराई जातीं। मुर्गे की बलि चढाई जाती । डिहवार बाबा के नाम से मनौती मनाई जाती । खर्च और परेशानियों का एक नया सिलसिला । लेकिन फायदा कुछ नहीं ।'[५२]

रामशरण देर तक इस पाखण्ड को सह नहीं सके । उन्होंने अपने वहाँ ओझाओं का आना रोक दिया । लेकिन रामशरण बहू नहीं मानी । मरता क्या नहीं करता ? वे घर से बाहर निकलने लगीं । इस क्रम में गाँव तथा पडोस की कुछ औरतों से उनकी दोस्ती हो गई, जो ब्रह्मस्थानों, देवासों और पीर के मजारों का चक्कर लगाती थीं । वे उन स्थानों पर हजारों की संख्या में औरतों को जुटते देखतीं। औरतें बाल खोले, अपने दोनों हाथ जमीन में टेके खूब जोर-जोर से माथा हिलातीं । सामने बैठे ओझा नीम के पत्ते से धीरे-धीरे उनके ऊपर वार करते । फिर

सरसों और चावल उनके ऊपर छिडकते । आवश्यकता पडने पर बाल पकड कर कुछ पूछते । पीठ पर हाथ फेरते और न जाने क्या-क्या क्रियाएँ करते। उनके लिए यह दुनिया बिलकुल नई थी । प्रारम्भ में तो उन्हें अजीब लगता था, लेकिन धीरे-धीरे वे इस दुनिया में प्रवेश करने लगीं । प्रारम्भ में वे सिर्फ दिन में ही जातीं । बाद में रातों में भी जाने लगीं ।'[५३]

'लेकिन दुखन की माँ नहीं मानती है । खाना परोस उनके सामने रख देती है । फिर कहती है । 'खाकर तो देखिए । खाया क्यों नहीं जाएगा! बहुत अच्छी खिचडी बनाई है । आज शनिवार है । शनिवार को खिचडी खाने से ग्रह टलते हैं।'

दुखन की माँ खिचडी से ग्रह टलने की बात कह तो देती है, लेकिन उसे लगता है यह झूठी बात है । वह एक लम्बे समय से हर शनिवार को खिचडी खाती जा रही है। रामशरण बहू को भी खिलाती है । लेकिन न तो उसके ऊपर से ही ग्रह टलते हैं और न रामशरण बहू के ऊपर से ही । उसे लगता है, रामशरण बहू को डायन समझे जाने की लोगों की झूठी धारणा की तरह यह भी एक झूठी धारणा है। इसके पीछे भी कोई सत्य नहीं ।'[५४]

'धनराज भाई, मैं अभी पिछले साल की बात बता रहा हूँ ।... रामशरण बहू एक दिन कहीं जा रही थीं । रास्ते में ठेगुआ का कुत्ता उन्हें देखकर भूँकने लगा । उन्होंने एक-दो बार डाँट लगाई । लेकिन वह नहीं माना । तब उन्होंने आँखे तरेरकर उसकी ओर ताकते हुए अपने आँचल के छोर से कुछ खोलकर उसके ऊपर फेंकना शुरू किया । मैंने तो अपनी आँखों से देखा नहीं, लेकिन जिन लोगों ने देखा है, वे कहते हैं कि वह कुत्ता वहीं गिरकर छटपटाने लगा । उसके बाद वह हफ्ते भर

भी नहीं जी सका । मुँह से खून फेंकते-फेंकते मर गया ।... मेरी तो इतनी लम्बी उम्र हो गई, लेकिन रामशरण बहू की तरह पक्की डायन मैंने और कहीं नहीं देखी...।'[५५]

'सोनवां रोज कहती थी- 'देख शोभू आज मुंडेरे पर कागा बोल रहा है । लगता है पाहुन आने वाले हैं । मैं कहता था- दीदी अपने कौन पाहुन हैं । न कोई ननिहाल से आने वाला है, न फुफुआउर से । बाबू और बुआ भाई बहन थे । अब हम दो हैं बहन-भाई । जब देव ने पैदाइस का क्रम ही बदल दिया तो पाहुन कहाँ से आएँगे । मैं तुझसे बडा होता जैसे बाबू बुआ से थे, तो मेरी ससुराल से जरूर कोई आता और कागा के उचारने पर तू उसे दूध-भात खिलाने की धूस देती...। वह मुझे मारने को दौडती थी ।'[५६]

'चुनिया की माई ने जनमते ही अपने नाती के हाथ-पाँव में काला सूता लपेट दिया था तथा कजरौटे से उसके माथे पर एक बडा-सा काला टीका भी बना दिया था ताकि किसी की बुरी नजर उसे न लगे । इसके अतिरिक्त रोज शाम अपने उस नवजात नाती को आइँछ कर वह सरसों के दाने आग में छोड देती- 'मेरे लाल को जिस किसी की नजर-गुजर लगी हो वह सब भस्म हो जाए...!'[५७]

➢ गाँवों का परिवर्तित परिवेश

आज भारतीय गाँवों में परिवर्तन की प्रक्रिया तेज दिखाई देती है । विभिन्न कारणों से ग्रामीण जीवन की सम्पूर्ण जीवन पद्धति परिवर्तित हो उठी है । वर्तमान ग्रामीण पारिवारिक सामाजिक एकता में तनाव बढने लगा । गाँवों में अनेक विकृतियाँ फैलने लगीं । आज ग्रामीण युवा वर्ग नगर की संस्कृति को गाँवों में प्रवेशित करते हैं । गाँवों में गुंडागर्दी, चोरी, डकैती आदि बढने लगी । धार्मिक भावना के केन्द्रीय

क्षेत्र कहलाए जाने वाले गाँवों में युवकों के माध्यम से अनेक दुर्व्यवहार फैलने लगे। गाँवों में प्रवेशित भ्रष्ट राजनीति और नौकरशाही ने भोली जनता को बहुत अधिक भ्रमित किया है ।

अन्तिम दशक के अनेक उपन्यासों में वर्तमान परिवर्तित ग्रामीण स्थिति का सजीव एवं यथार्थ चित्रण किया है ।

परिवर्तित सामाजिक परिवेश : इस संसार में प्रत्येक वस्तु: जीव-निर्जीव, भौतिक-अभौतिक, पेड-पौधे, मानव समाज और संस्कृति सभी परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन प्रकृति और समाज का सर्वकालिक और सार्वभौमिक नियम है । पहले की तुलना में आज गाँवों में सामाजिक परिवर्तन बहुत तीव्र गति से हो रहे हैं । ये परिवर्तन बहु-आयामी हैं । मैकाइवर और पेज के अनुसार- 'जिसे हम समाज कहते हैं वह एक निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली जटिल व्यवस्था है । यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हंमेशा बदलता रहता है । आज तक कोई भी ऐसा समाज नहीं देखा गया है तो परिवर्तनशील न हो ।'[५८]

मोरिस जिन्सबर्ग के अनुसार 'सामाजिक परिवर्तन से मैं सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन को समझता हूँ ।'[५९]

किंग्सले डेविस के अनुसार- 'सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य केवल उन्हीं परिवर्तनो से है जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं ।'[६०]

मैकाइवर और पेज के अनुसार- 'सामाजिक परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है ।'[६१]

जोन्स के अनुसार- 'सामाजिक परिवर्तन एक सम्प्रत्यय है जिसका उपयोग सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तक्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी भी पक्ष में अन्तर या संशोधन का वर्णन करने के लिए किया जाता है ।'[६२]

अन्तिम दशक के ग्रामीण हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण सामाजिक परिवेश में आये बदलाव को प्रस्तुत किया गया है । उपन्यास के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं-

'आज गाँवों में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत बहुत मशहुर हो गई है । यहाँ बलवान इसलिए नहीं हैं कि न्यायपूर्वक गरीबों की रक्षा करें । बल्कि यहाँ शक्ति इसलिए अर्जित की जाती है कि आसानी से दूसरों को लूट सकें । मनमानी कर सकें । अन्याय, अत्याचार, अनीति, व्यभिचार, लांपट्य और अपहरण करके भी छाती फुलाकर चल सकें । कोई उँगली तक न उठा सके और जो उँगली उठाए, उसकी गरदन तोड दें।

यह शक्ति भी दो तरह की होती है । एक, धन की तथा दूसरे जन की । विद्या बुद्धि की शक्ति का हमारे यहाँ बहुत ही स्वल्प प्रभाव होता है । जिसके पास जनशक्ति है अर्थात् जो स्वयं शरीर से हट्टा-कट्टा है तथा जिसके घर दो-चार और लट्ठधर हैं, वह रास्ता सीधे नहीं चलता । सीधे नहीं बोलता । खेत उपारता है । दूसरों का खेत कटवा लेता है । पग-पग पर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता चलता है । कहने का तात्पर्य यह कि वह चोर, डाकू और पक्का शैतान होता है । जिसको धन का बल होता है, वह मुकदमाबाज होता है ।'[६३]

'इधर जब मुरारी सिंह को चमरटोली की इस तैयारी की सूचना मिली तो एक रात वे भी अपने वर्ग और अपनी बिरादरी के लोगों को इकट्ठा करने के लिए निकले । रात बारह बजे के आस-पास उन्होंने अपने लोगों की एक गुप्त बैठक बुलाई। इससे पहले कि मुरारी सिंह अपना मंतव्य स्पष्ट करते, सभी लोग अपने-आप चमारों के खिलाफ आग उगलने लगे । चमर टोली में बाहर के लोगों के आने की सूचना सबों को मिल चुकी थी । चमारों के बढते हुए मन को सदा के लिए कुचल देने की योजना गोष्ठी में बनाई जाने लगी । रामशरण ने चिल्लाकर कहा, 'जितनी जल्दी हो सके, चमरटोली के लोगों को सबक सिखा देना चाहिए... पुश्तों से जो बात इस गाँव में नहीं हुई थी, वह बात अब सम्भव होने लगी है...।'

मुरारी सिंह ने कहा, 'आप सब सिर्फ मेरी पीठ पर खडे रहिए... मैं मिनटों में चमरटोली के लोंगों की गरमी झाड दूँगा ।'[६४]

'चमरटोली की घटना के बाद गाँव का रूप एकदम बदल गया था । चमरटोली के जो चमार बच गए थे, उन्हें बाहरी सहयोग पर्याप्त मात्रा में मिलने लगा था, फलत: बदले की भावना से प्रेरित हो वे सिंहो की तरह दहाड उठे थे । उन्होंने ढूँढ-ढुँढकर मुरारी सिंह के परिवार के एक-एक सदस्य की हत्या की । उसके बाद तो गाँव में हत्याओं का वह सिलसिला चला कि आस-पास के गाँवों के लोग भी दहल उठे । खेत-खलिहान से लौटते, घर में सोए-बैठे, गाँव में घुमते, जिसे जहाँ दाँव मिल गया, हत्या कर दी । चमरटोली के लोगों के साथ भरतपुर के सभी गरीब और छोटी जाति वाले सीना तानकर सामने आ गए थे । उन्हे बाहर से हथियार तथा निर्देश मिलने लगे थे । रातों में दर्जनों की संख्या में उनके पक्षधर आ धमकते थे।

इधर मुरारी सिंह के वर्ग के लोग जान हथेली पर लेकर गाँव में उभरने वाली इस नई शक्ति को दबाने के लिए जूझ पडे थे ।

हालाँकि चमरटोली की घटना के बाद से गाँव में स्थायी तीर पर एक पुलिस चौकी का निर्वाण कर दिया गया था । पुलिस के बाहर जवान रहने लगे थे । लेकिन उससे इन हत्याओं की रफ्तार में कोई कमी नहीं आई थी । ऐसा कभी नहीं हुआ था कि किसी की हत्या होने से पहले ही सूचना पाकर पुलिस उसे बचाने के लिए चली आई हो । होता तो यह था कि हत्या होने के बाद घटनास्थल पर पुलिस पहुँचती थी और अपना 'कोरम' पूरा करती थी ।

लोगों ने घर से निकलना बन्द कर दिया था । शाम होते ही किवाड बन्द कर दिए जाते थे । इस ओर के या उस ओर के लोग जब भी कहीं निकलते, हथियारों से लैस, गिरोहबन्द होकर ही । गृहस्थी का काम छूटने लगा था । मौत का खूँखार पँजा गाँव में हर जगह मँडराता नजर आता था । पूरा भरतपुर गाँव एक बडे स्मशान के रूप में तब्दील हो गया था । कब किसकी हत्या हो जाएगी, कुछ ठीक नहीं । लोगों की आँखों से नींद उड़ गई थी । ऐसा कोई-कोई ही दिन गुजरता था जिसे दिन गाँव से कोई लाश नहीं निकलती थी । दिन में पूरा सन्नाटा व्याप्त रहता था । लोग कहाँ हैं, पता नहीं चलता । लेकिन रातों में लगता है कि दुनिया-भर के लोग इस गाँव को घेरे खडे हैं । बंदूकें छूटतीं । नारे सुनाई पडता । इस स्थिति से दहशत खा कई लोग गाँव से शहर भाग चले थे ।

ऐसे ही समय में एक दिन रामशरण घर के लिए कुछ आवश्यक सामान खरीदने बाजार गए थे । वे जब बाजार से लौट रहे थे, दिन के बारह बज रहे थे

। उनके साथ और चार-पाँच आदमी थे । सिर्फ दो मील । वे लोग आधी से अधिक दूरी तय कर चुके थे । अब गाँव एकदम करीब ही था । लेकिन अचानक रास्ते के किनारे की झाडियों और गड्ढों से लगभग बीच-पच्चीस आदमी आए और रामशरण और उनके साथियों को घेर लिया । फिर नारे लगाते हुए उन सबों ने रामशरण की हत्या कर दी । उनके साथ के लोगों को छोड दिया ।'[६५]

'जब उनकी आँख खुली, रात का वक्त था । मिट्टी के घर के खपडैल छत वाली एक पुरानी कोठरी में जमीन पर बिछे पुआल पर वह पडा था । उसके पास ही बैठे तीन व्यक्ति सामने रखी किसी चीज को चखते हुए शराब पी रहे थे । आँख खुलते ही उनसे पूछ उठा- 'मैं कहाँ हूँ...? चुन्नो कहाँ है...? आप लोग कौन हैं...?'

जवाब में उनमें एक ने कुटिल हँसी हँसते हुए कहा- 'अब तू सही जगह पहुँच आया है... हसन बाजार के रास्ते से हम तुझे उठा लाए हैं...। यहाँ मेरी चुनो-उन्नो नहीं...!'[६६]

'दलवीर ने भाई के हाथ थाम लिए, घबराने की जरूरत नहीं । हाँ, अब यहाँ आदमी की सुरक्षा नहीं है । खतरा ज्यादा बढ गया है । गुंडागर्दी! जो जितना बदमाश हो, वह उतना ही पुजता है । लठ्ठ के दम पर लोग भैंस हाँके ले जा रहे हैं । ऐसा न होता तो नम्बरदार भीगी बिल्ली की तरह दुबके रहते ? भवानीदास साधजी के बेटों की तामील कर रहे होते ? साँड के आगे बछिया की लाचारी । भवानीदास को भी पता है कि जाटों से उधारी की वसूलियावी करनी है तो डोरिया की ताकत का सहारा लेना पडेगा ।'[६७]

जाति भेद : जाति-व्यवस्था भारतीय समाज की संरचना की आधारशिला

रही है । हजारों वर्षो के काल-चक्रों से गुजरती हुई यह सामाजिक व्यवस्था भारत में आज भी विद्यमान है । इतिहास साक्षी हैं कि भारत में इस जाति-व्यवस्था ने जहाँ एक और हिन्दू समाज एवं संस्कृति को स्थायित्व प्रदान किया है वहीं ऊँच-नीच का निर्धारण, वैवाहिक सम्बन्ध तथा कर्मकाण्ड आदि इसी के परिणाम हैं । इसलिए जाति-व्यवस्था जो कभी भारतीय समाज का आधार बनी थी, वर्तमान परिवेश में एक समस्या होकर नितान्त अवांछित तत्व हो गयी है । आधुनिक शिक्षा, महानगरीकरण, औद्योगीकरण, व्यक्तिवादिता एवं आधुनिकता की विचारधारा के विकास के कारण परम्परागत जाति-व्यवस्था में परिवर्तन की प्रवृतियाँ तेजी से बढने लगी हैं । एक ओर तो जाति-व्यवस्था में शिथिलता आई तो दूसरी ओर जातीय चेतना प्रबल भी हुई है । यह विरोध स्थिति स्वतंत्र भारत की जाति-व्यवस्था की विचित्र उलझन भरी समस्या है । स्वाधीन भारत में जातीय-भेदभाव की समस्या और उग्र हो गई । औद्योगिकता और महानगरीकरण के कारण विभिन्न जाति और प्रांत के लोगों के सह-जीवन के अतिरिक्त देश-विभाजन के कारण विस्थापितों के साथ ने जातीयता के घेरों की संकीर्णता और जटिलता को बढा दिया है । जातीय चेतना अधिक सजग होकर पारस्परिक सौमनस्यपूर्ण सम्बन्धों में बाधक हो जाती है । भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था का दुष्परिणाम केवल शादी-विवाह तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह शैक्षणिक, नैतिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी क्षेत्रों में विद्यमान है।

स्कूलों का शिशु-मानस प्रारम्भ से ही जातिवाद के चंगुल में ग्रस्त हो जाता है जो आगे चलकर जातीय कट्टरता में परिवर्तित हो जाता है। एक ही कक्षा में पढने

वाले बच्चों में जाति के आधार पर भेद कर दिये जाने से उसका मानस ही असमानता की भावना से दूषित बन जाता है । स्कूल में अध्यापक जातिवाद में पारंगत हैं, इसलिए सब कुछ पढाया जाता है, किन्तु शिक्षा नहीं । छात्र भी जाति भेद में 'सध' जाते हैं और वे शिक्षक बनकर अपने गुरुओं की परम्परा का निर्वाह करने लगते हैं। घर में जाति-भेद, समाज में जाति-भेद और विद्यालय में जाति-भेद । इसलिए बचपन से ही जाति के आधार पर आदमी-आदमी में फर्क समझा जाने लगता है। इस प्रकार सामाजिक समानता के मूल्य का विघटन तो परिवार और पाठशाला से ही प्रारम्भ हो जाता है । समाज में जातीय भावना मनुष्य को इतना क्रुर बना देती है कि उसमें मानवीय मूल्यों का ही लोप हो जाता है ।

ग्रामीण इलाकों तथा इस समाज में जहाँ आधुनिक शिक्षा एवं सभ्यता का प्रचार व प्रभाव उतना नहीं हुआ है, जाति-व्यवस्था अपनी पूर्ण कट्टरता के साथ आज भी विद्यमान है । उच्च-जाति को वैसे तो समाज में सम्मान-प्राप्ति का संघर्ष नहीं करना पडता, किन्तु जब निम्न जाति द्वारा अनादर किये जाने अथवा उनके उच्च जाति में सम्मिलित होने का सवाल उठता है, तो उच्च जाति अपनी श्रेष्ठता एवं भिन्नता को बरकरार रखने के लिए समय-समय पर जातीय संगठन को मजबूत करती रहती है ।

जाति व्यवस्था का जोर गाँवों में है, लेकिन वहाँ यह रचनात्मक कार्य करने में उतनी संगठित नहीं है, जितनी छुआ-छुत, अस्पृश्यता या पवित्रता को अपनाये रखने में है । फिर एक ही जाति के लोग आपस में ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य के साथ व्यवहार करते हैं, जो कि जाति की आन्तरिक संरचना को कमजोर कर देता है ।

जाति का अन्तरिक विघटन ही सामाजिकता की भावना के विकसित होने में सबसे बडा बाधक तत्व है । गाँव में जाति व्यवस्था की मान्यता अब व्यक्ति की स्वार्थ पूर्ति के रूप में ही शेष है,इसीलिए अपने स्वार्थ से दूर जब कोई जाति के संगठन एवं कल्याण की बात आती है वहीं व्यक्ति जाति-व्यवस्था से तटस्थ हो जाता है ।

आज की राजनीति तो जातिवाद में बूरी तरह फँसी हुई है । चुनावों में राजनैतिक विचारधारा के आधार पर या व्यक्ति की योग्यता के आधार पर मत प्राप्त नहीं किये जाते, बल्कि जाति के आधार पर चुनाव लडे जाते हैं । जातिवाद, राजनैतिक चुनावों में एक माध्यम बन गया है । अपने 'जाति भाई' के हाथ में ही 'सत्ता' आने को अपनी ही शक्ति वृद्धि मानने वाले तथा उनके नेतृत्व में अपने-आपको अधिक सुरक्षित समझने वाले मुख्यत: निम्न जाति के अशिक्षित वर्ग के लोग इस कार्य में सोत्साह सहयोगी होते हैं । ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योतर भारतीय राजनीति ने जातीय संकीर्णता को बढावा देकर राष्ट्रीयता के व्यापक मूल्य का ह्रास किया है ।

'चाक', 'औरत', 'इदन्नमम', 'बीस बरस', 'यह अन्त नहीं', 'युद्ध स्थल', 'सोन बरसा' आदि अन्तिम दशक के उपन्यासों में ग्रामीण उपन्यासकारों ने गाँवों में विद्यमान जात-पान और भेद-भाव की समस्या को दर्शाया है । इस सन्दर्भ में निम्न उदाहरण उल्लेखनीय हैं-

'फिर पन्नासिंह बोले, 'सो तो लोग कर देते हैं कि दस-पास दलवीर तुमसे लाख गुना अच्छा रहा, तुरन्त नौकरी पा गया । माना कि चमारों को आसानी से नौकरी मिल जाती है, पर पदम सिंह को कलट्टरी! भाई भाग-भोग की बात है । वह

मुकद्दर का धनी है । राजा हो गया जिले भर का ।'[६८]

शेर अली कहता था- 'नए मास्साव को सुनाकर हुकमा कह रहा था- पहला मास्टर खरीक था, यह कुम्हार आ गया । हो गया कल्याण ।

मास्साव ने सुन लिया, वे बोले- हाँ मैं जाति से कुम्हार हूँ और मेरा नाम श्रीधर प्रजापति है । बच्चों, तुम अपना नाम बताओ ।'[६९]

'रंजीत तनाव में कुछ देर चुप पडे रहे । मगर सारंग जब दुखी होती है तो वे खुद को उसका संरक्षक समझने लगते हैं- पिता की तरह उठे, 'तुम यह नहीं जानती की ग्यारह साल नहीं, ग्यारह दिन ही बहुत होते हैं गाँव को समझने के लिए। गाँव की निगाह में तुम रंजीत सिंह जाट की बहू हो, यही तुम्हारी पहचान है । और हम जिस कौम, जिस समाज से जुडे हैं, उससे अलग वजूद नहीं रखते । बिरादरी से बाहर रहकर हमारी क्या औकात? उसके नियम इसलिए जरूरी हैं ।'[७०]

'छोटी कौम का बडा आदमी कुँवरपाल चमार, चारण की तरह उठा, भाट की तरह बोला, 'वाह थानसिंह भइया, वाह! अब आया है ऊँट पहाड तले ।'

झज्जू खटीक सुनते ही तिलमिला गया । उठकर सीधा भागा रंजीत के घर की ओर । क्यों न भागे ? वह रंजीत का हम उम्र है, साथ खेला है, मगर भइया कहकर आदर से बुलाता है ।

भइया, यकीन न करो तो पढवइया बालकों से पूछ लेना । थानसिंह ज्यादा ही जात पर आ रहा है । हो गया बरी हाई कोट से! पहले सैसन को तो भुगत ले। डींगें हाँकता है रौब-रुतबा गालिब करने को ! और वह चमरा का, बाँस में पाँव बाँधकर कूद रहा है वहाँ साला जुत पोंछा!'[७१]

'श्रीधर प्रजापति!'

लोगों ने कहा- प्रजापति का मतलब? कुम्हार। हाँ, मेरी जाति कुम्हार है, वे सगर्व कहते हैं ।

सारंग का विचार है, मास्टर छोटी कौम का होने के बावजूद भी कुंठा का शिकार नहीं । भँवर ने अनुमोदन किया- हाँ, 'छोटी कौम बडी कौम' का नारा गाँवों में ही लगाते रहो, शहरों में तो सब धान सताईस सेर के । कौन पूछता है कि तू पंडित है या भंगी ?'[७२]

'प्रधानजी आकर स्कूल में कुर्सी पर बैठ गए, बोले, प्रजापतिजी की जाति ?

कटाक्ष को समझ लिया श्रीधर ने, बोले, 'कुम्हार' । मैं कुम्हार का बेटा हूँ, जो चाक चलाकर बर्तन बनाता था, और आप जैसे किसानों के घर की पूर्ति करता था ।'[७३]

'थानसिंह अपने भाइयों के साथ दनदनाता आया, 'साले की मश्कें बँधवा दूँगा । समझता क्या है? हमारी बिल्ली, हमसे ही म्याऊँ! कुम्हारटा की हिम्मत तो देखो, हुकमा पर हाथ छोड गया!'[७४]

'तुम जानना चाहते ही हो तो सुनो- सोनवाँ मेरे बचपन की साथी थी । माना उनकी जात छोटी है । वे ठाकुर, ब्राह्मण नहीं हैं । वह दुसाध हैं । ठीक है, ठीक है । बीच में मत टोको । दुसाध चमार की तरह नीच नहीं माने जाते हैं । तुम समाजशास्त्री तो यह भी नहीं जानते होंगे कि दुसाध है क्या? क्योंकि सोसियोलॉजी के लिए इतिहास तो अब भी कम्पलसरी नहीं बना है न । प्राचीन भारत में हर बडे राजा के पास एक ऐसी कोतल सेना होती थी जो दुश्मन पर हमला करने को तब

भेजी जाती थी जब सामान्य सेना हार जाती थी । इसे दुस्साधिक कहते थे । छोडो वरना तुम कहोगे कि मैं हिस्ट्री पढाने लगा । हाँ, तो सोनवा दुसाध थी । आजकल के गाँवो की अछूत कहलाने वाली दुसाध जाति की लडकी । वह मेरे साथ पढती थी ।'[७५]

'कौन-सा सत्य?' मैने पूछा ।

'वही-सबसे कठिन जात अपमाना ।'

'अभी-भी ब्राह्मण, क्षत्रिय जात को कोट की तरह नहीं, चमडे की तरह चिपटाये हुए हैं । कितना दु:ख होता है । इन्हें बताना बहुत मुश्किल है दोस्त । मैं कभी सोचता हूँ कि होठों पर टेप चिपका लूँ । न होंठ हिलेंगे, न मैं कोई व्यंग्य करूँगा । आज भी किसी तिवारी को गाली दे दो तो सारे देहात के ब्राह्मण इसे अपमान मानकर तुमसे बदला लेंगे । छोडेंगे नहीं । अपने बटेसर गाँव में हैं शिवशंकर तिवारी । मैं उन्हें चिढाने के लिए कहता हूँ कि तिवारी चाचा आप तो बेकार ब्राह्मण कहलाते हैं। हैं नहीं ।'

'बुड्ढा गुस्से में कहता है- हम का हैं, तू यही समझने जोग होता हरामी तू अइसे कुजात रजपूत नाहीं कहलाता । मैं ब्राह्मण नाही हूँ, बोल का हूँ । चमार हूँ ? दुसाध हूँ?'

'तिवारी बाबा तुम बनिया हो । हर चीज को अपने झूठे तराजू पर नापते हो । बिना हिचक सत्य को छुपाकर स्वार्थ के पक्ष में दुलक जाते हो । तुम्हारे तराजू में पसंगा भी है और तुम डांडी मारने में भी बेजोडो ।'[७६]

'तिवारी चाचा, आपको तो मालूम है ही कि मैं राजपूत नहीं हूँ कुजात हूँ,

यानी हरिजन, दूसरे यह कि आपकी ओर मेरे चाचा सोबरनराय की दाँत- काटी रोटी की मैत्री है । इसमें आप गुण-दोष के आधार पर अगर सही निर्णय करने की हिम्मत रखते हों तभी बात करूँ । वरना कुजात के कारण आपको भ्रष्टता मिलेगी और भिन्न-द्रोही का स्वागत करने के कारण अपने जिगरी दोस्त सोबरनराय से अपमानित होना पडेगा ।'

'कौन साला कहता है कि शिवेन्द्र कुजात है । कहीं आग भी छिपाए छिपती है । शिवेन्द्र के चेहरे पर लिखा है प्रताप । हाँ, लपट जो कैसे सबको जला देती है, इसमें गिरकर बिष्ठा भी भस्म हो जाती है । शिवेन्द्र में जात-कुजात कैसे अँटेगी भैया ।'[७७]

'आज भी बसोर बडी जात के कुएँ पर नहीं चढते । नीचे कीचड-काँद में बसोरिनें गगरी टिकाये बैठी रहती हैं । फुरसत पडने पर भरे जाते हैं उनके धैला-गगरी । घंटों बैठी बतियाती रहती हैं पनिहारिनों से । और फिर वे ही पहुँचाती हैं बातों का ओर-छोर हर घर में ।

हाँ, चमारों ने अवस्स कुएँ बनवा लिए हैं, सो भी गाँव बाहर ।'[७८]

पास बैठा साथी तम्बाकू खाये दाँतों से खीं-खीं करके हँसने लगा, 'देखो तो कैसी पुजरिन समझ रही है खुद को ! तुलसिनियाँ, रहेगी तो तें राउतिन ही । हमारी जात की । तोय वामन नहीं कह देगा कोई ।'

तुलसिन बेपरवाही से बोली, 'अरे न करे कोई । पर सात दिना तक तो हमें वामन ही रहना है । तें काहे कुढ रहा है । नहाते-सपरते हैं, भागवत सुनते हैं तो वामन ही हुए ।'[७९]

'बुंतु और नरोतम ने जो तथ्य संग्रहीत किए उसके अनुसार जोखन कहार पिता और रजवारिन माता से पैदा हुआ था । हालाँकि रजवार और कहार एक-दूसरे से मिलती-जुलती जातियाँ थीं, लेकिन समाज में दोनों की अलग पहचान थी । उनमें एक-दूसरे के साथ शादी-ब्याह का प्रचलन नहीं था । वैसे दोनों एक जनमिहाँ नहीं, दो जनमिहाँ ही जातियाँ थीं (जिस जाति में पति के मरने के बाद पत्नी दूसरी शादी नहीं करती, वह एक जनमिहाँ जाति मानी जाती है । इसके विपरीत पति की मृत्यु के बाद जिस जाति की स्त्री दूसरी शादी कर लेती है वह दो जनमिहाँ जाति होती है ।)

जाति के आधार पर जोखन को नकारने का विचार नरोतम और उसके परिवार को वाजिब नहीं जान पडा । जोखन का बाप अगर रजवार होता तो वह बात सोचने वाली होती। बाप तो असली कहार था । फिर माँ के रजवाहिन होने से क्या? जाति और वंश तो बाप से चलता है ? अपने गाँव और जवार में जोखन कहार के रूप में ही प्रसिद्ध है, रजवार के रूप में नहीं । उनकी मयभामतारी भी तो कहारिन ही है । यह कोई बडी बात नहीं । इसे अनदेखा कर उन्हें शादी करनी है । ऐसी शादियाँ होती रही हैं ।'[८०]

'इन्द्रासन श्रीवास्तव ने अनुभव किया है कि सचमुच बडटोली की उच्च जाति वाले उन्हें अपनी जातिगत श्रेष्ठता के समकक्ष नहीं मानते । शायद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र इन चारों से अलग की उनकी उत्पति ही इसका कारण हो । यह ठीक है कि उनका घर बडटोली में है और बडटोली के लोगों के साथ ही उनका उठना-बैठना है, लेकिन जातिगत संग-साथ और भाव-बोध में सदैव उन्हें हेय समझा

जाता रहा है । उधर नन्हटोली वाले भी उन्हें अपनी तरह पिछडा नहीं मानते और न बडटोली की अन्य जातियों की भाँति अगडा ही...। वे भी उनसे दूरी बनाए ही रहते । पर अगडों-पिछडों में जब संघर्ष छिडता तो वे उन्हें अगडा ही समझते...। उनकी नजर में उनका खान-पान, रहन-सहन और सुविधा सम्पन्नता अगडों की पाँति में उन्हें बैठा देती थी ।

कभी-कभी इन्द्रासन श्रीवास्तव को अपने पुरखों पर भी गुस्सा आता था कि इस गाँव में अल्पसंख्यक होते हुए भी वे क्यों बस गए...? जो जो गाँव उनकी जाति-बहुल था वहीं बसे होते तो आज ऐसी हीन और अपमानजनक स्थिति उनकी नहीं होती । फिर उन्हें इस बात पर भी दु:ख होता कि वे इस कायस्थ बिरादरी में ही क्यों पैदा हुए, जो चाहे लाख समझदार हो, लेकिन लठैतधारी नहीं तो आज के ग्रामीण समाज के लिए तनिक भी उपयुक्त नहीं...। आज वे किसी दबंग जाति के होते तो वे भी अपनी मूँछों पर ताव देते हुए शान से इस गाँव में रहते । तब न कोई उनकी खेती उजाडता और न उनके यहाँ चोरी-डकैती करता । खेल से खलिहान और घर तक उनकी मस्ती और तूती गूँजती रहती । दरवाजे पर बैलों के साथ लगहर झूलती रहती । घर के कोठ-भाँड अनाज से भरे होते। गाँव के समाज में अपनी मान-मरजाद कायम रहती । तब शाम धिरते ही वे आशंकित-आतंकित भी नहीं होते । तब शहर में किसी कारण वश रुक जाने पर गाँव की चिन्ता उन्हें नहीं सताती...। तब गाँव में रहने का वास्तविक सुख वे पा रहे होते । लेकिन यह उनके भाग्य की विडम्बना थी कि उनका मन तो ग्रामवासी था, लेकिन जाति शहरवासी। वे गाँव छोडना नहीं चाहते थे, पर गाँव उन्हें जमने देने को तैयार नहीं था । इसी

कशमकश में एक-एक दिन कटता जा रहा था...।

उन्होंने देखा था कि सचमुच जिस गाँव में जिस जाति के लोग ज्यादा थे, उस गाँव में उसी जाति का वर्चस्व था और उन्हीं की खेती उन्नत और विकसीत थी । उन्होंने ऐसे गाँव को भी देखा था जो गाँव पिछडा-बहुल थे और जिसमें अगडों की संख्या दो-चार थी । उन गाँवों में न चाहते हुए भी अगडों को पिछडों की दबंगई सहनी पडती थी । अपने इस रघुनाथपुर की तरह भी कई गाँव उन्होंने ऐसे देखे थे जिनमें अगडों के बीच के अल्पसंख्यक-अगडे उनकी तरह ही उपेक्षित थे और इसी भाँति पिछडों के बीच के अल्पसंख्यक पिछडे भी ।'[८१]

'बाहर से देखने वालों को बडटोली और नन्हटोली के आधार पर रघुनाथपुर में बडी और छोटी दो ही जातियों का बोध होता था । लेकिन अन्दर की स्थिति कुछ और थी । बडी और छोटी जातियों के बीच भी ऐसी अनेक जातियाँ थीं, जो जातिगत धरातल पर एक-दूसरे से बडी और छोटी की दूरी बनाकर जीती थीं । बडी जातियों के ब्राह्मण, राजपूत और भूमिहार आपस में यह तय नहीं कर पाते कि उनके बीच बडा कौन है और छोटा कौन है...? ब्राह्मण और भूमिहार को लेकर तो रघुनाथपुर में काफी अनबन भी थी । जहाँ रघुनाथपुर के ब्राह्मण, भूमिहार को एक स्वतंत्र जाति मानते थे वहाँ भूमिहार अपने को ब्राह्मण घोषित कर अपने पूजापाठ आदि के कार्य स्वयं सम्पन्न करते । इसी भाँति छोटी जातियों के बीच भी पर्याप्त जातिगत दूरियाँ थीं । कोरी, कुरमी, यादव और बनिया अन्य छोटी जातियों से अपने को पृथक् महसूस करते...। छोटी जातियों के बीच के डोम, चमार, दुसाध और मसहर सबसे छोटे समझे जाते...। डोम-चमार का बनाया कोई नहीं खाता..।

डोम-चमार भी सबका बनाया खा लेते, लेकिन धोबी का बनाया वे भी नहीं खाते। धोबी को वे अपने से भी निकृष्ट जाति का समझते...।

रघुनाथपुर की विभिन्न जातियों की जातिगत विशेषताएँ और रीति-रिवाज भी एक-दूसरे से कुछ पृथक् थे । लोगों के गुण-दोष निर्धारण में उनकी जाति को पहले स्थान पर रखा जाता था । यह उस जाति का है तो वैसा होगा ही, इस मान्यता पर लोग डटे रहते।

रघुनाथपुर की जातियों में कायस्थ जाति की पृथकता कुछ दूसरे ढंग की थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र इन चार वर्णों से अलग होने के चलते कायस्थ जाति की आन्तरिक पहचान भी अलग थी । वर्णों का निर्धारण करनेवाले शास्त्रों ने तपस्यारत ब्रह्मा की काया से पैदा हुए कायस्थ को अपने वर्णों से अलग ही रखा था । शास्त्रों के अनुसार कायस्थ जाति के आदि पुरुष श्री चित्रगुप्त महाराज थे जिन्हें कायस्थ अपना आराध्य मानते थे । हाथ में कलम-दबात लिये श्री चित्रगुप्त महाराज को ब्रह्मा जी ने धर्म और अधर्म के विचार के लिए पृथ्वी पर भेजा था । अपने आराध्य की परम्परा में समाज में कायस्थ जाति के लोगों ने ही लिखने-पढने का काम शुरू किया था । कागज और कलम को ही अपना साध्य और साधन मानने वाले कायस्थ राजदरबारों के लेखक होने से लेकर गाँवो के पटवारी, सेठों के मुनीम और कार्यालयों के बाबू होते चले गए थे । रघुनाथपुर का भी पहला ग्रेजुएट और शहर में नौकरी पाने वाला पहला 'नौकरिहा' यहाँ के कायस्थ परिवार का ही एक व्यक्ति था । हालाँकि बदलते समय के अनुसार पढ-लिखकर नौकरी पकडने का काम सिर्फ कायस्थ जाति तक ही सीमित नहीं रहा । अब तो सुविधा-सहुलियत

और पहुँच-सामर्थ्य के अनुसार कायस्थ की अपेक्षा दूसरी जाति वाले नौकरियों में ज्यादा जाने लगे थे । फिर भी कायस्थ जातिधारी अपने इस जातिगत पेश के लिए प्रयासरत रहते । इस स्थिति में वे कहीं-न-कहीं लग ही जाते । जो नहीं लगते वे अन्य व्यवसाय या खेती में बने रहते । कुछ वैसे भी होते जो नौकरी करते हुए भी अपने पुश्तैनी खेतों की देखभाल कर रहे होते । रघुनाथपुर के इन्द्रासन श्रीवास्तव वैसे ही कायस्थ थे...!'[८२]

'आज बहुत दिनों बाद यह पत्र आपको लिखा । महाराज के आश्रम से भाग आया था । पता नहीं क्यों लगा कि डाक्टरी के कोर्स को अधुरा छोडकर मैं पलायन कर गया था, उस चुनौती को स्वीकार करूँ ।'

'क्यों छोड आया था, इसकी तथा लम्बी है । फिर भी बताती होगी ।'

'कारण था अनुसूचित जाति । साथी हेय दृष्टि से देखते थे । बातें करते समय अभद्र सम्बोधनों का प्रयोग करते थे ।'

'यद्यपि मुझे आरक्षण के तहत सीट नहीं मिली थी, मैंने तो सामान्य छात्रों में प्रतियोगीता के बल पर प्रवेश पाया था । हरिजन होने का प्रमाण-पत्र नहीं लगाया था ।'

'असल में हरिजनों को देखते ही कॉलिज में और कॉलिज के बाहर लोग एक धारणा कायम कर लेते हैं कि निश्चित ही यह छात्र आरक्षण से आया है ।.... और फिर होती है अन्दरूनी बैर की शुरुआत, जिसमें उपेक्षा, ईष्या, द्वेष और कुंठाएँ पनपने लगती हैं ।'

'मुझसे सहन नहीं हो सका तिरस्कार ।'

'मेडिकल की पहली परीक्षा में ही जब मैं प्रथम आया तो उच्चवर्णी लडके बैर मानने लगे । नीचा दिखाने की जुगत में लगे रहते । हमारे पुश्तैनी पेशे का धृणित रूप में बखान करते ।'

'मेरे सामने पॉलिश के लिए जूतों का ढेर रख दिया जाता । हॉस्टल में रिवाज-सा चल पडा कि जो धोबी जाति से हो, कपडे धुलाओ, कहार हो, बर्तन मँजवाओ और चमार हो तो...।'

'शिकायत करने की बात कहता तो बुरी तरह पीटते ।'

'मेरे प्रतिरोध करने पर एक लडके ने मेरी उँगलियाँ पर ब्लेड चला दिया । मैं पीडा से चीखूँ उसके पहले मेरा मुख भींच दिया ।'

'वार्डन ने सुना तो वे दौड आये ।'

'दण्ड के तौर पर अपराधी लडके के विरुद्ध कार्यवाही की जो कॉलेज में हडताल हो गयी । वॉर्डन से मॉफी मँगवाई गई ।'

''यह न्याय-अन्याय की बात मेरी समझ के बाहर थी । जिस ग्रामीण इण्टर कॉलिज से में पढ कर आया था, वहाँ ऐसा भेद-भाव कतई न था । हमारे अध्यापक किसी भी बुद्धिमान और परिश्रमी बालक को सिर-आँखों रखते ।'

'शहर, जहाँ शिक्षा का प्रसार-प्रचार है, जहाँ प्रबुद्ध लोग रहते हैं, वहाँ इतना भेद-भाव । रात में बैचेन रहता । दिन में भी उखडा-उखडा सा फिरता । इसी तरह तिरस्कार रहना है तो पढकर भी क्यो होगा? दलित दर्जे से एक भी ऊपर सीढी चढने की आज्ञा न अनपढ को है न पढे-लिखों को ।'

'विद्या, शिक्षा आदमी को पशु से अलग करती है, ज्ञान उसको ब्रह्म के पास

पहुँचाता है तो फिर यहाँ अपवाद क्यों ?'[८३]

'कुछ ही महीनों पहले की बात है जब अजय पटना से घर आते ही जगेसर राम के यहाँ चला गया है । जगेसर राम की बेटी पटना में ही पढती थी जिसका अजय हालचाल लिया करता था और मौके-बे-मौके उसकी मदद भी करता था । रूपाली नामक वह हरिजन बाला देखने में सामान्य थी, पर उसमें उत्कृष्ट प्रतिभा थी। वह सदा कक्षा में अव्वल आती और ऊँचे मनोभावों के साथ व्यवहार करती । जगेसर के हाथ अजय ने रूपाली की चिट्ठी क्या दे दी और वहाँ वह चारपाई पर क्या बैठ गया, गाँव-भर में हो-हल्ला मच गया । ब्राह्मण समुदाय में इस घटना की तीव्र प्रतिक्रिया हुई । लोगों ने तरह-तरह से कृष्णकांत मिश्र को जलील करने की कोशिश की । उन्हें गाँव से निकालने तक की धमकी दी गई । कहा गया कि इससे ब्राह्मणों की नाक कट गई है । अब घोर कलियुग आ गया है । आज के बाद अजय और उसके परिवार से देह छुलाना भी पाप है । बातें और हल्ला हुआ कि अजय जगेसर के घर खाता-पीता भी है । वह ब्राह्मण ही नहीं रह गया है । कृष्णकांत मिश्र के चुप रहने और अजय के तत्काल ही पटना लौट जाने पर ही यह मामला ठंडा हुआ वरना जाने क्या हो जाता !'[८४]

मनसुख की बैठक में से आया एक व्यक्ति आपसी विचार-विमर्श के लिए एक घटना सुनाता है, 'बात विक्रमगंज कस्बे की है । वहाँ स्टेशन के पास एक पंजाबी होटल है । अभी हाल ही में एक दिन उस होटल में वहाँ की ऊँची जाति के कुछ लोग खाना खाने बैठे थे कि उसी समय वहाँ के कुछ डोम उस होटल में आ पहुँचे। डोमों ने आते ही होटल मालिक को खाना लगाने का आर्डर दिया । 'लेकिन होटल

के मालिक ने डोमों को समझाया, 'बाबू लोगों को खाकर चले जाने दो, इसके बाद तुम सब खाना । बाबू लोगों के साथ बैठकर तुम सब खाओगे, यह उचित नहीं होगा। बाबू लोग इसे सह नहीं पाएँगे। बात अनजाने में होती तो कोई बात नहीं थी, लेकिन जानबूझकर कोई मक्खी कैसे निकलेगा?'

'इस पर डोम होटल के मालिक पर बिगड पडे । वे युवा थे । उनके अन्दर नया खून था । उन्होंने होटल मालिक से कहा, होटल में भेद-भाव कैसा? जो पैसा देगा, वह खाएगा । जल्दी खाना लगाओं, नहीं तो तुम्हारी हंडी-तसली उठाकर सडक पर फेंक देंगे।'

'होटल का मालिक चिन्तित हो गया । अपरिचित ग्राहकों के आने पर वह आसानी से निपट लेता था, लेकिन स्थानीय और एक-दूसरे से परिचित लोग आकर उसे मुसीबत में डाल देते थे । होटल का मालिक जानता था, अगर डोमों को वह बाबू लोगों के साथ खिलाता है तो ये डोम उसे बेइज़्ज़त करेंगे । लेकिन इसी वक्त होटल के मालिक को एक बात सूझी । वह डोमों को बिठाकर अपने होटल के बगल वाले धोबी के पास पहुँचा । धोबी को समझा-बुझाकर अपने साथ ले आया। अब होटल का मालिक अलग बैठ गया । उसे समझाए अनुसार धोबी डोमों को खाना परोसने लगा । लेकिन यह क्या? धोबी द्वारा खाना परोसा जाता देख डोम गाली बकते हुए उठ खडे हुए । वे धोबी को पहचानते थे ।' होटल के मालिक पर बरसते हुए बोले, 'साला! हमारा खाना धोबी से परसवाता है... हमारा धर्म बिगाडता है... हम धोबी काछुआ नहीं खाएँगे... कमीना! हरामजादा'! बदमाश!'

'होटल के मालिक को मन-ही-मन खुशी हुई । वह सुनता रहा, डोम उसे गालियाँ बकते हुए वहाँ से चले गये ।'[८५]

'यह सब ठीक है सर । आप जो कह रहे हैं वही मैं भी कहता हूँ उन लोगों से जो केवल जाति-पाँत के आधार पर बडे बने हुए हैं, और चाहते हैं कि हम लोग उनके सामने छोटे बने रहें, घुटने टेके रहें, रिरियाते बिलबिलाते रहें । मैं अपने लोगों को सिखाता हूँ कि तुम किसी से छोटे नहीं हो । तुम लोग अपनी मेहनत की कमाई खाते हो, फिर किसी के आगे झुकने का क्या मतलब ? वे भी इन्सान हैं, तुम भी इंसान हो । तुम्हें सारे इंसानी हक मिलने ही चाहिए । अपने बच्चों को पढाओ-लिखाओ और स्वाभिमान से जियो ।'

'हमें मालूम है अजय, सब मालूम है । पर हमारे लिए इसका कोई मतलब नहीं है।'

'क्यों?'

'इसलिए कि हम कभी एक साथ खडे नहीं हो सकते ।'

'क्यों?'

'क्योंकि तुम ब्राह्मण हो और मैं हरिजन ।'

'इससे क्या होता है ?'

'सबस कुछ इसी से होता है । तुम जानते हुए भी अनजान क्यों बत रहे हो?'

'मैं इसकी परवाह नहीं करता ।'

'लेकिन मैं तो करती हूँ ।'

'तुम करो, मैं यह नहीं करता कि वही करो जो मैं चाहता हूँ ।'[८६]

परिवर्तित सांस्कृतिक परिवेश : संस्कृति में विश्वास, विचार, प्रथाएँ, कानून,

आदर्श, कला और निपुणता आदि समाहित हैं । इसमें सम्पूर्ण जीवन के तरीके, मानवकृत सामाजिक पर्यावरण भी आता है । ग्रामीण कलाएँ, पर्व, त्यौहार, संस्कार, रूढियों, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, खेलकूद आदि के योग से संस्कृति बनती है । संस्कृति ही वह आधार है, जिसके माध्यम से व्यक्ति ज्ञान, कला, नैतिकता, प्रथाएँ एवं परम्पराएँ सीखता है । हमारी संस्कृति का मूल स्त्रोत कृषि है । हमारा सारा सांस्कृतिक प्रसार कृषि और ग्राम जीवन में ही परिव्याप्त है ।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, संस्कृति सभ्यता का प्रतिसाद है । हमारे रहने तथा सोचने के तरीकों में, रोज की अन्तरक्रियाओं में, कला में, साहित्य में, धर्म में, मनोरंजन तथा आनोद-प्रमोद में संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है ।'[८७]

रॉवर्ट वीरस्टीड के अनुसार- 'संस्कृति वह सम्पूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित है जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं ।'[८८]

गिलिन एवं गिलिन ने कहा है 'संस्कृति प्रत्येक समूह तथा प्रत्येक समाज में (आन्तरिक एवं बाह्य) व्यवहार के ऐसे प्रतिमानों का समूह होता है जो न्यूनाधिक रूप से सदस्यों में सामान्य होते हैं, जो एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तांतरित होते हैं तथा बच्चों को सिखाये जाते हैं और जिनमें निरन्तर परिवर्तन की सम्भावना बनी रहती है इन सामान्य प्रतिमानों को संस्कृति कहा जाता है ।'[८९]

वर्तमान ग्रामीण संस्कृति में परिवर्तन की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है । अन्तिम दशक के अनेक उपन्यासों में इस विषय का यथार्थ चित्रण किया गया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'गाँव आज आरक्षित हैं । रक्षा की दृष्टि से भाग्यहीन हैं । दिनदहाडे डाके पड जाते हैं । रक्षा की बात क्या! थाना पुलिस एक तो दूर हैं, दूसरे आए भी तो भोले-भाले ग्रामीण परेशान ही अधिक होते हैं । गरीब रक्षा करने में कई कारणों से असमर्थ होता है । आज वह पूर्णतया भगवान के भरोसे जी रहा है । खेलकूद के सार्वजनिक स्थान खेत बन रहे हैं । चकबंदी हुई और खेल के मैदान निर्धारित हुए सो आज खलिहान बन गए । दबंगों ने उसे तंग करना शुरू किया । पार्क और टाउनहाल जैसी चीजें यहाँ कहाँ? सभा-सोसाइटी स्वप्न है । सर्वत्र स्वार्थ का सन्नाटा । अब तो लोग एक-दूसरे की सहायता करने में भी जी चुराते हैं । उच्च कोटि की शिक्षा, शिक्षक, शिक्षण का वातावरण, साधन और समाज यहाँ कतई नहीं । यहाँ पुरातन सभ्यता के खंडहर हैं, जिसमें चमगादड और छिपकली की तरह चिपके मानव हैं । शहर वालों की धूर्तता, पाखंडाचार और मिथ्यावादिता यहाँ आ गई । गाँव वालों के हाथ कट गए ।'[९०]

'मैंने मंजुल से कहा था- 'गाँव वाले पहले की ही तरह किसी के आने पर इकट्ठा होकर उनको स्नेह-सम्मान देते हैं ।'

मंजुल मुस्कराया था ।

'क्यों, मुस्करा क्यों रहे हो ?'

'चाचाजी, अब वह बात रही नहीं । राजनीति के कारण गाँव में इतना अकेलापन आ गया है कि पूछिए मत । तीज-त्यौहार, शादी-ब्याह, जनम-मरण सभी अवसरों पर लोग बहुत अकेले दिखाई पड रहे हैं । कोई किसी के साथ नहीं होता । बस दो-चार बहुत सगे या दोस्त एकत्र हो जाते हैं ।'[९१]

'अंगद भाई के साथ गाँव में से निकल रहा था । लोग मुस्कराकर देख रहे थे ।'

'का बात है अंगद भाई, आज जहाँ से जाओ, लोगों की नजर आप पर ही टिक रही है और लोग आपको देख-देख कर मुस्करा रहे हैं ।

'अरे तुम नहीं समझोगे इस गाँव का चरित्तर । बडा गहरा गाँव है यह । ये साले न मुझे देख रहे हैं न मुझ पर हँस रहे है । ये देख यह रहे हैं कि दामोदर जैसे पढे-लिखे और बडे आदमी को इस गाँव में जोडीदार यह लठ आदमी ही मिला है । राममिलाई जोडी वाले तर्ज पर ये हमें देखकर हँस रहे हैं ।'

'नहीं ऐसा नहीं होगा अंगद भाई ।'

'नहीं, नहीं, ऐसा ही है दामोदर । जब आप यहाँ थे तो गाँव थोडा अलग था, अब तो बहुत पेचीदा हो गया है । मैं इसकी नस-नस पहचानता हूँ ।'[९२]

'बाद की पीढी में पढे-लिखे निकले । पढे-लिखे लोग तो और भी शरीफ माने जाते हैं । कोई नौकरी पाकर लायक हो गया और कुछ पैसे एकत्र कर गाँव में तनाव पैदा करने लगा, विशिष्ट व्यक्ति होने का अहंकार पालने लगा । जिन्हें नौकरी नहीं मिली वे राजनीति में घुस गये और राजनीति की दलाली करते हुए गाँव-जवार में भेद-भाव, कलह और आपनी टकराहटें पैदा करने लगे । कुछ लोग जिन्हें आस-पास के स्कूलों और कालेजों में नौकरी मिली या सरकारी संस्थानों से जुडे वे तो अपने दायित्व का पालन कम राजनीति ज्यादा करने लगे । अपने राजनीतिक प्रभाव से पेशेगत दायित्वहीनता को तोपते हुए दलगत ही नहीं गाँव में गृहगत टकराहटें भी पैदा करने लगे और देखते-देखते गाँव की सांस्कृतिक और सामाजिक इकाई छिन्न-भिन्न होकर टुकडों में बिखर गयी ।

आज मैंने देखा था कि अंगद भाई को मेरे साथ देखकर वे ही लोग मुस्करा रहे थे जो या तो शरीफ बनकर ग्रामीण वातावरण में प्रदूषण फेला रहे हैं या सभ्य तो हैं किन्तु समाज के लिए निष्क्रिय हैं । उन्हें केवल अपनी खेती-बारी, नौकरी-चाकरी और बैंक-बैलेंस से मतलब है । डाक्टर साहब जैसे लोग उन्हीं लोगों में से हैं । वे होली में कहीं दिखाई नहीं पडे, दवा की पुडिया बाँधते और गाय का दूध दुहते रह गये । वकील के बेटे ने सम्मति उखाडकर फेंक दी और लंठ बागडे ने अपनी बाँस कोठी के पास सम्मति गडवा कर परम्परा की । मर-मर कर पैसे बटोरने वाले रिटायर्ड क्लर्क शिवकुमार होली के दिन अपने किसी और जुगाड में बाहर गये हुए रहे । मास्टर लोग होली के दिन भी या तो गाँव और स्कूल की राजनीति में जुटे रहे ये अपने खेतों में धँसे रहे । होली मनाने बाहर से आये हुए अनेक कमासुत अपने दरवाजे पर तने बैठे रहे । प्राइमरी मिडिल स्कूल में पढने वाले बच्चे तो अभी कच्चे हैं, वे होली जलने के दिन पंचगोइठी माँगते और होली के दिन भी धूल माटी और रंग से खेलते रहे, गाते-बजाते रहे किन्तु कालेज में पहुँच गये लडकों को अपनी विशिष्टता का बोध था वे अपनी विशिष्टता की पहचान बनाये हुए तटस्थ रहे और होली खेलने वालों पर हौले-हौले मुस्कराते रहे ।'[९३]

परिवर्तित आर्थिक परिवेश : ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मूल आधार कृषि है । कृषि के चारों और ही सम्पूर्ण ग्रामीण आर्थिक और सामाजीक संरचना केन्द्रित है । सभी ग्रामीण व्यवसाय कृषि से सम्बन्धित और जाति पर आधारित रहे हैं । कृषि गाँव का प्रमुख व्यवसाय है । स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के अनुसार- 'कृषि हमारे सभी विकासात्मक कार्यों का आधार है । यदि हम कृषि

के क्षेत्र में पिछड जाते हैं तो इस बात के कोई मायने नहीं होते कि हमने और क्या हासिल किया? क्योंकि कृषि के विकास के बिना हमारा आर्थिक विकास अधूरा ही होगा ।'[९४]

भारत कृषिप्रधान देश होते हुए और विकास की धुरी कृषि होते हुए भी १९८०-८१ में देश के कुल पूँजी निवेश का केवल १८.८६ प्रतिशत कृषि के क्षेत्र में निवेश किया गया। १९८९-९० में १९९४-९५ की आठवीं पंचवर्षीय योजना में यह निवेश और गिरकर १०.८५ प्रतिशत पर आ गया । सार्वजनिक पूँजी निवेश कृषि में हर वर्ष गिरता गया है और यही कारण है कि आठवीं पंचवर्षीय योजना के ग्रामीण विकास के मूलभूत ढाँचे के लक्ष्य प्राप्त करने में सरकारें पूर्णरूप से विफल रहीं ।

अन्तिम दशक के हिन्दी उपन्यासों में ग्रामीण आर्थिक परिवेश में आये परिवर्तन को दर्शाया गया है । उपन्यास के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं-

'अरे चाचाजी, आप कब की बात कर रहे हैं । यह हम लोगों के लिए बडे संकट का समय होता है, मजूर मिलते ही नहीं । हरिजनों के सारे नये लडके कुछ अकेले, कुछ सपरिवार कमाने-घमाने बाहर चले गये हैं । वहाँ से पैसे भेजते रहते हैं और जब जाडों में गरीब ब्राह्मणों के घर उपवास होते हैं तब भी वे ठीक-ठाक चलते रहते हैं । हरिजन बस्ती में बच गये हैं बूढे, बच्चे और कुछ औरतें । कटिया के दिनों में उनके लिए छीन-झपट, झगडा-फसाद और कभी-कभी मारपीट भी चलती रहती है । इस बडे गाँव के खेतों की कटिया के लिए उनकी संख्या नगण्य हो गयी है । जो ब्राह्मण काम-धाम करने में समर्थ हैं और जिनके घरों में काम करने वालों की संख्या अधिक है वे तो स्वयं अपना काम निबटा लेते हैं, बाकी लोग हैरान

हो जाते हैं । ये हरिजन उन्हीं की सुनते हैं जो या तो उन्हें खूब खिलाते-पिलाते हैं, या जिनके हाथ में शक्ति है । अब देखिए और किसी को मजदूरी का अकाल भले ही पडे किन्तु सभापति को नहीं पडता । वे आतंकित भी कर सकते हैं और ओब्जाइज भी । उनका यह उन जैसों का काम समय से हो जाता है बाकी लोगों का काम गिरते-पडते अन्त में होता है ।'

'अच्छा ।'

'और मजूरी भी इतनी बढ गयी है कि मामूली लोगों को मजूरी कराने की हिम्मत ही नहीं होती है ।'

'मजूरी तो खैर बढनी ही थी । हर जगह बढ गयी है । महँगाई तेजी से बढ रही है। आखिर मजूर नहीं बढायेंगे तो महँगाई का मुकाबला कहाँ से करेंगे ?'

'हाँ लेकिन गाँव में जिनके यहाँ बाहर की कोई आमदनी नहीं है वे कैसे मुकाबला करेंगे ?'

'हाँ यह भी ठीक है । लेकिन उनकी मजदूरी से मजदूरी तो मजबूर नहीं हैं। वे मेहनत कर रहे हैं तो कराने वाला मजदूरी चाहे जहाँ से दे ।'

'हाँ देना ही पडता है । इन सवों की भी युनियन बन गयी है । युनियन ही मजदूरी तय करती है । किसी को छूट नहीं कि यूनियन द्वारा तय की गयी मजदूरी से कम ले । इसलिए कोई उन्हें फोड-फाँस भी नहीं पाता ।'[९५]

'सुभाष अवाक् सा मुझे देख रहा था । 'और मानते हो सुभाष यह खलिहान अर्थ और संस्कृति का अद्भुत संगम हुआ करता था । पूरे गाँवकी जीविका डाँठों के रूप में पास-पास खडी होती थी और उसके साहचर्य की ऊष्मा में कई-कई

लोग रात को चैता गा उठते थे । सोने से पहले कुछ देर तक कई लोग किस्से सुनते, सुनाते थे, गप्पे हाँकते थे, हँसी-मजाक करते थे और रातों को उठ-उठकर अनाज खाते पशुओं को हाँकते हट्ट-हट्ट की एक लय बनी रहती थी । सुभाष मेरा बडा मन है कि इस बार खलिहान में साऊँ और कुछ पुरानी यादें जीवित कर लूँ।'

सुभाष मुस्कराया । बोला- 'अरे चाचाजी, आप कब की बातें कर रहे हैं । अब खलिहान में वह बात नहीं रही । अब तो मशीन से दँवाई होती है । गाँव में तीन दँवाई-मशीने हैं । बा-बारी से लोग अपने डाँठ दँबा देते हैं । खलिहान में सभी सोते भी नहीं और जो लोग सोते हैं, वे अपनी-अपनी दुनिया में बंद रहते हैं, एक-दूसरे से चौकन्ने से । अब तो बैलों की संख्या भी कम हो गयी है । मशीन से जुताई, मशीन से दँवाई, बैलों का क्या काम? जिन्हे बैलगाडी चलानी हो, वे बैल रखें । इसलिए अब लोग पशु पालते भी हैं तो गाय-भैंस ।'

'ओह हाँ ?'

अब मुझे याद आया कि मेरे जिस दरवाजे पर चार-चार बैल रहते थे, वहाँ एक भी दिखाई नहीं पडा ।'[९६]

➢ मूल्य विघटन

समाज व्यक्ति और समूह के सम्बन्धों का संगठन है । ये सम्बन्ध परस्पर सन्तुलन पर आधारित होते हैं । असन्तुलित होने पर समाज में मूल्य विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । समाज में दो प्रकार के बदलाव होते हैं । एक उन्नत स्तर पर ले जाने वाला बदलाव और दूसरा निम्न स्तर पर ले जाने वाला बदलाव। प्रथम बदलाव से मूल्यों का स्तर बढता है । दूसरे बदलाव से मूल्यों का स्तर घटता

है । जब समाज में स्थापित मानदण्ड समयानुसार अपनी उपयोगिता खो देते हैं और नए सन्दर्भों, परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुकूल उनका तालमेल नहीं होता तब पुराने मूल्यों के विरोध और नए मूल्यों की स्वीकृति के कारण मूल्य विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । सामान्य विघटन का अर्थ है- 'सामाजिक संबंधों का टूट जाना अथवा समाप्त हो जाना, जो समाज को बाँधे है ।'[९७] जो मूल्य वर्तमान में टूटते हैं भविष्य में नवीन मूल्य उन्हीं से स्थापित होते हैं ।

१. सामाजिक मूल्यों का विघटन : 'सामाजिक मूल्यों से अभिप्राय मनुष्य की सामूहिकता, जातीय सुरक्षा, सहानुभूति आदि मूल प्रवृतियों से संबंधित उन प्रतिमानों से है, जो मनुष्य की सामाजिकता के उत्थान हेतु आवश्यक होते हैं । सामाजिक मूल्यों का आशय व्यक्ति की सामाजिकता का उन्नयन करने वाली जीवन-दृष्टिों से होता है । सामाजिक इकाइयाँ, परिवार, जाति तथा आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के लोकहितकारी स्वरूप से संबंधित जीवन-दृष्टियाँ पारिवारिक, जातीय, आर्थिक तथा राजनैतिक आदि मूल्यों के रूप में संज्ञायित होती हैं ।'[९८]

समाज में व्याप्त जातिवाद एवं साम्प्रदायिकता की भावना के कारण सामाजिक एकता का अभाव तथा जाति और संप्रदाय-विरोधी नवीन सामाजिक समानता के मूल्यों का प्रादुर्भाव होने लगा ।

अंतिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने ग्रामीण समाज में घटते सामाजिक मूल्यों को दर्शाया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं-

'किसी की फसल काट ली, किसी के बैल खुलवा लिए । किसी के खेत भी

मेंड काटकर चार कदम जमीन मिला ली और इससे भी बात न बनी तो महीने में कुछ दिन अँधेरी रात में राहजनी कर ली । जहाँ चार जने बैठे वहाँ तो घर-घर की फाइल खुलती ही है जिसमें आमदमी-खर्च के जायजे के साथ-साथ परिवारों की तबाही के नए सुत्र खोजे जाते हैं । सबकी चिंता इसी बात पर आ टिकती है कि कोई परिवार सुखी और सम्पन्न क्यों है ? उसके घर में कलह क्यों नहीं पैदा होती? किसी का लडका क्यों पढ रहा है या किसी की लडकी विवाह से पहले बदनाम क्यों नहीं हो पा रही?'[९९]

कोई सरकारी जमीन पर हनुमान मन्दिर बनाने की योजना बनाकर हर मंगळवार को कीर्तन कराने में रस लेता है तो कोई पास के बाजार में सब्जी बेचने गए किसी बनिए की साइकिल छिनने में मजा लेता है । गाँव में कथित रूप से एक सरकारी कोटे की दुकान भी है जिसका डीलर तीन महीने पर एक बार एक किलो चीनी और दो लीटर किरोसीन तेल बाँटकर लोगों को निहाल कर देता है । सबको यह मालुम है कि पखवारे में वह चीनी और किरोसीन तेल उठाकर रामप्रीत आढती वाले को बेच देता है, पर किसी को भी इसकी खोजबीन जरूरी नहीं लगती । ढीलर ने बी.डी.ओ. और स्थानीय मुखिया को पटाकर अपना कारोबार पुख्ता कर लिया है और बखूबी मालूम है कि किसी की भी शिकायत से उसका कुछ बिगडने वाला नहीं है । उलटे उसे यह लाभ ही होगा कि शिकायत करनेवाले को अब से वह अपनी बही है गायब कर देगा ।'[१००]

इस गाँव में दो ठेकेदार भी हैं जो अपनी राजनीतिक पहुँच के बल पर कभी सडक, कभी पुलिया तो कभी पुलों की मरम्मत के ठेके लेते हैं और अपनी गाँठ

मजबूत करने में सफलता पाते हैं । इनके ठेकेका कमाल यह है कि जनता को पता भी नहीं होता और उन्हें साकार का भुगतान मिल जाता है । इसी में इनकी वाहवाही है वर्ना जो ठेकेदार काम कराकर भुगतान लेते हैं वे इनकी जी-हुजूरी में रात-दिन एक क्यों किए रहते । ठेकेदारी के संसार में वे क्षत्रप कहे जाते हैं जिनका सारा काम कागज में होता है । वे भी क्या ठेकेदार हैं जो काम बेशक कुछ भी न करें पर लोगों को मालुम हो जाए कि अमुक काम अमुक ठेकेदार करा रहा है । वह परम्परा गलत है और इसे वे तोडने का हर सम्भव प्रयत्न करते हैं । आखिर सरकार भी तो यही करती है । वह सरकार है, यही क्या कम है । उसमें शामिल मंत्री तो अपने काम के लिए हैं । जनता का काम वे भी कागज पर करते हैं जमीन का काम जमीन पर रहने वाले जानें । अब गाँव में पक्की सहक का ही क्या मतलब है? लोग इसमें अनेक लाभ गिनाते हैं पर यही किसी के ध्यान में ही नहीं आता कि इससे कितने युवा बेकार हों जाएँगे । वे आसानी से तब राहजनी नहीं कर सकेंगे । जब तक सडक कच्ची न हो, उसमें हर दो कदम पर बडे-बडे गड्ढे न हों, तब तक किसी गाडी वाले को दौडकर घेरना सम्भव ही नही है, क्योंकि इसी कारण वह चाह कर भी भाग नही सकता ।'[१०१]

'आजकल एक नवीन प्रवृति का उदय दृष्टिगोचर हो रहा है । पहले गाँव वाले सीधे होते थे । आज कपटी हो रहे हैं । पहले क्रोधी होते थे, आज वैरी हो रहे हैं। पहले मन का मैल मुँह पर बात कहकर मिटा डालते थे; परन्तु आज उसे पाल-पोसकर, अवसर देखकर बदले के रूप में चुकाते हैं । पहले नंगे, आवारे, लाखैरे और बहिकट जैसे विशेषणों से विभूषित जन होते थे, आज नेता, चमचा, गुंडा और

चालू पुरजा, स्मगलर जैसे लोग होने लगे । पहले लोग लडते-झगडते थे और पुन: हिल-मिलकर रहते थे । आज कतर-व्यौंत होता है । काट-छाँट की लडाई होती है। मन-ही-मन, भीतर-ही-भीतर जलन पैदा की जाती है । पहले मार का अस्त्र था लट्ठ, पर आज का अस्त्र हो गयी है कचहरी । कहीं हंगामा हो गया, दो-दो सौ, चार-चार सौ आदमी इधर-उधर आ डटे । गरमागरम शब्द निकलते हैं । एक दल से दुसरे दल पर जैसे तोप का गोला छूटता है । जय-जयकार होती है । कुछ मनचले अपने-अपने दल में उछलते कुदते हैं । कुछ जमीन पर लाठी पटक-पटक पर 'घी न खाया कुप्पा बजाया' वाली कहावत से चरितार्थ करते हैं । ऐसा ज्ञात होता है कि अब हाथ छूटा, तब छूटा । अन्त में देखते हैं कि दोनों ओर के बुद्धिमान लोग झगडा निपटा देते हैं । अदालत की शरण लेने का सत् परामर्श देते हैं । पहले सुनते हैं कि ऐसे मौकों पर लाशें गिर जाती थीं । लाठी में से धुआँ निकलने लगता था । पर आज? गरजने वाले बादल की तरह इधर-उधर दो-चार गरज सुनाई पडी और बादल बिना बरसे ही तिरोहित हो गए ।'[१०२]

'अब लोगों का शरीर अत्यन्त की कमजोर होता है । लाठी की मार की सहन-शक्ति जाती रही । ग्रामीणों की शूर-पीढी का चरम ह्रास हो गया । इसलिए लोग एक-दूसरे पर अपना क्रोध दूसरे प्रकार से उतारते हैं । यदि धनी हैं तो कानूनी मार होती है । यदि जनबल वाले होते हैं तो खेत-उखाडने वाली, बैल-बछिया गुम करा देने वाली तथा घर-खलिहान में आग लगवा देने वाली लडाई के अतिरिक्त सोते में या अकेले राह चलते में पिटवा देने वाला युद्ध शुरू करते हैं । पिस्तौल, बंदुक, कट्टे और बम भी गाँवों में पहुच गए । यही नहीं, घर में सुरंग खोदवाकर

मूस लेना भी एक तरीका है । यदि गरीब और लाचार हुए, तो भगवान के नाम पर प्रत्यक्षतया तो चुप लगा जाएँगे, परन्तु छीपे हुए उनके शत्रुओं से मिलकर बदला चुकाने की ताक में रहेंगे ।

इसका एक बहुत बुरा और अशुभ परिणाम यह हुआ है कि शत्रु-मित्र की पहचान लुप्त हो गई है । बाहर से सब हिले-मिले रहते हैं और भीतर शत्रुता का भयंकर विषधर नाग फुफकारता रहता है ।'[१०३]

'गाँव में नए किस्म के अलगाव, तनाव, सिकुडन, स्वार्थपरता, संघर्ष, अहम्मन्यपूर्ण विद्वेष, एंठ, तिकडमबाजी, फरेब और दुर्मति-दुर्भाग्य जन गए हैं । एक-दूसरे को देखकर जलेंगे तो एक-दो को नहीं, यह जलन सबको जलाएगी । आज हो भी यही रहा है । और तो और, भाई-भाई में मनमुटाव है । व्यक्ति-व्यक्ति में वैमनस्य की ज्वाला धधकती है । एक का पैर फिसला तो दूसरा हँसता है । दसरे पर वज्रपात होता है तो पहले का जी जुडाता है, और यह कि दोनों के सर्वनाश पर सारा जमाना हँसता है ।'[१०४]

'दुर्भाव, पार्थक्य और असद्भाव केवल बडों में ही नही, बल्कि छोटे-छोटे बोलकों की नस में विष की तरह धुल गया है । इस बीज को बडे-बुढे लोग बोते हैं । अपने रहस-सहन, वार्तालाप और क्रियाओं द्वारा ही नहीं, प्रत्यक्ष शिक्षाओं द्वारा भी वे बालकों को द्वेष के पथ पर ले जाते हैं । सिखाते हैं कि किस किस व्यक्ति से कौन-कौन सी अदावत है । किस-किस व्यक्ति से कौन-कौन से झगडे हैं। इसकी विस्तृत सूची बालकों के मस्तिष्क में बैठ जाती है । अशोक ने बौद्ध धर्म क्यों ग्रहण किया, इसे पढने वाले लडके भले न याद रखें, पर यह तो उन्हें सही-सही याद

रहता है कि अमुक ने अमुक मुकदमें में हमारे पिता के खिलाफ गवाही दी, अत: वह हमारे परिवार का वैरी है । परिणाम यह होता है कि आज बडे लोगों की भाँति बालक भी अपने परिवार के दुश्मन के घर नहीं जाते । उत्सव-त्योहार या किसी विशेष अवसर पर बडे लोग रस्मी तौर पर शत्रु के दरवाजे पर जाते भी हैं तो बालकों को बना कर देते हैं ।'[१०५]

'मैं अभागा गाँव उस पुराने आदर्श के लिए तरसकर रह जाता हूँ । अब यह सब कहाँ रहा ? अब तो जो है वह चरमसीमा की गिरावट का आदर्श है । क्या सुनते हैं आज हम? हम अमुक के दरवाजे पर नहीं जाते । हम अमुक से नहीं बोलते, हम अमुक की परछाई से भी बचते हैं । हमारा अमुक व्यक्ति के घर से खान-पान का सम्बन्ध हीं है । हम अमुक व्यक्ति के खानदान का छुआ पानी नहीं पीते, क्योंकि दो सहै वर्ष पुर्व उसके किसी पूर्वज ने हमारे किसी पूर्वज को मार डाला था । फलाँ मेरे शत्रु का मित्र है । अत: हमारी उसकी बोलचाल बंद है । फलाँ मेरे मित्र का शत्रु है, अत: मेरा उसका सम्बन्ध-मैत्री सम्बन्ध-विच्छेद हो गया । यदि ऐसा न होता तो मेरा मित्र जो बलवान है, बुरा मानता । इसी प्रकार मेरे शत्रु का बलवान शत्रु मेरा मित्र बन गया । जबकि वह मेरा भी शत्रु था । हमारे घर में फलाँ के घर पुश्तैनी अनबन है । हम लोग सदैव एक-दूसरे को सतर्क दृष्टि से देखते हैं। फलाँ ने मेरे ऊपर अदालत में गवाही की है । आदि-आदि ।

शत्रु-मित्र का यह बेढव प्रपंच जाल आज हमारे भीतर वाले उस सरल-निर्मल जीवन को अच्छादित किए है, जो अपनी स्वर्गीयता के लिए न केवल देश में स्पृहणीय समझा जाता था, बल्कि विश्व में वरेश्य था और उसकी मुक्त कंठ से

प्रशंसा की जाती थी ।'[१०६]

'दुखन की माँ के मन में अब यह विश्वास पुख्ता हो गया है कि रामशरण बहू को गाँव के लोग डायन सिर्फ इसीलिए समझते हैं कि वह बाँझ और विधवा है। लेकिन यह गाँव के लोगों की कितनी गलत धारणा है । बाँझ और विधवा न होना अपने वश की बात तो है नहीं । यह तो प्रकृति का प्रकोप है । इसके आगे मनुष्य का कोई जोर नहीं । गाँव और समाज के लोगों को तो मानवता के नाते यह चाहिए कि प्रकृति से पीडित लोगों को सहानुभूति दें, आदर दें, ताकि वे अपनी नियति पर पछतावा न खा सकें । लेकिन गाँव और समाज के लोग प्रकृति के प्रकोप से त्रस्त लोगों को तो उल्टे और अधिक पीडा और सजा देने लगते हैं । समाज के लोगों को यह घोर निंदनीय और क्रुर कर्म है । इसीलिए तो दुखन की माँ इस समाज के नाम पर कई बार थूक चुकी है, जिसके निर्णय उसे अक्सर विवेकसम्मत नहीं लगते हैं ।'[१०७]

'पुस्तकालय की कोठरी में सुबह आठ बजे से लेकर रात नौ बजे तक गाँव के युवकों की भीड लगी रहती है । स्कूल और कॉलेज में पढने वाले युवक तथा पढाई-लिखाई समाप्त कर बेरोजगारी का दर्द झेलने वाले युवक ही यहाँ अधिक जुटते हैं । लेकिन यहाँ आकर युवक पुस्तकें पढने और उन पर विचार-विमर्श करने में अपना समय नहीं गुजारते हैं । वे कभी-कभी ही पुस्तकें लेते और उन पर चर्चा करते हैं । शेष समय तो यहाँ बैठकर ताश खेलने और गप्प लडाने में ही बिताते हैं। किसी के दालान पर और अभिभावकों के सामने गाँव के लडकों के लिए यह सब असम्भव था, लेकिन पुस्तकालय की कोठरी ने इसे सम्भव बना दिया है । गाँव के

युवक एक जगह मिल सकें, इसके लिए पुस्तकालय की कोठरी एक जबरदस्त माध्यम बन गई है । इसीलिए यह पुस्तकालय कम, गाँव के शिक्षित युवकों की बैठक ज्यादा हो गई है ।

इस बैठक में स्कूल-कॉलेज की बातों, फिल्मी सूचनाओं और सामयिक घटनाओं की चर्चाओं के साथ गाँव की लडकियों को फँसाने की योजनाएँ भी बनाई जाती हैं । यहाँ के युवक ग्रुपों में बँटे होते हैं । कुछ लोग कोठरी के उस कोने में जाकर बैठ जाते हैं, तो कुछ लोग इस कोने में, तो कुछ लोग बीच में । कभी-कभार किसी बात को लेकर युवकों में गाली-गलीज और मारपीट भी हो जाती है । तब यह कोठरी बन्द कर दी जाती है । लेकिन शीघ्र ही युवक विनोद लाल से आग्रह कर इसे पुन: खुलवाते हैं और पूर्ववत् बैठने लग जाते हैं ।'[१०८]

'रामशरण बहू औरतों की जमात की ओर चल देती है । लकुटी टेकते-टेकते वह औरतों के बीच पहुँच जाती है । फिर एक जगह लकुटी पटक, धीरे से बैठती है और बैठते ही पसर जाती है । लेकिन यह क्या? उनके वहाँ बैठते ही आस-पास की औरतें खिसकने लगती हैं । तेतरी की माई वहाँ से बुदबुदाते हुए हट जाती है। सहदेव की पतोहू घूँघट निकाल आगे बढ जाती है । रमेसर की बेटी सुरसतिया अपने छोटे भाई का हाथ पकड वहाँ से भाग जाती है । फिर औरतों के बीच फुसफुसाहट-भरी आवाजें आने लगती हैं, 'डायन आ गई... इसको रामायण से क्या मतलब... जरूर किसी पर टोना-टोटका चलाने आई है...।'[१०९]

'भाभी रेशमी बटुए का सिकुडा हुआ मुँह खोल रही थी- डोरी खींचकर । फिर उसमें से खडखडाते हुए नोट निकाले । अचानक सकते में आ गया बालकिशन।

क्या देखा उसने? गीर से देखता रहा, फिर चिल्लाया । अम्मा देखो छ: उँगली छ: छ: छ: । देखों वो अँगूठे से जुडी उठी उँगली !'

बहू के हाथों को लकवा मार गया हो ज्यों । बटुआ छुटा पडा ।

हाँ, उँगलियों के बीच भी दरारों में फँसे हुए नोट । खुद ही थरथरा रहे थे, क्योंकि उँगलियों में हरकत नहीं थी ।

आँगन में बैठी आरतों ने ढोलक-मजीरा-घुँघरू एक ओर फेंके । बीसियों जोडी आँखें भाभी के सीधे हाथ से जा चिपकीं । उनकी हमउम्र लडकियों ने धावा बोल दिया । वे टटोल-टटोल कर उँगली को परख रही थीं । बहू थी कि उस खोट को बदनुमा दाग समझकर किसी तरह छिपा लेना चाहती थी, मगर वह लटकती हुई चुगलखोर उँगली... आखिरकार लडकियाँ जीत गई । जिस बहू को अपने नाच-गाने दिखा सुनाकर रिझाने आई थीं, खुश करके इस गाँव में मिलाने आई थीं, वे ही अब उसका तमाशा देख रही थीं, हँस रही थीं, चिल्ला रही थीं । पब्लिक के माल की तरह उँगली को खींच-तान रही थीं ।

यकायक घुँघट उलट दिया बहू ने । मुँह तमतमाया हुआ था । साँवले गोल चेहरे पर जुडी हुई पसीने की बूँदें । पतले होंठ कठोर से और माटी नाक फूली हुई। आस-पास जितने मुँह, उतनी ही बातें । उसी के हिसाब से बहू के चेहरे पर आते-जाते रंग, बनते बिगडते कोण... लेकिन दोष पर दोष- दाएँ हाथ में छठी उँगली- आटा माड लेती है ही? गोवर पाथ लेगी ? कटाई करते बख्त...?

भाभी अपराधिनी-सी... दिलेरी से सामना करती हुई ।

बालकिशन हक्का-बक्का था शुरू में, अब खंड-खंड कटता हुआ...

नाच भी हुआ । गाना भी हुआ । बहू ने लम्बा घूँघट खींच लिया उत्सव की ओर से । बालकिशन के चलते सारी खुशी एक पल में बिखर गई ।'[११०]

२. सामाजिक सम्बन्धों का विघटन: वर्तमान सामाजिक जीवन में जीवन मूल्यों का विघटन एक ओर व्याप्त है तो दूसरी ओर यांत्रिकी और औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण मानवीय सम्बन्ध तनाव के बीच गुजरते हैं । डॉ. महाराज कृष्ण जैन के शब्दों में- 'सर्वत्र व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य में यंत्र दीवार बनकर खडा हो गया है और मानवीय सम्बन्ध वस्तुत: 'असम्बन्ध' में परिणत हो गये है ।'[१११] युगीन परिस्थितियों में परिवर्तन होना सहज है । सामाजिक जीवन में नवीन मूल्यों की स्थापना से प्राय: व्यक्ति-व्यक्ति के, व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन परिलक्षित होते हैं ।

अन्तिम दशक के हिन्दी ग्रामीण उपन्यासकार 'रामदरश मिश्र' ने अपने 'बीस बरस' उपन्यास में बिगडते सामाजिक सम्बन्धों का चित्रण किया है । उपन्यास के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'अरे अब इन बातों को याद करने से क्या फायदा? दामोदर भाई जो बीत गया सो बीच गया ।'

'नहीं अंगद भाई, कुछ चीजें सामने होकर भी नहीं होती, और कुछ चीजें बीत कर भी नहीं बीततीं । फायदा-नुकसान की बात तो मैं नहीं करता लेकिन जिन चीजों से हम बने हैं, उनकी यादें हमें जीवित रखती हैं । इस भाग-दौड और लेन-देन के समय में वह मासूम समय एक ताजगी दे जाता है हमें सहज और इंसान बना जाता है । याद कीजिए प्राइमरी स्कूल के वे दिन-क्या मस्ती थी? साथियों में न

कोई छोटा था न बडा । न हिन्दू न मुसलमान । एक ही टाट पर मास्टर जी की एक ही छडी के नीचे पढने वाले हम केवल विद्यार्थी थे । एक ही कुएँ से पानी पीने वाले, एक ही मैदान में खेलने वाले, एक ही पुस्तक से गुजरने वाले हम छात्र थे। बडा होने पर हम न जाने कितने खानों में बँट जाते हैं, कितने लाभ-हानि के गणित से संचालित होते हैं, तब क्या अपने वे दिन कुछ देर के लिए भीतर आकर चैन नहीं दे देते? अपने वे मास्टर, अपने वे सहपाठी, अपने स्कूल के वे सारे प्रसंग और परिविश कितना अपने लगते हैं ।'[११२]

'हाँ, हाँ, वे तो मेरे सहपाठी रहे हैं । होली के दिन मिले थे ।... अच्छा तो आज ही शादी है ।'

'हाँ आज ही ।'

'लेकिन गाँव में इस शादी की कोई आहट सुनाई नहीं पडी । यह समाचार तो मेरे पास ऐसे आ रहा है जैसे कोई बताये कि आज बाजार चलना है ।'

'सुभाष मुस्कराया ।

'सचमुच कितना कुछ बदल गया है सुभाष! पहले तो किसी के यहाँ लडके या लडकी की शादी गाँव भर के लिए उत्सव हुआ करती थी । जिस दिन शादी तय होती थी उसी दिन से एक चहल-पहल वातावरण में भर जाती थी और शादी वाले व्यक्ति के दरवाजे पर लोगों का आना-जाना लगा रहता था ।'

सुभाष फिर मुस्कराया और बोला- 'कब की बात कर रहे हैं चाचाजी । अब तो लोग-बाग शादी के अवसर पर अपने कामधाम से छूट कर अतिथि की तरह थोडी देर के लिए जाते हैं और फिर लौट जाते हैं । घर वाले ही हर अवसर पर

जूझते रहते हैं ।'

'कितना अकेलापन आ गया है गाँव में । लोग कितने संवेदनशून्य हो गये हैं।'

'हाँ, लेकिन इसमें एक पेंच यह भी है चाचा जी कि लोग चाहें तो भी दूसरे के मामले में कुछ दखन देने से डरते हैं । पता नहीं कौन कब कह दे- 'यह मेरा मामला है आप क्यों बीच में टाँग अडा रहे हैं ।' राजनीति इतनी हावी हो गयी है कि पता नहीं कौन कब किस बात का क्या अर्थ निकाल ले । इसलिए जो लोग चाहते हैं साथ हो लेना वे भी संकोच करते हैं । अब देखिए न, काशीनाथ चाचा आपके सहपाठी रहे हैं । वे भी फौज में बाहर-बाहर रहे और आप तो बाहर रहे ही । तीन साल पहले वे रिटायर होकर आ गये और मिलने पर प्राय: कहते थे- 'सबसे भेंट होती है दामोदर भाई से भेंट हुए तीस-चालीस वर्ष हो गये ।' और आपको आये इतने दिन हो गये, कभी वे मिलने नहीं आये। होली के दिन भी आप उन्हीं के दरवाजे पर उनसे मिले । यह है मिलने-जुलने की सामाजिक ऊष्मा । फिर कौन किसके यहाँ जाये ।'[११३]

'आपसे तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि हमने फैसला ले लिया है ।'

'हम उस फायसले को खिलवाड मानते हैं, इसलिए एन मौके पर तो तुम उसका बात ही जबान पर न लाओ ।'

'खिलवाड नहीं, यह हमारा फैसला है ।'

'नादानी मत करो, क्यों अपने को बैरबाद करने पर तुले हो ? इससे तुम्हें कुछ हासिल होने वाला नहीं है ।'

'न हो, पर हमें और कोई रिश्ता मंजूर नहीं है ।'

'तुम्हें भले न हो, हमें तो है । और क्या तुम अपने मन के हो कि जो चाहो सो करो?'

'नहीं, यह मैंने नहीं कहा, पर इतना जरूर है कि मुझे अपनी जिन्दगी जीने और उसके फैसले लेने का हक है ।'

बालेश्वर चौधरी पर शिवप्रताप की बातें बिजली की तरह गिरीं । वे चीख पडे। उनकी चीख सुनकर सुलोचना घबरा गई । बाहर से दर्जनों कारिदे दौडे बरामदे में आ गए । उन्हें लगा कि चौधरी साहब किसी आसामी पर बिगड रहे हैं और ऐसे समय उनकी उपस्थिति जरूरी है । पर यहाँ का मौहाल देखकर वे भी सकते में आ गए । चौधरी ने उन्हें बाहर जाने को कहा । आँखें तरेरते हुए वे खडे होकर अपनी जगह पर गश्त करने लगे । सुलोचना चुपचाप पति की हरकतें देख रही थी । उन्हें डर था कि वे कहीं शिवप्रताप पर हाथ न छोड दें । इसी आशंका के बीच चौधरी की तेज आवाज उनके कानों से टकराई-

'तुमने कहा कि जिन्दगी जीने और उसके फायसले लेने का हक तुम्हें है! तुम्हें पैदा करने, पढाने-लिखाने और इज्जत के लायक बनाने का यही नतीजा है? आज तुम सेखी बधारने लगे हो । बेटा न होते तो आज तुम्हें बताता कि इस बदजबानी का क्या सजाय होता है । कल के छोकरे का यह मजाल तो उस बाप के सामने बेखटके अपनी जबान चलाए जिसके सामने बात करने में लोगों का मूत सरक जाता है । सीधे रास्ते पर आ जाओ नहीं तो हम बिना बेटे के रह लेंगे, पर तुम्हें चलता कर देंगे ।'[११४]

'पढाने की बडी कोशिश की लेकिन सुधाकर नहीं पढ सका । प्रदीप डाँटते हैं तो कहता है आप कौन से एम.ए., बी.ए. हो? आठवीं फेल होकर आप नेता बन सकते हो तो मैं भी कुछ बन ही जाऊँगा ।

'और यह शराब ?'

'शराब भी प्रदीप कैसे रोक सकता है?' इसे मना करते हैं तो कहता है- 'आप खुद क्यों पीते हो ? लडकियों के साथ लफंगई करते हो, लोगों से झूठ बोलते हो, काम कराने के नाम पर उन्हें ठगते हो । आपको जो करना हो करो, मुझे मेरे हाल पर छोड दो ।'[११५]

३. सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन : स्वातंत्र्योतर ग्रामीण समाज में आर्थिक अभावों और सामाजिक विषमताओं ने पर्व और त्यौहारों के उत्साह को कम कर दिया है । आज ग्रामों के धार्मिक कृत्यों में आडम्बर व दिखावे की भावना आ गई है जिससे इनके प्रति ग्रामीणों में अविश्वास की भावना पनपने लगी है । वर्तमान ग्रामीण समाज में त्यौहार एवं उत्सव मनाने के परम्परागत नियमों का विरोध होने लगा है । ग्रामीण आधुनिक युवक-युवतियाँ त्यौहार को मनाये जाने वाले नियमों की उपेक्षा कर केवल उसके मनोरंजन-प्रधान पक्ष को देखते हैं । प्राचीनकाल में त्यौहारों का सम्बन्ध पूजा-पाठ से था किन्तु आज यह त्यौहारों से सम्बन्धित पूजा-पाठ का विधान समाप्त होने लगा ।

अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने ग्रामीण समाज जीवन में पतन होते सांस्कृतिक मूल्यों को दर्शाया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं-

'तीर्थ-व्रत में भी मेरे बेटों की अब वैसी आस्था न रही । व्रत रूढि के रूप में चलते हैं या कुछ पुराने लोगों की प्रेरणा से । वे स्कूलों की छुट्टियों के कारण अधिक सामने आते हैं । तीर्थ अब औरतें अधिक करती हैं । उनके भीतर धर्म की भावना कम, परन्तु इसी भाव से बाहर की दुनिया देखने को अभिलाषा अधिक होती है ।'[११६]

'अनन्त चतुर्दशी, रामनवमी और कृष्ण जन्माष्टमी आदि त्यौहारों पर मन्दिर और मठों में पहले सीधा (खाद्य सामग्री: यथा-चावल, आटा, दाल, घी, नमक, हल्दी, दही और सब्जी) इतना अधिक पहुँच जाता था कि सन्त लोग वर्षों खाते थे और समाप्त न होता था । अब छिछले बरतन में पसारकर आटा और ऊपर से एक पिंडी गुड को रखकर लोग दे आते हैं । फर्ज अदायगी-भर हो जाती है । कारण लोग धीरे-धीरे जानने लगे हैं, यह सब दान आदि व्यर्थ है । इससे कुछ लाभ नहीं। अपना कमाना-खाना है । हृदय की श्रद्धा नष्ट हो गई । जैसे आदमी आदमी न रह गया, वह आज बुद्धि और तर्क की मशीन हो गया ।'[११७]

एकादशी आदि के दिन व्रत रखने का रिवाज धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है । लोग एकदम स्वतंत्र हो गए हैं । मन पर धर्म का या ईश्वर का शासन नहीं है। वह प्रत्येक वस्तु को लाभ की दृष्टि से देखने लगा है । होली के दिन उसके खेत की कटिया बन्द नहीं होती। दीपावली के दिन भी वह विराम नहीं लेता । त्रयोदशी को गंगाजल लाकर शंकर का अभिषेक करना आज व्यर्थ श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जाता ।

'आज मेरी बस्ती का छात्र जल्दी ही बीडी-सिगरेट पीने, चट्टी पर बैठने, दल

बनाकर लडाई-झगडा करने, गाँव के बडे लोगों की, माता-पिता की भी आलोचना करने, झगडा लगाने, दि-भर बवंडर की तरह घूमने, असमय में ही कुटेवों एवं अप्राकृतिक दुर्विहारों से शक्ति-स्फूर्ति से हाथ धोकर उदासी और रोग मोल लेने, फैशन की फाँस में बुरी तरह फँसकर बाप-दादा की गाढी कमाई फूँकने स्कूल में राजनीति कर घर का आटा गीला करने, स्कूल का टाट या बेंच, डेस्क खराब करने के साथ अपना अमूल्य समय बरबाद करने, अध्यापकों को परेशान करने और गाँव की राजनीति में भाग लेने की अनायास शिक्षा प्राप्त कर लेता है ।'[११८]

'पढे-लिखे हिप्पीकट, दाढी वाले, खादी के लम्बे कुरते वाले बेकार और ठिल्ले गाँवों में अपना साढे तीन हाथ लम्बा-चौडा शरीर लिये घूमा करते हैं । इधर की बातें उधर और उधर की बातें इधर किया करते हैं । क्रिकेट खेलने की धुन में रहते हैं या कमेंट्री सुनते हैं, राजनीति करते हैं । ब्लाक का चक्कर लगाते हैं ।'[११९]

'मेरे बेटे किसान के घर का कपडा सीने के लिए शहरी दरजी के पास जाता है । औरतें अपना कपडा भी नहीं सी लेतीं । आटा कल में से पिसकर आता है । बिछीना क्रय होता है, चाहे वह दरी हो चाहे तो तोशक ! घर के बरतन-डलिया आदि भी बाजार से आने लगीं । कपडे सीने का काम तो औरतों का है । आटा अपने हाथ से चक्की में पीसकर परिवार को खिलाने तथा स्वस्थ बनाने का दायित्व उन पर है । फटे-पुराने कपडों को सँजोकर बिछौना बनाना उनकी पुरानी परम्परा है । आखिर इस हस्तकला, श्रम और जीवन की प्रणाली को छोडकर वे कहाँ जा रही हैं ? कूटने और पीसने का श्रम उनके शरीर के अंग-प्रत्यंग को कस देता है। उनमें आकर्षक उभार देता है । स्त्रियाँ व्यायाम के नाम पर दंड-बैठक नहीं, यही

कूटने-पीसने का काम करती हैं । उनका छरहरा शरीर दमकता रहता है । अधिक दिनों तक जवानी सुरक्षित रहती है । बैठी रहने वाली स्त्रियाँ अल्प समय में ही थल थल होकर स्फूर्तिरहित हो जाती हैं ।'[१२०]

'अपनी चारपाई के लिए किसान सुन्दर-से-सुन्दर रस्सी तैयार करता है। वह मजबूत के साथ सुखप्रद भी होता। पर इसके लिए वह सीधे बाजार की और दौडता है । यदि बिकें तो किसान अपनी लाठी भी अब खरीदेगा ही । या ऐसा मानें कि वह उन्हें खरीदने लगा है । शहेरों में लाठियाँ भी बिक रही हैं । दातून बिकती हैं । आश्चर्य क्या कि सुविधा की दृष्टि से शहर से लौटता मेरा कोई बेटा उसे खरीदता आए । फिर, अब तो वह भी मंजन, पेस्ट, ब्रश पर उतरने लगा है! वह खाने-पीने का तम्बाकू शहर से खरीदता है । आसानी होती है । कौन घर पर बनाने का कष्ट करे? कुछ रुपये खर्च कर देने से चीजें आसानी से मिल जाती हैं । बेशक पैसा काफीसस्ता हो गया है । जीना जरूर महँगा हो गया है।'[१२१]

'घरों में नए चावल पकने की खुशबू तथा नए धान के तैयार होते चूडे की सोंधी महक से पूरा गाँव आच्छादित था । इसी अगहन महीने की शिवरात्रि को चुनिया का भाई बुंतु 'बहुरहंत' (कलेवा) लेकर जोरावरपुर गया था । बुंतु अपने गाँव के जिस खेत-मालिक के यहाँ चरवाह था, उनकी बेटी की नई-नई शादी उसी अगहन महीने में जोरावरपुर हुई थी । अपने जिला-जवार की प्रथा के अनुसार अपनी बेटी की शादी के चन्द रोज बाद उसके पिता ने 'बहुरहंत' भेजा था । 'बहुरहंत' में लडकी के कपडे के साथ-साथ उसके पूरे परिवार के लिए कपडे, फल तथा खाजा, लड्डू आदि अनेक मिठाइयों से भरे झाँपी-झोले रहते थे । पहले तो

'बहुरहंत'के सामान चार-पाँच आदमियों के ले चलने पर होता था । अपने माथों पर दौरा, चंगेली और झाँपी-झपोली में भरे सामान लेकर चार-पाँच आदमी पहुँचते थे। लेकिन बीतते समय के अनुसार बहुरहंत के सामान कम होने लगे थे । तिलक और ब्याह के अवसर पर ही लडके वाले लडकी वालों से इतना वसूल कर लेते थे कि बाद में लडकी वालों की ओर से बहुरहंत भेजना सिर्फ एक रस्म-अदायगी भर रह गया था । इसके बावजूद सम्पन्न और खानदानी लोग बहुरहंत जमकर भेजते थे । लेकिन बुंतु के मालिक की वैसी स्थिति नहीं थी । उनके यहाँ से एक आदमी के ले जाने भर ही बहुरहंत का सामान था, जिसे बुंतु के माथे पर अलगा दिया गया था और लडकी का भाई जगेश बुंतु को लेकर चल पडा था । लम्बी दूरी तय करने तथा कई जगह माथे का सामान रखकर सुस्ताने के बाद वे शाम गहराने पर जोरावरपुर पहुँचते थे ।'[१२२]

'बाँदीपुर की खटिक लडकी से... छि: छि:... कहता है- मेरे व्यक्तिगत सम्बन्धों का सरकार से क्या वास्ता ? इस बात को मेरी नौकरी से जोडकर तबादले का बहाना ढूँढा चढौती नहीं चढाता, इसलिए वरदान की जगह शाप दे दिया गया मुझे। मेरी तो भगवान में भी इसीलिए आस्था नहीं कि वह प्रसाद चढाने वालों पर अपनी दया लुटाता है । अब ईश्वर ही नहीं तो इन संसारी भगवानों के चंगुल में मैं क्यों फँसूँ ?'[१२३]

'यानी शहर से लेकर गाँव तक अब संस्कृतियों का उत्सव ठंडा पड गया है। अपने स्वार्थोत्सव और राजनीतिक जोड-तोड में व्यस्त लोगों को अब फुरसत नहीं कि वे सांस्कृतिक उत्सवों में एक साथ मिलकर अपनी ठेठ आदमियत का साक्षात्कार

कर सकें ।'[१२४]

'बैसाख के महीने में चुनाव की बहर है । अखतीज में क्या धरा है? धूप-धाम का त्यौहार! बेरस-सूखा! खेतों पर गाँव के आधे किसान भी नहीं पहुँचे । बाबा कहते हैं- 'आजकल के लडकों को धूप काटती है । नरम-मुलायम चमडी को लुगाइयों की तरह सेते रहते हैं । बताओ, कुँआरी कन्याएँ सिर पर बीज-मिट्टी भरे ढले (कागज-मिट्टी की डलिया) घरे खडी रहीं ताप में । बीज की अँजरी भरने वाला कोई नहीं । धिक्कार है रे ऐसी किसनगति को । इस गाँव में जहाँ जाओ, तहाँ यही हलचल-चुनाव-उम्मेदवार- वोट! किसको फुरसत है कि त्यौहार का नेग करे! गंगाराम कहा रहा था- बाबा, अखतीज अगले साल मन जाएगी सोपते (फुरसत) से ।'[१२५]

४. राजनैतिक मूल्यों का विघटन : वर्तमान युग राजनीति का युग है । समाज का प्रत्येक व्यक्ति राजनीति के घरे में हैं । सम्भवत: ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ राजनीति न पहुँची हो । वस्तुत: आज का मानव राजनीति की छत्रछाया में चलने लगा है । राजनीति का समाज के निर्माण एवं विकास में तथा व्यक्ति की उन्नति एवं अवनति में विशिष्ट योगदान होता है। राजनीतिक उथल-पुथल और परिवर्तन सारे समाज को व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं । वर्तमान समाज में राजनीति आर्थिक आधार पर प्रतिष्ठित होती है । इसलिए जीवन की रोजी-रोटी से लेकर कारखाने, दुकान और कार्यालय तक राजनीति का ही मुखापेक्षी होना पडता है । स्वातंत्र्योतर भारत में कतिपय नवीन मूल्यों के उद्‌गम एवं अन्य पारम्परिक मूल्यों के विघटन का प्रमुख केन्द्र राजनीति है । वर्तमान ग्रामीण समाज की राजनीति में मूल्यों का विघटन दृष्टिगोचर होता है । अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने

घटते राजनैतिक मूल्यों को दर्शाया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं-

'चुपचाप दस्तखत कर दो । भाड में गई बाँदीपुर की पाठशाला, जो जड के पेड तले लगती है । तुमने किसी दीनहीन का ठैका नहीं लिया । मत सोचो बाँदीपुर के बच्चों के बारे में । उनके भाग्य में वही लिखा है, जो किसी करमहीन के भाग्य में लिखा होता है । इस गाँव के लोगों को जानते हो अच्छी तरह, फिर भी....। प्रधान की विनय कितनी खथरनाक है, क्यों उड रहे हो फिर...?'

श्रीधर डाल-डाल तो प्रधान पात-पात!

दो दिन बाद फिर- 'यार बखत बरबाद मत करो । एक-एक दिन टैम निकलता जा रहा है । सारी भाग-दौड, अकारथ हो जाएगी । नैम-कानून पीछे समझाते रहना भइया, अभी तो तुम इस काम को पार कर डालो । बात गाँव के हित की है सोलहों आना ।'

'प्रधान जी, गाँव के हित की बात है, लेकिन जिन गाँवों में इमारतें खण्डहर हो गई, या बनी ही नहीं, उनका हक ?'

'श्रीधर मास्टर, तुम बार-बार उन गाँवों की बात क्यों ले पडते हो ? उन गाँवों के प्रधान साले गावधू हैं । अपना भला-बुरा नहीं सोचते-कुएँ के मेढक । उनके नाम पर तुम बेकार ही ढप बजाने में लगे हो', कहकर गुस्साते हुए चले गए थे प्रधान जी ।

प्रधानजी श्रीधर के गरीब खिसक आए । फुसफुसाकर बोले- अगले दिन...।

'हम समझ रहे हैं, तुम क्यों रूठे हो? हमारे बालक हीह उमर के तुम मास्टर

जी, समझते हो कि हम तुम्हारे दिल की बात न समझेंगे ? हिस्सा तुम्हारा भी होगा। मुफ्त में नहीं लेना चाहते जब सबके दस्कत की कीमत है, तो तुम्हारे दस्कतों की क्यों न होगी? दो कोठरा भी खडे नहीं करने । इसी स्कूल की रँगाई-पुताई करवानी है, बस । इंजीनियर बिल्डिंग पास कर देगा । अहलकार दस्कत करके मंजूरी दे देंगे । बोलो, तुम कितना माँगते हो ? दस हजार ? बारह ? चलो पन्द्रह हजार तक ।'

श्रीधर इसी बात को सुनना चाहते थे । अपनी निजी राय पर प्रधान की मोहर लगाना चाहते थे । कितना सही सोच रहे थे वे... कोहरे में से कोई स्पष्ट शोर आया और श्रीधर के कानों के आर-पार हो गया... बोलो कितना माँगते हो! तुम्हारा हिस्सा! तुम्हारा हिस्सा! बोलो कितना...।'[१२६]

'बिजली नहीं थी भँवर भइया । अँधेरा था गाँव से स्कूल तक । हमे तो मास्टर साहब के पास पढकर जाने वाले थे । एक लालटेन बुझा दी थी । दूसरी जल रही थी । हम स्कूल से निकल गए । अँधेरे में लगा कि तीन लोग आ रहे हैं। राकेश बोला- कौन है रे?

'हम पहाडीपुर के मास्टर माधोराम ।'

'वे चले गए । हम फिर गली में खडे रहे । तनिक देर बाद मास्साब के कमरे में से धम्म-धम्म की आवाज आने लगी । हम भागे । स्कूल में घुस गए । कमरे में अँधेरा था। एक ने टार्च चमकाई । मास्साब का मुँह धरती में गडा था । लात, घूँसा-धडाधड, तडातड । चंदन जोर से रोने लगा । वे मास्साब को उठाकर पटकने लगे। मार-मारकर पूछने लगे-बोल करेगा दस्कत ? कर, अभी कर ।'

'टार्च की रोशनी में एक कागज । मास्साब ने लिया और फाड डाला । दो टुकडे कर दिए ।'

'साले जान से मार देंगे, कहकर वे मास्साब की गर्दन पकडकर भींचने लगे। उनके कंठ से गों-गों की आवाज निकलने लगी । हम डर गए । वे गिडोरे से बिलबिला रहे थे, फिर भी बोले । नहीं करूँगा, कभी नहीं ।'

'वे लोग फिर मारने लगे लात, धूँसा । राकेश ने एक टी टाँगें जकड लीं और पाती ने एक का हाथ काट लिया । फिर मास्साब के ऊपर आँध गया चंदन अँधेरे में ही । मास्साब बच्चों की चीख-पुकार सुनकर चिल्लाए, चले जाओ यहाँ से । बच्चे, तुम जाओ, पिटो मत । वे लोग भाग गए फिर ।'

'हम अभी बुला लाते हैं किसी को । गाँव को जगाते हैं, राकेश ने कहा ।'

'नहीं, तुम्हें अपनी विद्या की कसम । जो फैसला होगा, आज हो जाने दो, मास्साब चीखे ।'[१२७]

'वे पलट पडे, 'सारंग यह जिद! आखिर किसलिए?'

भरा फोडा फूटता है एकदम से, रंजीत की दराँती उसे भीतर तक मवादरहित करके छोडेगी । सारंग बिलबिला उठी, 'बस करो रंजीत, इस व्यथा को बार-बार चीरो-फाडो मत। मेरी जिद इस समय चुप रहने की है । तुम कहो क्या कहने आए थे ?'

'सीधी बात कि नाम वापिस ले लो ।'

'यही कहने...' वह अवाक हो गई फिर ।

'दस हजार रुपया भी दे रहा है ।'

'ले लो रुपया ।'

'बैठ जाओगी फिर ?'

'नहीं!'

'बीस हजार?'

'...'

'चालीस हजार?'

रंजीत, लाख दर्जे हम विरोधी सही, फिण भी एक भरोसा था तुम पर, पर तुम तो कुँवरपाल की जाति में जाकर बैठ गए! पिछली बार उसने भी बीस हजार रुपए में अपना ईमान...

'तुम नाम वापिस नहीं लोगी ?' रंजीत के ऊपर पति का हक हावी हो गया।

'तुमने और प्रधान के बात तो ठीक सोची है- मैं औरत जात हजारों रुपया पाकर गहने-कपडे में मगन हो जाऊँगी', कहकर वह इत्मीनान से परात में पानी डालकर आटे सने हाथ धोने लगी ।

'नहीं, तुम तो रामराज्य कायम करोगी', कडवा सा मुँह बनाया रंजीत ने।

हँसी आ गई सारंग को । 'रामराज्य लेकर हम क्या करेंगे ? सीता की कथा सुनी तो है । धरती में ही समा जाना है तो यह जद्दोजहद ? अपने चलते कोई अन्याय न हो! जान की कीमत देकर इतनी सी बात, छोटा-सा संकल्प करके निभाने की इच्छा है, बस।

मैं चाहकर भी पीछे नहीं लौट सकती । अपने प्रधान जी से छिपा पाओ तो यह बात बताती हूँ कि पन्ना सिंह नाम वापिस लेंगे, भले पते सिंह खुदकशी कर लें।

तुम मुझसे बाहर नहीं, 'कहते-कहते सारंग के मन में आत्मविश्वास जैसी लहर दौडने लगी ।'[१२८]

'चुनाव का दिन आखिर आ ही गया । सुबह से ही काफी गहमागहमी थी । लोग मतदान केन्द्रों पर कतारबद्ध खडे थे और जैसे ही बारी आती थी, अपना वोट देने अंदर दाखिल हो जाते थे । दोपहर तक पूरे विधानसभा क्षेत्र में स्थिति सामान्य थी, पर उसके बाद जो दृश्य उपस्थित हुआ वह वर्णन से परे था । कोई मतपेटी लिए भाग रहा है तो कोई जाली मतदान कर रहा है । कई जगह तो मतदान कराने आए कर्मचारियों को बुरी तरह पीट कर भगा दिया गया और मनमाने ढंग से काम किया गया । पुलिस खडी तमाशा देखती रही और उसने कोई प्रतिवाद नहीं किया। रामावतार तिवारी ने अपने ढंग से कुछ मतदान केन्द्रों की जाली छपाई की योजना बनाई थी, लेकिन बालेश्वर चौधरी की तरकीब से उनकी योजनाएँ घर रह गई । चौधरी के लोगों ने उन इलाकों में खूब उत्पाद मचाया जहाँ उन्हें समर्थन मिलने की उम्मीद कम थी । यह सब योजनाबद्ध तरीके से हुआ ओर साफ हो गया कि अब जीत बालेश्वर चौधरी की ही होगी ।'[१२९]

'तिवारी को कुछ मालूम नहीं है, पर पंडित जी उनके लिए फाँसी पर चढने को तैयार हैं । जादवों को तो कहते हैं कि बालेश्वर को वोट मत दो, पर ये खुद बाभन के लिए कुरबान होने को तैयार हैं । तिवारी ने बरसों विधायक रहने के बाद भी कुछ नहीं किया है । सडकें, पुल, पुलिया का हाल खराब है । प्रखंड और थाने में लूट मचा है । स्कूलों के इमारत ढह रहे हैं । बस प्रजापार्टी को जिता दीजिए और शांति से रहीए । अरे प्रजापार्टी जीत भी जाए तो क्या उससे चौधरी मर जाएगा ?

इससे चौधरी का क्या बिगडेगा? वह यहाँ जा रहा है और अगर हार भी जाता है तो भी कोई यह राज उससे छीन नहीं सकता । दम हो तो कोई सामने खडा होकर देखे कि चौधरी उसका क्या दशा करता है । बाभन हैं तो बाभन के तरह रहना सीखना चाहिए, इसमें कौन-सा इज्ज़त है कि चार लौंडे पकडकर घसीटते ले आएँ और आप सेखी बधारते फिरें !'[१३०]

'आज की डेमोक्रेसी का एक मापदंड है वोट । बहुमत होना चाहिए । मैं पूछता हूँ प्रेमू कि प्रतिभा बंसल की क्या गलती थी कि उसने कमीने पुरुषोतम को पीटा, परम कमीने सोबरन राय को चेताबनी दी । बोलो, एक औरत बहुत हिम्मत करके गुंडों के खिलाफ, चोरों के खिलाफ लडने चली, नतीजा यह कि उसे अयोग्य कहकर एक सडियल जगह पर 'डंप' कर दिया गया । क्यों? क्यों? क्यों? बोलो रिसर्चर । तुम नहीं बोलोगे । क्योंकि प्रतिभा बंसल की ईमानदारी आज की डेमोक्रेसी के खिलाफ है । और साफ सुनो प्रतिभा बंसल को शह देना अपराध है, उसे दंड मिला क्योंकि पुरुषोतम सिंह, सोबरनराय के हाथों में दस हजार वोट हैं । दस हजार ठाकुरों के वोट के लिए एक औरत के सही और सच्चे ईमानदार प्रयत्न को कुचलना जरूरी नहीं ?'[१३१]

'राजनीतिक रंगमंच पर कूटनीतिज्ञ, शांतिभक्षी और नर-पिशाचों के अवतरण के साथ ही गाँवों का सुदूर एकांतिक वातावरण भी घनघोर स्वार्थजन्य छीना-झपटी के घुटनशील राजनीतिक वायुमंडल से आच्छादित हो गया । राजनीतिक वातावरण की संहारकारिणी मनोवृति की काली छाया किसान के स्वप्न-जगत् पर पड गई । अवस्था इस हद तक बिगडी कि प्रत्येक गाँव में उपरफट्टूजन उछलने लगे, ये

दूसरों के मँडवे में नाचने वाले, ये बहती दरिया में हाथ धोने वाले, ये कंपा लेकर, लासा लेकर बन-बन घूमने वाले, धोखा-धडी और मिथ्याचार जिनकी जीविका है, असत्य-सफेद झूठ और सब्जबाग ही उनका धर्म है, क्षितिज के एक छोर को दूसरे छोर से बाँधने लगे, धराशायी शब पर पैशाचीक अट्टहास जिनका मनोरंजन है, आमोद-प्रमोद है, युद्ध दिनकी क्रीडास्थली और संहार जिनका प्रिय व्यसन है, ऐसे निशाचर बडी-बडी बातें बनाने लगे । भोले-भाले मेरे बेटे किसानों की दुनिया को ये लोग विषाक्त कर रहे हैं । बेशक, यह दुनिया बिगड गई है।'[१३२]

'इस समय अधिक सोचना फिजूल है । जितना जल्दी हो सके शिव-मंदिर का पिछला दीवार गिरा दो ताकि यह पोढ सबूत बन जाए कि मुसलमानों ने मन्दिर को तोडकी की कोशिश किया, जिसके नतीजें में उन्हें मार खानी पडी । बाकी हम देख लेंगे ।'

'बलभद्र प्रसाद और दयाराम ने चौधरी की इस जुगत पर दाद दी और कुछ ही देर में शिव-मन्दिर की फिचली दीवार ढहा दी गई । तरकीब यह भी सोची गई कि दूसरी पंचायत के लोगों को भी खबर कर बुलवा लिया जाए और अविलम्ब थाने में खबर की जाए कि मुस्लिम बलवाइयों ने शिव-मंदिर पर हमला कर दिया है, पुलिस जल्दी मन्दिर बचाने का इंतजाम करे । तत्काल ही इस पर अमल हुआ । सबसे कहा गया कि हर सूरत में इस रहस्य पर से पर्दा नहीं उठना चाहिए कि दीवार मुस्लिमों ने नहीं, हिन्दुओं ने गिराई है ।'[१३३]

'अचानक इसी दौरान मतदान केन्द्र के समीप सडक के किनारे एक जीप जाकर रुकी। जोखन को लगा, अवश्य मतदान केन्द्रों पर आनेवाले मजिस्ट्रेट और

पुलिस की जीप है । पर नहीं, उसमें तो दूसरी तरह के लोग थे । लाल आँखें और बनैले चेहरे वाले वे लोग किसी उम्मीदवार के पालतू गुंडे थे । उनकी संख्या छह-सात थी । वे सब युवा उम्र और मजबूत कद-काठी के थे । प्राय: सबके हाथ में छोटी-बडी बंदूकें थीं । जीप से उतरकर आक्रमण की मुद्रा में मतदान केन्द्र की ओर उन्हें बढते देख मतदान केन्द्र पर तैनात असहाय पदाधिकारी-कर्मचारी हाथ जोडकर विनंती करते हुए अलग हो गए- 'हम तो नौकरी-पेशा शहरी हैं...! चुनाव-ड्यूटी के नाम पर प्रशासन ने हमें भेज दिया है... हम किसी के पक्ष-विपक्ष में नहीं । इस गाँव में तो किसी से हमारा परिचय भी नहीं..।

उनकी इस बात पर आक्रमणकारी गरज उठे- 'भागो यहाँ से... अधिक सफाई दी तो बस अपनी सफाई भी समझो...।'

और अपनी योजना के अनुसार मतदान केन्द्र पर पहुँच उन्होंने वहाँ रखे बैलेट पेपर और अन्य कागजातों को फाडकर हवा में उडा दिया । टेबुल कुर्सी को एक-दूसरे परपटक-पटककर तोड दिया । मतपेटी को भी उन्होंने तोडने की कोशिश की । लेकिन जब मजबूत मतपेटी नहीं टूटी तो उसे लेकर अपनी जीप की ओर चल पडे ।'[१३४]

'चुनाव का दिन आखिर आ ही गया । सुबह से काफी गहमागहमी थी । लोग मतदान केन्द्रों पर कतारबद्ध खडे थे और जैसे ही बारी आती थी, अपना वोट देने अन्दर दाखिल हो जाते थे । दोपहर तक पूरे विधानसभा क्षेत्र में स्थिति सामान्य थी, पर उसके बाद जो दृश्य उपस्थित हुआ वह वर्णन से परे था । कोई मतपेटी लिए भाग रहा है तो कोई जाली मतदान कर रहा है । कई जगह तो मतदान कराने

आए कर्मचारियों को बुरी तह पीटकर भगा दिया गया और मनमाने ढंग से काम किया गया । पुलिस खडी तमाशा देखती रही और उसने कोई प्रतिवाद नहीं किया । रामावतार तिवारी ने अपने ढंग से कुछ मतदान केन्द्रों की जाली छपाई की योजना बनाई थी, लेकिन बालेश्वर चौधरी की तरकीब से उनकी योजनाएँ घर रह गई । चौधरी के लोगों ने उन इलाकों में खूब उत्पात मचाया जहाँ उन्हें समर्थन मिलने की उम्मीद कम थी । यह सब योजनाबद्ध तरीके से हुआ और साफ हो गया कि अब बीत बालेश्वर चौधरी की ही होगी ।'[१३५]

'वह जानता था कि उसके पिता बिनी किसी स्वार्थ के कुछ भी नहीं करते। उनकी धर्मप्रियता भी लोगों को समेटकर अपने साथ रखने की एक चाल के सिवा कुछ नहीं थी। ऐसा करके वे मनमाना करने की स्वतंत्रता पा जाते और कोई उनका विरोध नहीं कर पाता । किसी की जमीन हडप ली, किसी का घर उजाड दिया । किसी के घर डाले डलवा दिए । सरकारी पैसों की हेरा-फेरी में भी उन्हें महारत हासिल थी, क्योंकि पंचायत के मुखिया बलभद्र प्रसाद और सरपंच दयाराम उनकी दो जेबों की तरह थे जिनका तेमाल वे जब जैसा चाहें कर लेते थे ।

शहर में पढते हुए शिवप्रताप को इस स्थिति पर रोना आता था, पर वह कुछ कर नहीं पाता था । कॉलेज से छुट्टियों के समय न चाहते हुए भी गाँव आना उसकी मजबूरी हो गई थी, क्योंकि चौधरी की हिदायत थी कि कॉलेज बन्द होने के बाद वह एक दिन भी शहर में न रहे और सीधे गाँव आए । कई बार उसका मन विद्रोह करने को होता, पर वह सब कुछ सहता अन्दर-ही-अन्दर सुलगता रहता और कुछ नहीं कर पाता । उसके मन में बार-बार यह प्रश्न उठता कि आखिर

उसके पिता इन हथकंडों में क्यों उलझे हैं ? वे क्यों गरीबों का दोहन करते हैं ? क्यों हिन्दू-मुस्लिम समुदायों में भेद-पैदा कर समाज की शांति भंग करते हैं ? क्या उनके धार्मिक और मदाचारी होने का यही परिणाम है?'[१३६]

'समय बीतता गया । मुरारी सिंह चमरटोली के खिलाफ अपनी षड्यंत्रकारी योजना की तैयारी में लगे रहे । अपनी योजना को कार्यरूप देने के लिए मुरारी सिंह ने पानी की तरह पैसा बहाया । हालाँकि उन्होंने जो कुछ भी किया, सब गुप्त रूप से ही । गुप्त रूप से काम करके ही वे अपनी योजना को मूर्त रूप देने की स्थिति में पहुँचे । फिर जैसा कि उन्होंने सोचा था, एक रात लगभग सी जवानों के साथ उन्होंने चमरटोली को घेर लिया । उनके लोगों के हाथ में घातक हथियार और किरोसीन के टीन थे । चमरटोली के चारों तरफ की झोपडियों पर किरोसीन तेल छिडककर मुरारीसिंह के लोगों ने आग लगा दी तथा आग से बाहर निकलकर भागने वालों को भून देने के लिए हथियार लेकर तैनात हो गए । लेकिन चमरटोली के लोग भी आ डटे । उस घटना के बाद से वे बराबर सतर्क रहते थे तथा अब पहले वाले दब्बे भी नहीं रह गये थे । खूब जमकर मुकाबला किया उन्होंने । लेकिन उनकी संख्या कम थी और उनके पास पर्याप्त हथियार भी नहीं थे । कुछ आक्रमणकारियों को उन्होंने जरूर मारा । लेकिन वे देर तक नहीं लड सके । लडते हुए भी शहीद होने लगे । फिर देखते-ही-देखते पूरी चमरटोली आग, राग और खून से सन गयी। शेष लोग तो चमरटोली के बीच स्थित पेडों पर चढ गए थे या कुएँ में उतर गए थे, वे ही बचे रह गए थे ।

सुबह होने पर चमरटोली का हृदय अजीब भयावह लगने लगा था । पत्थर

दिल इंसान भी इस दृश्य को देखकर काँप जाते थे । मुरारीसिंह और उनके लोगों ने बदले की भावना से प्रेरित होकर यह कर तो दिया था, लेकिन इसे देखकर वे भी दहल उठे । उन्हें भय भी होने लगा था कि अब जरूर कुछ होगा । इतने बडे कांड को वे आसानी से नहीं पचा पाएँगे । फलत: अपने ऊपर आने वाले संकट से बचने के लिए इस कांड के कुछ मुख्य अभियुक्त गाँव से दूर रिश्ते-नातेदारों के यहाँ छिपने के लिए भाग चले ।'[१३७]

'कृष्णकांत मिश्र जान गए थे कि वर्षों से पिछडे हुए बिहार में अब शायद उम्मीद की कोई किरण भी शेष नहीं रह गई है, क्योंकि राजनीति जातिवाद के धिनौने दौर में दाखिल हो गई है । उन्हें हैरानी हो रही थी कि कैसे पूरे बिहार में जातिवाद का धिनौना खेल खेलकर जन अभ्युदय दल ने राज्य की सत्ता हथिया ली ।'[१३८]

'बालेश्वर चौधरी जिन्दावाद' के नारों से आकाश गूँज उठा था । लगभग दो हफ्ते बाद वे गाँव लौटे थे । अब वे बिहार के कैबिनेट मंत्री थे । नरेश यादव के मुख्यमंत्री बनने के बाद बिहार में यादववाद की मुहिम चल पडी थी । नरेश यादव ने बालेश्वर चौधरी को मुँहमाँगा मंत्री पद दिया था और कहा था कि वे सबसे पहले अपने समुदाय के लोगों का भला करें ।'[१३९]

'अब यदि प्रजा पार्टी हारी है तो अपनी करनी से हारी है, क्योंकि उसके रहते कोई उम्मीद बच नहीं गई थी । पर अब जो पार्टी सत्ता में आई है, वह जातिवाद के कंधों पर सवार है और उसे सिर्फ प्रतिक्रिया के बल पर शासन करना है, कुछ करने में वह उसी तरह दिलचस्पी नहीं लेगी जैसे प्रजा पार्टी ने नहीं ली ।'[१४०]

उपर्युक्त प्रमुख तत्वों को अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में दर्शाया है । वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव ग्रामीण जीवन के विभिन्न तत्वों में प्रकट हुआ है । अन्तिम दशक के ग्रामीण समाज में ग्रामीण किसान एवं मजदूरों की स्थिति, ग्रामीण शिक्षा क्षेत्र, ग्रामीण जीवन की विभिन्न समस्याएँ, गाँवों का परिवर्तित परिवेश, अंधविश्वास, जात-पात का भेदभाव और मूल्यों का विघटन आदि प्रमुख तत्वों को ग्रामीण उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में दर्शाया है ।

इन तत्वों के अवलोकन के उपरान्त पता चलता है कि इनमें कुछ तत्व विकासात्मक हैं और कुछ अवरोधात्मक हैं । अवरोधात्मक तत्वों से ग्रामीण समाज की हानि होती है । विकासात्मक तत्वों से समाज का लाभ होता है। जहाँ विरोधात्मक तत्व पाये जाते हैं वहाँ समाज के सस्कार की आवश्यकता होती है । उदाहरणत: गाँव में पेयजल की समस्या बनी हुई है । आज गाँवों में पानी मिलना कठिन है, उस पर स्वच्छ पानी मिलना और भी कठिन है । सरकार को इस पर ध्यान देकर जनता को स्वच्छ पानी दिलवाने के लिए सुधार करना चाहिए । इसके लिए नए रास्तों का अन्वेषण करना चाहिए । देश के नदियों का अनुसंधान करके ग्रामीण जनता को पानी उपलब्ध कराने का प्रयत्न करना चाहिए । गाँवों में अशिक्षित लोग अधिक रहते हैं। उनके लिए गाँव में काम कम रहता है । ये लोग समय का दुरुपयोग करते हैं । एक-दूसरे से लडते हैं, झगडते हैं, गप्पे मारते हैं और पीते हैं । जिससे उनका शरीर नष्ट होता है । उनकी शक्ति सही दिशा में उपयोग नहीं होती । वे आलसी बनते हैं। अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण उपन्यासों में उपर्युक्त विषयों का यथार्थ चित्रण किया

गया है । ग्रामीण उपन्यासकारों का लक्ष्य इन समस्याओं का चित्रण करना ही नहीं वरन् कहीं-कहीं दिशा निर्देश भी दिए हैं । इस प्रकार समाज के सुधार पर ध्यान दिया गया है और उन्नत कोटि के समाज के निर्माण में जिम्मेदारियाँ भी बताई गयी हैं । जात-पात, अंधविश्वास, मूल्यों का विघटन आदि अनेक समस्याओं के संशोधन के उपाय इन उपन्यासों में मिलते हैं ।

सन्दर्भ

१. डॉ. विजयकुमार जाधव- किसान जीवन: विविध आयाम, पृ.१३

२. डॉ. हेमराज 'निर्मम'- हिन्दी उपन्यासों में मध्यमवर्ग, पृ.२९

३. डॉ. रामदरश मिश्र- हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, पृ.३३-३४

४. डॉ. इन्द्रदेव- भारतीय समाज पृ.८६-८७

५. प्रेमचन्द- गोदान, पृ.१८१

६. डॉ. ज्ञानचन्द्र गुप्त- स्वातंत्र्योतर हिन्दी उपन्यास और ग्राम-चेतना, पृ.२३

७. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.५७

८. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.१२२, १२३

९. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.१८-१९

१०. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.१९

११. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का संत, पृ.१२३-१२४

१२. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का संत, पृ.३९

१३. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम, पृ. १८१-१८२

१४. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.७०-७१

१५. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१९३

१६. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.२०

१७. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम, पृ. २८२-२८३

१८. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का संत, पृ.८४

१९. मिथिलेश्वर- युद्धस्थल, पृ.१०६

२०. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१७१-१७२

२१. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१७३-१७५

२२. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम्, पृ. ९२-९३

२३. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.१६५

२४. मिथिलेश्वर- युद्धस्थल, पृ.९४

२५. मिथिलेश्वर, यह अन्त नहीं, पृ. १९६-१९७

२६. विद्यासागर नौटियाल- भीम अकेला, पृ.२४-२५

२७. राजदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.११४

२८. मिथिलेश्वर- युद्धस्थल, पृ.१३७

२९. राजदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.६१

३०. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.१६५-१६६

३१. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.१५६-१५७

३२. विद्यासागर नौटियाल- भीम अकेला, पृ.२६

३३. राजदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.५९-६०

३४. राजदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.११५-११६

३५. ज्योतिष जोशी- सोन बरसा, पृ.९

३६. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.२५-२६

३७. राजदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.१९

३८. राजदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.६९

३९. शिवप्रसाद सिंह- औरत, पृ.११

४०. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.२४३

४१. शिवप्रसाद सिंह- औरत, पृ.१५७

४२. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.२८२

४३. ज्योतिष जोशी- सोन बरसा, पृ.१३२-१३३

४४. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.३६-३७

४५. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.४५-४६

४६. विद्यासागर नौटियाल- भीम अकेला- पृ.१९

४७. विद्यासागर नौटियाल- भीम अकेला- पृ.३०-३१

४८. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.२६

४९. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नम्, पृ.९०

५०. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.६३

५१. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का सन्त, पृ.१९४

५२. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.२९-३०

५३. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.२९-३०

५४. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.७४-७५

५५. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.८७

५६. शिवप्रसाद सिंह, औरत, पृ.१७-१८

५७. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.२१६

५८. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा- भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.१

५९. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा- भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.२

६०. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा- भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.२

६१. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा- भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.२

६२. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा- भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.२

६३. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.५५-५६

६४. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.४७-४८

६५. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.५४-५५

६६. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.३५०-३५१

६७. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.५१

६८. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.४४

६९. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१२३

७०. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१४३

७१. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.३१

७२. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१६८

७३. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१६९

७४. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१७४

७५. शिवप्रसाद सिंह- औरत, पृ.१३

७६. शिवप्रसाद सिंह- औरत, पृ.३०

७७. शिवप्रसाद सिंह- औरत, पृ.४४

७८. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम्, पृ.३३

७९. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम्, पृ.२८०-२८१

८०. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.१०५

८१. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.२४०-२४१

८२. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.२२८-२२९

८३. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम्, पृ.३४२

८४. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.३८-३९

८५. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.११५-११६

८६. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.७०-७१

८७. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा- भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.५५

८८. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा- भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.५५

८९. वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा- भारत में सामाजिक परिवर्तन, पृ.५५

९०. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.१२६

९१. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.४७

९२. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.६२

९३. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.७९

९४. सुदामा सिंह- भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ.२६२

९५. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.८६-८७

९६. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.९०

९७. डॉ. प्रभा वर्मा- हिन्दी उपन्यास : सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया और स्वरूप, पृ.३२

९८. डॉ. मोहिनी शर्मा- हिन्दी उपन्यास और जीवन मूल्य, पृ.१००

९९. ज्योतिष जोषी- सोन बरसा, पृ.९

१००. ज्योतिष जोषी- सोन बरसा, पृ.१०

१०१. ज्योतिष जोषी- सोन बरसा, पृ.१०-११

१०२. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.५९-६०

१०३. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.६०

१०४. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.६२

१०५. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.६३

१०६. विवेकीराय- नमामि ग्रामम्, पृ.६४

१०७. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.७३-७४

१०८. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.९२

१०९. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.१८

११०. मैत्रेयी पुष्पा- झूला नट, पृ.२३

१११. डॉ. टी. मोहनसिंह- साठोतर हिन्दी उपन्यास प्रतिपाद्य और शिल्प, पृ.७१

११२. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.६५

११३. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.११३-११४

११४. ज्योतिष जोशी- सोन बरसा, पृ.७६

११५. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.३३

११६. डॉ. विवेकीराय- नमामि ग्रामम्, पृ.१०५

११७. डॉ. विवेकीराय- नमामि ग्रामम्, पृ.१०७

११८. डॉ. विवेकीराय- नमामि ग्रामम्, पृ.१६५

११९. डॉ. विवेकीराय- नमामि ग्रामम्, पृ.१६५

१२०. डॉ. विवेकीराय- नमामि ग्रामम्, पृ.७०

१२१. डॉ. विवेकीराय- नमामि ग्रामम्, पृ.७१

१२२. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.७४-७५

१२३. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१६८

१२४. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.२२

१२५. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.३९३

१२६. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.२४२-२४३

१२७. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.३०६-३०७

१२८. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.४१६-४१७

१२९. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.९७

१३०. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.९१

१३१. शिवप्रसाद सिंह- औरत, पृ.१३८

१३२. डॉ. विवेकीराय- नमामि ग्रामम्, पृ.७९

१३३. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.१५-१६

१३४. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.२६०

१३५. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.९७

१३६. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.२५

१३७. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ. ४८-४९

१३८. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.९८

१३९. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.१००

१४०. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.९९

पंचम अध्याय
आलोच्य उपन्यासों का समग्र अध्ययन

दशवें दसक के उपन्यासो में ग्रामीण चेतना के अलावा कई अन्य चेतनाएँ मुखर हुई है जिसका उल्लेख करना अनिवार्य होगा ।

➢ नारी-चेतना

आधुनिक नारीवाद की कोई परिभाषा प्राय: असम्भव है । पश्चिम में अनेक प्रकार के नारीवाद हैं- जैसे अति नारीवाद, समाजवादी नारीवाद, मार्क्सवादी नारीवाद, दलित नारीवाद इत्यादि । प्रत्येक की अपनी अलग सैद्धान्तिक विचारधारा, अपनी उपलब्धियाँ और अपनी अलग पहचान है । परन्तु इन पर विचार करने से पहले 'नारीवाद' को समझना उचित होगा । अंग्रेजी ने इसके लिए 'फेमीसीझम' शब्द का प्रयोग किया जाता है । आज तक नारीवाद की विभिन्न परिभाषाएँ देने की कोशिश की गई है, और आगे भी जारी रहेगी । नारी सम्बन्धित विचार की व्याख्या के सन्दर्भ में तीन सम्बोधनों की चर्चा करना आवश्यक है । ये तीन सम्बोधन इस प्रकार है- १. नारीत्व, २. नारीयता, ३. नारीवाद । 'नारीत्व' पुरुष व स्त्री के बीच शारीरिक व जैविक अन्तर को स्पष्ट करनेवाला शब्द है । शारीरिक विभेद जन्म से प्राप्त होता है, जिनका आधार 'जननिक' होता है । पुरुष और स्त्री के शरीर की बनावट में, आवाज में, शरीर के भेद का अन्तर सभी प्रजातियों में पाया जाता है। यह भेद किसी एक श्रेणी को अधिक क्षमताशील नहीं बनाता और इस बात को स्पष्ट करता है कि विभेद, असमानता नहीं है । प्राणिशास्त्रीय विभेदों को सामाजिक असमानता में परिवर्तित करने की प्रक्रिया पुरुष प्रधान समाज की राजनैतिक जोड-

तोड का प्रतिफल है । नारीयता समाज व संस्कृति के द्वारा नारी का विशिष्ट निर्माण है, जिनके माध्यम से उनकी प्रस्थिति, भूमिका, पहचान, सोच, मूल्य व अपेक्षां को गढा जाता है । नारीयता के निर्माण की प्रक्रिया समाज की संस्थाओं, सांस्कृतिक मूल्य व व्यवहारों, प्रथा, रीतियों, लिखित व मौखिक ज्ञान परम्पराओं, धार्मिक अनुष्टानों व नारी अपेक्षित विशिष्ट मूल्यों से स्थापित होती है । जन्म से ही बालक व बालिका के समाजीकरण की प्रक्रिया इस तरह से संचालित होती है कि बालक को साहसिक, बौद्धिक, आक्रामक कार्यो के प्रति ढलने का स्वरूप बनाया जाता है। बालिका को क्षमा, भय, लज्जा, सहनशीलता, सहिष्णुता, नमनीयता के गुणों की परिभाषा के आधार पर उसके अनुरूप व्यवहार असामान्य करार कर दिया जाता है। बालक व बालिका के खेल व खिलौने इस तरह से भिन्न होते हैं कि समाज द्वारा परिभाषित नर-नारी के क्षेत्र के अनुरूप ही उनका विकास हो सके । सौन्दर्य के प्रति अभिरूचि की आधारशिला भी बाल्यकाल से ही लडकी के मन में अंकित कर दी जाती है । इस प्रक्रिया में बालिका के सन्दर्भ में, सौन्दर्य को बुद्धि की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है । इधस प्रक्रिया में बालिका के सन्र्द में, सौन्दर्य को बुद्धि की तुलना में प्राथमिकता दी जाती है । एक अर्थ में इस छवि को निर्माण के माध्यम से उसकी बौद्धिक क्षमताओं को द्वितीय स्थान मिलता है । समाज की अनेक संस्थाएँ नारी की प्रस्थिति का निम्न बनाने में सहायक होती हैं । परिवार व विवाह जैसी संस्थापित जो की व्यक्ति को भावात्मक, सामाजीक, सांस्कृतिक, आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती हैं, किसी स्तर पर नारी की असमान प्रस्थिति व शोषित की प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी हैं । पितृ-सतात्मक परिवार में विवाह के पश्चात् लडकी

को पति के घर जाना होता है, उसका पारिवारिक नाम बदल जाता है, अनेक समाजों में ऐसी प्रथा है कि पिता की सम्पति में उसका अधिकार नहीं होता । विवाह से जुडे अनेक आयाम-उदाहरणत: दहेज-प्रथा, वैधव्य, कौमार्य, अदृश्य हिंसा, नारी की प्रस्थिति के नकारात्मक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं । 'नारीवाद' एक ऐसा विचार है जो पुरुष व स्त्री के मध्य असमानता को स्वीकार कर नारी के सवलीकरण की प्रक्रिया को बौद्धि व क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत करता है ।

नारीवाद एक विचारधारा भी है और एक आन्दोलन भी । नारीवादी विचारधारा के अन्तर्गत अनेक प्रकार के सम्बोधनों व सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है । नारीवाद के सिद्धान्त के अन्तर्गत मूलरूप से समानता व सबलीकरण के माध्यम से महिलाओं व पुरुषों के मध्य व्याप्त समाजगत असमानता को नकारता है । नारीवाद के अनेक प्रकार हैं, जिसमें अलग-अलग विचारकों ने विभिन्न आयामों को महत्व दिया है । इस सन्दर्भ में कैरोलीन रामजेनोग्ल ने नारीवाद पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि- 'नारीवाद पर परिभाषा का स्थिर रूप कहीं भी देखने को नहीं मिलता क्योंकि स्त्री की आजादी का अर्थ हजारों वर्ष से विभन्न अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है । आगे उन्होंने और भी स्पष्ट करते हुए बताया है कि- 'नारीवाद' को परिभाषित करना उस पर राजनीतिक दृष्टि से प्रश्नचिह्न लगाना है । उसकी परिभाषा देनेवाले की सोच पर यह निर्भर करता है कि वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य में स्त्री-पुरुष के बीच सम्बन्धों को किसी आधार पर ग्रहण करता है । अत: नारीवाद भविष्य की दृष्टि पर निर्भर करता है जो उसे समय-समय पर आलोचनात्मक शक्तियाँ प्रदान करता है ।' इसलिए नारीवाद विभिन्न सामाजीक सिद्धान्तों का एक ऐसा निर्मित रूप है जो

समाज में स्थित दोनों लिंगों के बीच के सम्बन्धों को बताता है तथा उनके अनुभवों की वाणी विभिन्नता को भी रखता है । महिला स्वतंत्रतावादी आन्दोलन के विकास के साथ ही उनमें सामाजीक, राजनैतिक और आर्थिक चेतना बढी है और महिला-विमुक्ति आन्दोलन के समर्थकों ने महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों का विरोध करना शुरू कर दिया है । क्रिया के स्तर पर इस आन्दोलन को व्यापक सफलता मिली है । ये मुद्दे उन महिलाओं ने उठाए हैं जिनकी बौद्धिक पहचान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की मानी जा सकती है ।

इक्कीसवीं सदी की शुरुआतमें नारी मुक्ति आन्दोलनखुद को एक नये मोड पर खडा पा रहा है । बाजारवाद और खुली अर्थव्यवस्था ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के समीकरण को प्रभावित करना शुरू कर दिया है । इसके ठोस प्रमाण अब खुलकर सामने आने लगे हैं । अन्तिम दशक में महिलाएँ समाज में अपनी स्थिति, अधिकारों और समस्याओं को लेकर अधिक मुखरित हुई हैं। नारीवादी चिन्तन ने किसी भी तरह की सांस्कृतिक इजारेदारी के विरोध का झंडा बुलन्द किया है । वह अपनी और पितृसता की संरचनात्मक भिन्नता और बहुलतावादी पहचान को मान्यता देती है । यह वाद दमनकारी संरचना को हटाकर उसकी जगह स्वयं दमनकारी बनकर नहीं बैठना चाहता है । विषमता, विभिन्नता, विच्छिन्नता और अस्मिता की लालसा में बडे-बडे सांस्कृतिक संकट पैदा हो रहे हैं । इस व्यापक संकट को पितृसत्ता के विशिष्ट संकट में रूपान्तरित करने की क्षमता नारीवाद में है क्योंकि वह समाज की सभी श्रेणीयों में अपने लिए स्वाभाविक गुंजाइश खोज सकता है । नारीवाद के समर्थन का आधार हर वर्णन, वर्ग और समुदाय में मौजूद है । वह उत्तर-आधुनिक

समाज का सर्वाधिक व्यापक और आमूलवादी आन्दोलन है । विशेष तौर से भारत जैने बहुसांस्कृतिक देश के सन्दर्भ में नारीवाद की इस वर्चस्व-विरोधी और बहुलतावादी प्रवृति का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है । अन्तम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में चित्रित महिलाएँ जीवन के हर क्षेत्र में भाग लेती हैं । सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक आदि क्षेत्रों में अपना योगदान देती हैं । समकालीन जीवन के विभिन्न सन्दर्भों में स्वतंत्रता चाहने वाली आधुनिक नारी में स्वतंत्र चेतना, मानव एवं स्वाधीन व्यक्तित्व की प्रवृति परिलक्षित होती है।

नयी चेतना एवं व्यक्तित्व के प्रति जागरुकता के कारण आज की ग्रामीण नारी में एक और परिस्थितिवश आरोपित वैवाहिक बन्धन की रूढिवादी कृत्यों के निर्वाह के प्रति बौद्धिक विद्रोह अंकुरित हुआ है तो दूसरी और बढ रही समानाधिकार की भावना के कारण वह केवल पति की दासी एवं सुख विलास की सामग्री बनना नहीं चाहती । आज की महिला वैवाहिक आदर्शों से सम्बद्ध श्रद्धा एवं कृतज्ञता को उपहासास्पद मानती है । परिणामत: वर्तमान पारिवारिक एवं सामाजीक जीवन में विघटन के चिह्न परिलिक्षित होते हैं ।

अन्तिक दशक की स्त्री का अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बदला है। अनेक वर्जनाओं से मुक्त वह अपने ढंग से अपना जीवन जीने पर बल देती है । शिक्षा प्राप्त कर वह एक ओर अपने स्वाधीन व्यक्तित्व को प्रकट करती है तो दूसरी और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए चरित्र, मर्यादा या पवित्रता आदि का प्रयोग दूसरे तरीके से करने लगी है । यह सर्वविदित है कि हमारा समाज पुरुष प्रधान समाज है जिसमें नारी के लिए दूसरी नागरिक का भी दर्जा नहीं है । नारीवादियों

ने जब एक नये दृष्टिकोण से दुनिया को देखना शुरू किया तब उन्हें समझ में आया कि स्त्री और पुरुष की असमानता महज पूँजीवाद की उपज नहीं । यह एक सामाजीक घटना है प्रत्येक जाति और समाज से सम्बन्धित है अत: असमानता की इस अलग घटना की परिचर्चा उत्पादन के सम्बन्ध संगठन और नियन्त्रण से हटकर की जानी चाहिए । पितृ सतात्मकता विश्लेषण के लिए एक ऐसा शब्द जरूरी है जो मानवीय सम्बन्धों की व्यापक समझ के लिए जरूरी उपादान साबीत हो सकता है। पितृ सतात्मक व्यवस्था की व्याख्या करते हुए प्रभा खेतान ने कहा-

'पितृ सत्ता वह विचार है, वह सिद्धान्त है जो अपने से या अपने समूह से भिन्न प्रत्येक व्यक्ति पर नियन्त्रण चाहती है । अत: मानवीय सम्बन्धों का एक और बडा व्यापक फलक हमारे सामने उभरता है एक ऐसा सोपानोकरण जहाँ क्रमश: ऊर्ध्वगामी कुछ मुट्ठी भर विशिष्ट लोग जन-जन का नियंत्रण करते हैं । चाहे वह स्त्री हो या पुरुष विशिष्ट होना विशिष्टता की चाह विशिष्टता की सीढियों पर चढने चले जाना हमें 'साधारण जन' से अलग कर देता है । सवर्णी होने का अहंकार भी उसी पितृसत्ता की देन है । स्त्री विशिष्टता का भ्रम पाल सकती है किन्तु वह विशिष्ट कभी नहीं हुई ।' पितृसत्ता शब्द की आज अपनी समस्याएँ हैं और अन्तर्विरोध है, पितृसत्ता दलन के उन वैश्विक और ऐतिहासिक तरीकों का इस्तेमाल करती रही है जो स्त्री को उसकी जैविक अधीनस्थ स्थिति से बार-बार परिचित कराती है । पितृसत्ता के नियमित ढाँचे और आकार हैं जिसमें किसी भी प्रकार का बदलाव स्वीकृत नहीं और न ही इनसे अलग रहने वाला शांति से रहने दिया जाता है। पितृसतात्मक समाज स्त्री के मुद्दे पर सोचना ही नहीं चाहता न यह स्वीकारना

चाहता है कि ऐतिहासिक विकास के दौरान आधुनिक स्त्री ने अपने लिए अलग से कुछ भी हासिल किया है वह स्त्री की चुनौती कोमहज एक बचकाना हरकत मानकर कभी उसे मारता है तो कभी भुलाता-फुसलाता है मगर पितृसत्ता की आन्तरिक इच्छा यही है कि समर्पण एकतरफा हो । ऐसे बने बनाये ढाँचे से तरल मानवीय सम्बन्ध वह जाते हैं और नित नयी विविधता की सृष्टि करते हैं । स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी ऐसा ही विचित्र तरल सम्बन्ध है जिसका कोई स्थाई रूप नहीं हो सकता ।

ऐतिहासिक विकास क्रम में सामाजिक स्तर पर निजी सम्पति की अवधारणा ने स्त्री को निरन्तर हीनतर स्थिति में पहुँचाया है । पितृसतात्मक समाज तथा संस्थाओं की मौलिक संरचना में निजी सम्पति का मालिक अपनी भी वैयक्तिकता को हस्तान्तरित करके अलगाविक करके मात्र अपनी सम्पति को प्यार करता है और सम्पति का स्वामी चाहता है कि उसकी सम्पति उसकी मृत्यु के बाद उसकी ही आत्मा के अंश उसकी सन्तान के पास रहे । वह यह प्रमाणित करना चाहता है कि पीढी-दर-पीढी उसकी वंशवेलि फलती फूलती रहेगी । अत: पुरुष अपने ईश्वर और अपने बच्चों को पत्नी के अधिकार में कभी नहीं सौंपता । असल बात यह है कि पुरुष ने पितृसतात्मक ताकत से औरत का प्रत्येक अधिकार छीन लिया है । स्त्री अब पुरुष की वस्तु हो गयी । उसका महत्व जमीन के टुकडे और गाय बैल से अधिक नहीं रह गया । उसने उस पर अपनी सत्ता आरोपित कर दी । सन्तान को पिता का नाम मिलने लगा । यदि स्त्री को पिता की विरासत से कुछ मिलता भी था तो वह पुरी सम्पति भी सन्तान के माध्यम से पति के ही परिवार में शामिल होने

लगी । बडी चालाकी से औरत को सम्पति और सत्ता के उत्तराधिकार से वंचित कर दिया गया । चूँकि औरत का अपना निजी कुछ भी नहीं था, अत: वह व्यक्ति की गरिमा से भी वंचित हो गयी । अब वह पुरुष की विरासत का एक हिस्सा भर रह गई । पहले पिता के अधीन बाद में पति के अधीनस्थ । रूढियाँ इस कदर बढीं की कन्या का जन्म बोझ लगने लगा । जन्म के साथ ही उसकी हत्या का प्रचलन शुरू हो गया उससे जीने का अधिकार छीना जाने लगा । स्त्री को समाज में अधिकार के तौर पर समाज में सम्मान नहीं मिलता था । उसका अस्तित्व एक पुरुष की कृपा पर निर्भर हो गया ।

पिता को पूरा अधिकार है कि वह चाहे जहाँ और जिससे भी बेटी का विवाह करे । गाय-बछडे और गुलामों की तरह स्त्री भी पुरुष की सम्पति थी । अत: पुरुष के लिए बहु विवाह की छूट थी । विवाहों पर प्रतिबन्ध स्त्री की भावना के कारण नहीं बल्कि आर्थिक कारणों से लगे । समाज ने स्त्री को कोई सुरक्षा नहीं दी । पुरुष उससे मनचाहा व्यवहार करने लगा । पितृ-सतात्मक व्यवस्था को स्त्रियाँ भी बढावा देती हैं घरों में ही माँ बेटे और बेटी में भेदभाव करती है, सास-बहु को तंग करती है । स्त्री-भ्रुण का गर्भपात करवाती है । यह सब कुछ एक व्यवस्था की उपज है । औरतें भी तो पितृसतात्मक सामाजीक ढाँचे का हिस्सा हैं । नारीवाद पितृसतात्मक व्यवस्था का विरोध करता है ।

स्वातंत्र्योत्तर अधिक ग्रामीण उपन्यासों में शोषित नारी की विभिन्न प्रवृतियों को उभारा गया है । अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में नारी की प्रवृति का विश्लेषण निम्न प्रकार किया गया है ।

मातृत्व की भावना: मातृत्व का मूल्य नारी के जीवन को पूर्णता और सार्थकता को प्रदान करता ही है, उसकी सृजनशीलता की भावना को भी तृप्त करता है । 'मातृत्व की भावना नारी को शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही दृष्टियों से तृप्त करती है । इसलिए उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए अपेक्षित इस प्रकार से भावना के मूल्य के अन्तर्गत सम्मिलित करना अनिवार्य हो जाता है ।'

ग्रामीण उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्का के 'चाक' उपन्यास में पुत्र के लिए तरसती माँ की ममता को दर्शाया गया है । उपन्यास में 'सारंग' अपने बेटे 'चन्दन' के लिए व्याकुल होती है । निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं-

'खाली बोरी में कटोरे से जल्दी-जल्दी गेहूँ भरती हुई पछता रही है- मेरे चंदन, माफ कर देना मुझे । नन्हें, तू दाँव पर लग गया । तू तो इस जंग का अता-पता भी न जानता होगा । दुश्मनों ने तुझे हमारी कमजोरी समझ कर पकड लिया रे... तुझे गाँव छोडना पडेगा, क्योंकि तेरा प्रथम संसार छोड गया । बैरियों ने बछडे को मारकर हमको मिसाल दी है । सोच रहे होंगे कि बच्चे के लिए सबसे ज्यादा डरता है आदमी । मैं कमजोर पडती चली जा रही हूँ, बहुत कमजोर... ।

ओ देवी मइया ! ओ इस गाँव के देव-पितरों! तुम्हारे पास चंदर की रक्षा की कोई असीस हो तो आज बरसा दो । जीवन भर कुछ न माँगूँगी । ओ मेरे मियाँ मसानी... जाहर-पीर...।'

हाथों से बोरी भरती चली जा रही है, मन घरा में मँडराते अशुभ महूरतों से लड रहा है- 'मैं हर तरह से लाचार हो गई अपनी मोह-ममता से हार गई । हरियाली की आशा में इस समय अपना आँगन ही ऊसर कर देना होगा । चंदन के बिना बियावन... आँखें बरसने लगीं ।'

'सारंग बाबरी की तरह रंजीत से दस तरह की अनुनय करती रही- 'जीजी से कह देना, इस नादान की भूल चित न धरें । गाँव में रहा है, शहर के फायदे नहीं जानता । खला की माफी दें । हम विपता के मारे हुए हैं । समय खोटा है । और अन्त में इतना ही कि चंदन को जनम देना मेरी तकदीर में बदा था, लालन-पालन उनकी गोद में । एक बार डोल जायँ गाव में ।'

'तुम कराह रहे हो रंजीत ?- सारंग सोच में डूब उतरा रही है । समझते हो कि मैं अपनी बेइज़्ज़ती का बदला... वह मेरी छातियाँ उघाडने की जगह नोच-खसोटकर घायल-विक्षत कर देता, डोरिया मुझे फाडकर खा जाता, मेरी बोटी-बोटी... रंजीत, मैं तब भी अपने बेटे को दाँव पर न लगाती । औरत का कलेजा कैसा होता है, तुम क्या जानो? कब वह पत्थर की शिला हो जाता है और कब पिछला हुआ मोम ? चंदन से ज्यादा प्यारी नहीं है मुझे अपनी देह ।

और सोच सको तो सोचो की तुम कहाँ ले जा रहे हो इस बालक को? वहीं, जहाँ तुम्हारे भाई का एकछत्र राज्य है । वहाँ, जहाँ चंदन को अपनी ताई नहीं, ताऊ की जरखरीद नौकरानी मिलेगी । वह नौकरानी कैसा व्यवहार करेगी मेरे बेटे से? या तो मेरा बच्चा अपनी ताई की दर्दनाक धृणा का शिकार होगा या उसके साथ ताऊ से जुल्म सहेगा।

तुम क्या जानते नहीं अपने भाई को?

जानते हो तो भेजने का मतलब ?

मैं भी कैसे मना करूँ रंजीत ? मेरे हाथ-पाँव बाँध दिए हालात ने । जुबान गूँगी बना दी । अपने भइया के यहाँ भी कैसे भिजवाऊँ ? अगर कोई अनर्थ हो गया

तो तुम मुझे और मेरे भाई को सूली पर लटकी दोगे, जैसे चंदन अकेले तुम्हारा ही बालक हो । तुम ही उसके कर्ताधर्ता, तुम ही पालनहार... मैं कुछ नहीं, कुछ भी नहीं... ऐसा क्यों लग रहा है आज ?'

आधुनिक ग्रामीण नारी : वर्तमान ग्रामीण नारी जागरुकता का प्रतीक है । आज की महिला संगठित होकर अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुई है । अन्तिम दशक की ग्रामीण स्त्री एक व्यक्ति से व्यक्त न होकर समाज का अंग बन गई है । पति के साथ अस्तित्वहीन, व्यक्तित्वहीन बनकर रहने की अपेक्षा वह समाज में आत्मसात होकर रहना चाहती है । आधुनिक ग्रामीण नारी चेतना के स्तर पर आपसी सम्बन्धों को तर्क की कमीटी पर परखती है । बौद्धिक रूप से विकसित नारी आधुनिकता के क्षेत्र में आती है । अधिकांश ग्रामीण महिलाएँ आधुनिकता की प्रक्रिया में संलग्न हैं किन्तु पूर्ण रूप से परिवर्तित नहीं है । सभी सम्बन्धों से मुक्त, अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परिचय देने वाली ग्रामीण नारी आधुनिक कहलाती है । आधुनिक नारी से अर्थ उस नारी से है जो अपने सम्बन्ध में निर्णय स्वयं लेती है। वह समाज की भलाई और बुराई के बारे में भली-भाँति परिचित है। आज वह अपने आत्मविश्वास से काम लेती है । नई चेतना की प्रतीक ग्रामीण स्त्री उन नैतिक मूल्यों और सामाजीक धारणाओं का विरोध करती है जो जीवन के विकास में बाधक हैं।

अन्तिम दशक की ग्रामीण उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा के 'झुला नट' उपन्यास में शीलो आधुनिक विचारों वाली ग्रामीण महिला का प्रतीक है । शीलो अपने देवर से आधुनिक पोशाक धारण करने के लिए कहती है । निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है-

'बुरे की बात नहीं । मैं तो यह कहती हूँ कि हल हाँकते हो, इसका मतलब यह तो नहीं कि बूढो हो गए । धोती-कुर्ता ही पहनोगे । रघु के पिता जी को देख लो, नाती-नतूलों के हो गए, शिब्बू की बेलबॉटम पैंट कसे रहते हैं । चिरगाँव से कमीज-पैंट काहे नहीं सिलवा लाते । और देखो, मूँड पर उस्तर फिरवाने की जरूरत नहीं । हमें नहीं सुहाती घुटी मुडी । तिरछी माँग काढकर जुल्फे...' तिरछा होंठ करके मुस्काई शीलो ।

वह उजवक-सा देखता रह गया ।

अम्मा क्या कहेंगी? छैलई सूझ रही है । धूल-मिट्टी का काम करने वाला अंग्रेजी पोशाक कैसे सँभालेगा ? टाई लगाने को कहेगी शीलो कल के दिन! अम्मा सूँघ जाएँगी कि लुगाई सिखा रही है।

'न हो, तो मैं चलूँ संग ? नीला रंग सोहाता है तुम्हारे ऊपर ।'

दहेज प्रथा: भारतीय सामाजीक परम्परा के अनुसार नारी का विवाह अनिवार्य माना गया है । प्राचीन काल में माता-पिता द्वारा लडकी को विवाह के अवसर पर उपहार स्वरूप दहेज देते थे । किन्तु जब से दहेज एक प्रथा के रूप में समाज में प्रचलित हुआ तब से वह प्रथा निरन्तर बढने लगी है । इस कारण भारतीय ग्रामीण समाज में कन्या का जन्म एक जटिल समस्या हो गयी है । दहेज की इस सामाजीक कुरीति के परिणामस्वरूप ही अनेक सुन्दर तथा सुशिक्षित लडकियाँ अयोग्य लडकों से ब्याह दी जाती हैं । दहेज के बिना आजकल लडकी के गुणों का कोई महत्व नहीं रह गया है । दहेज वह है जो नकद धन-राशि अथवा वस्तु के रूप में दी गयी वह सम्पति है जिसे लडकी वाले विवाह के अवसर पर लडके वालों को देते हैं । दहेज

प्रथा एक ऐसी बुरी प्रथा हैं जिससे माता-पिता चाहते हुए भी अपनी सुन्दर से सुन्दर कन्या के लिए योग्य वर नहीं प्राप्त करते ।

'दहेज हमारे समाज में एक रिवाज के रूप में प्रचलित है । दहेज प्रथा में दोष ही दोष भरे हुए हैं । यह समस्या दिन-दूनी बढती जा रही है । इसका यह दुष्परिणाम है कि गरीब पिता अपनी योग्य कन्या को योग्य वर के हाथ नहीं सौंप सकता । दहेज न दे सकने की विवशता के कारण कितने ही पिताओं को अपमान के घूँट पीने पडते हैं । कितनी ही सुन्दर कलियों को असमय ही मुरझाना पडता है । कितने ही माता-पिताओं को समाज के ताने सुनने पडते हैं, और कितनों को अपने प्राणों से हाथ धोना पडता है । दहेज प्रथा की जडे इतनी गहराई में चली गई हैं कि उनका उखड सकना तो दूर रहा बल्कि वह आज और अपना विकराल रूप धारण कर रही हैं ।'

'ग्रामीण उपन्यासकार शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'औरत' में अन्तिम दशक में जीवित दहेज प्रथा का सजीव चित्रण किया गया । 'औरत' उपन्यास में उपन्यास के पात्र सुदर्शन तिवारी, पाण्डेजी के बीच वार्तालाप चलता है । निम्न उदाहरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'आपकी बहन केतना पढी है भइया पाण्डेजी!' सुदर्शन तिवारी ने पूछा ।

मामला परीक्षा का था । पाण्डे ने कहा- 'यही तो कमजोरी है अपनी । तिवारी बाबा उसने मैट्रिक पास करके पढना छोड दिया बोली- हमें क्या पढकर नौकरी करनी है । हाईस्कूल हो गई बहुत है ।'

'ठीक है भैया, सादी तै होय गई समुझ लो । हमें बी.ए. पास रण्डी नाहीं

चाहिए । एक आई है जब से, घर में चैन नाही मिलत । हाँ, हमें तो भइया हाइस्कुलै वाली पसंद हो । केतना देन-लेन के बात कहके भेजे हैं आपको बाबूजी?'

'ऊ तो धनसाम को हमने बताया दिया था । ऊ बहुत ज्यादा कमीशन माँग रहे हैं । इस तरह से तो तिवारी बाबा एस्टीमेट बिगड जायेगा ।'

'ऊ कौन होते हैं बोलने वाले ? कमीशन माँगने वाले ? किशोर ने कहा ।

'भाई साहब घनसाम जी का कहना है चार लाख तिवारी जी को और एक लाख हमको मिलना चाहिए । हमारे बाबू जी ने साफ-साफ हुक्म दिया है कि हम किसी भी प्रकार पाँच लाख के ऊपर नहीं जा सकते । दूसरे यह भी तो बात है तिवारी बाबा की हम सब जब तिलक में आयेंगे, बाबू जी को अगर मालूम हो गया कि चार लाख ही चौके पर दिए गए तो वे बहुत चिढ जाएँगे । पुराने विचार के आदमी हैं ।'

बाल विवाह का विरोध : यह विवाह भ्रामक रूप से बाल्यावस्था में ही किसी भी सजातीय से कर दिया जाता है और इसके अनुसार स्त्री के पक्ष का निर्णय उसके माता-पिता स्वयं कर लेते हैं । यह एक कुप्रथा है । अनेक वर्षों से यह प्रथा चलती है । यह एक प्रवृति के रूप में आज भी गरीब ग्रामीण परिवारों में चलती है।

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार डॉ. विवेकी राय के 'नमामि ग्रामम्' उपन्यास में इस कुप्रथा को प्रस्तुत किया गया है । उपन्यास का पात्र गाँव का प्रतीक बुढा लेखक (पात्र) से कहता है-

'गाँवों में ऐसी कुप्रथा अभी हाल तक रही है और कुछ क्षेत्रों में अभी भी है कि बचपन में ही लडके-लडकियों का पाणिग्रहण हो जाता है । बचपन में कर्मठ और

आलसी होने का कोई प्रमाण नहीं होता और यदि होता तो बालक की शादी पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडता; क्योंकि यह कार्य तो बालक के पिता की योग्यता के आधार पर सम्पादित होता है । शिक्षा-दीक्षा और नए युग के प्रभाव से अब हवा बदली है और देख रहे हैं कि लडका अपने पैर पर खडा हो जाता है, उसकी भुजाओं में इतनी शक्ति हो जाती है कि पृथक रहकर भी अपनी तथा स्त्री की जीविका चला सके, तभी उसकी शादी होती है । इतने पर हमारे बेटों की दुनिया में अभी भी कुछ छोटी जातियों में बालक की शादी उसी समय हो जाती है जब वह दुधमुँहा बच्चा होता है या अभी ठीक से धोती भी नहीं पहन पाता हैं । उसके दूध के दाँत दिखाई भी नहीं पडते कि उसे परिणय के पवित्र सूत्र में कस दिया जाता है । यदि वह आलसी निकलता है तो उसका एक पूरा कुनवा दुर्भाग्य की चट्टान पर सिर पटकता रहता है । इनमें ऐसी सभी शक्लें हैं जो अपनी जोरू के जाँगर पर जीवित हैं ।'

'बचपन ने विवाह हो जाना गाँवों में साधारण बात रही है । छोटी जातियों में तो पैदा होते ही शादियाँ हो जाती हैं, परन्तु उनके यहाँ छूट रही है । विधवाएँ शादियाँ कर लेती हैं । ऊँची जातियों में यह बात नहीं । जहाँ बाल विवाह और वृद्ध विवाह होंगे, वहाँ संतानहीन नौजवान विधवाएँ भी समाज के कठोर नियंत्रणों में जकडी हुई होगी ही । भले ही वह अपने पति का दर्शन भी न कर सकी हों । इस बुराई को कौन रोक सकता है? तिस पर भी गाँवों में ! हाईस्कूल तक जाते-जाते पचहतर प्रतिशत लडके विवाहीत हो जाते हैं । कुछ तो एक-दो लडकों के पिता हो गए होते हैं, परन्तु रजिस्टर में साफ! कोरे कुमार! और जानते हो, इनकी श्रृंखला

आधुनिक काल में आकर आधुनिक विचारों और वस्तुओं के साथ कितनी बीभत्स हो गई है ? ओह, अकथनीय है, अकल्पित है ।'

अनमेल विवाह का विरोध: अनमेल विवाह की प्रवृत्ति सामन्तवादी और पूँजीवादी समाज व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण दोष है । जिसमें पुरुष नारी को अपनी वैयक्तिक सम्पति मात्र समझता है । यह उपभोगी भौतिक संस्कृति के रूप में परिणत हो गयी है । अन्तिम दशक के ग्रामीण हिन्दी उपन्यासों में अनमेल विवाह की प्रवृति का चित्रण किया गया । अनमेल विवाह से नारी अधिक चिंतित एवं दु:खित रहती है ।

ज्योतिष जोशी के ग्रामीण उपन्यास 'सोनवरसा' में अनमेल विवाह की समस्या का चित्रण किया गया । उपन्यास में नादिरा (पात्र) अपने पति से परेशान रहती है। वह हर दिन उसे मारता रहता है । परिवार में छोटी-छोटी बातों पर लडाई-झगडे होते रहते हैं । इस सन्दर्भ में निम्न उदाहरण दृष्टिगोचर होता है-

'नादिरा महीनों बाद मैके आई थी । जीवन तो उसका नाम बन गया था । बात-बात में पति उसे मारता और गालियाँ बकता हैं । दिन-भर घर के काम-काज में उलझी रहती नादिरा जब फुर्सत में आती तो अकेले में बैठकर रोती । आँसुओं से उसके कपडे भीग जाते हैं और आँखे इतनी लाल हो जाती हैं जैसे वे दहकते अंगारे हों । पर वह कर भी क्या सकती थी । शाहवाज के वहाँ जाने पर चीख-चीख कर रोती है और अपने मन की भडास निकालती है । उसके इसी तरह रोने-कलपने से शाहवाज ने नादिरा का दिन रखवा दिया और एक दिन जाकर बुला लाया ।'

ढिबरी की धीमी रोशनी में नादिरा का बुझा हुआ चेहरा शाहवाज की आँखों में उत्तर गया था । पिछले कई दिनों से वह देख रहा था कि नादिरा जहाँ बैठती, वहाँ बेठी रह जाती । उसकी जानी-पहचानी शोखी न जाने कहाँ गायब हो गई थी। क्या यह वह नादिरा है जो हँसती थी तो इतनी हँसती थी कि बिना डाँटे चुप होने का नाम नहीं लेती थी ? एक ही साँस में दर्जनों जुमले उछालने वाली नादिरा की जिन्दगी खुशगवार नही है यह शाहबाज को मालूम था । सायरा भी उसके बुझे-बुझे चेहरे को देखकर हैरान होती रहती पर क्या करती । उसे गुस्सा आता तो मन-ही-मन जल भुन जाती और सोचती कि अगर इसके कदम काबू में होते तो आज वह कसाई के खूँटे में नहीं बँधी होती । गुस्ता तो आता ही रहता, पर आखिर माँ तो माँ होती है । उसकी चिंता से सूखती जा रही सायरा कुछ बोलती नहीं । शाहबाज को पता चल गया था कि रसूलपुर के रिश्ते में जल्दबाजी उसे भारी पड गई है । नादिरा का शौहर और उसका जमाई अनवर किसी काम में दिलचस्पी नहीं लेता और सुबह का घर से निकला रात को आता है । आते ही अपनी उलटी-सीधी हरकतें कर वह नादिरा को परेशान करता है और खिलाफत करने पर गालियाँ बकता है । उसने कई बार मौलवी साहब से भी इस मामले में बात की पर इसका कोई रास्ता न निकला । शाहबाज को लगता कि उसने अपनी दुख्तर की जिन्दगी नरक बना दी है जिससे उसे शायद ही कभी निजात मिले । क्या-क्या ख्वाब देखे थे कि लडकी को आला तालीम देकर हाकिम बनाएँगे, पर उसे मेहतर बना डाला।'[१९]

'नहीं, सुलेखा, जिसे तुम नसीब की मजबूती मान रही हो वह दर असल हमारी बदकिस्मती ही है । न होती तो इतनी बदनामी क्यों होती । रही बात उस

अनवर की तो यह साफ है जुलेखा कि वह आखिरी लमहे तक हमें जानवर ही समझता रहा । सुबह का घर से निकला रात को आता तो उसके मुँह से देसी दारू की बू आती । आते ही वह उल्टियाँ करता । मैं कुछ कहती तो वह गालियाँ बकता हुआ मारने दौडता । घर की जरूरतें वह कभी नहीं जान पाया । ऐसे आदमी को मैं कभी शीहर नहीं मान सकती थी। भला हो उस शरीफ जमील का जो मेरी बातें सुनता रहा और जब जरूरत पडती रही तब-तब मेरी मदद करता रहा । उससे आजाद होकर मुझे बहुत सुकून मिला है । वह शैतान था जो जीते-जी खा जाता । मैंने तो कभी अब्बा से या अम्मी से कुछ नहीं कहा । उन लोगों को पता चलता रहता था कि मैं किस हाल में रह रही हूँ । यह फैसला भी उन लोगों का ही किया हुआ है, इसलिए मैं तुम्हारी यह बात नहीं मानती कि मुझ पर उससे अलग होने का भूत सवार था । मैं आजाद हो गई हूँ, यह बेशक खुशी की बात है और ये तुम जैसे लोगों की मेहरबानियों और खुदा के फजग से ही मुमकिन हुआ है । मैं किसी के कहे की परवाह नहीं करती । जिसे जो आए, वह कहें । हमें इसी बात पर खुशी है कि जान बची है, आगे की कौन जाने या परवाह करे ।'[२०]

वैवाहिक नारी की स्थिति : राष्ट्रपति महात्मा गाँधी के अनुसार 'विवाह धर्म-सम्बन्ध है, इसलिए वह अकेले शरीरों का ही सम्बन्ध नहीं, बल्कि आत्माओ का एक्य भी है ।'[२१] किन्तु आजकल के पुरुष और स्त्री विवाह की परिभाषा को ठीक तरह से नहीं जानते इसी कारण उनके आगे यह बन्धन एक समस्या बनकर खडी हो जाती है । विवाह का महान आदर्श आज समाज में लुप्त हो गया है । दाम्पत्य जीवन का सुख आज दुर्लभ बन गया है । वैवाहिक असंगतियाँ आज घर-

घर में विद्यमान हैं । जिन्होंने स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को विकृत तो किया है, समाज की शांति भी भंग कर रखी है ।

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में इन विषयों का चित्रण किया गया है। ग्रामीण उपन्यासकार रामदरश मिश्र ने अपने 'बीर बरस' उपन्यास में वैवाहिक नारी की दीन स्थिति को दर्शाया है । उपन्यास का पात्र बलदेव अपनी पत्नी को हर समय मारता-पीटता है । उसकी पत्नी पारिवारिक जीवन से असंतुष्ट रहती है । निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'बलदेउबा कुछ करता-धरता तो था नहीं, अपने बाप और चाचा की कमाई हुई दौलत उडाता रहा लेकिन कब तक ? वह पूँजी भी चुक गयी । माँ-बाप भी बूढे हो चूके थे । वह कुछ कहती तो बलदेव उसे पीट देता । बलदेव माँ-बाप का इकलौता लाडला बेटा था, वे उससे दु:खी होकर भी कुछ कह नहीं पाते थे और जब बलदेव तथा उसकी पत्नी में कुछ कहा-सुनी होती और पत्नी पिट कर रोती तो माँ-बाप उसी को बोलते गाली बकते । माँ कहती न जाने कैसी कुलच्छिनी आयी है कि इसके आते ही भरा-पूरा घर खाली होता गया । और कोख भी पत्थर की ले कर आयी है जिस पर कोई दूब ही नहीं उगती।

बेचारी वह क्या करती ? ज्यों-ज्यों इस घर में अभाव की सीलन बढती गयी, बहू पर अत्याचार बढता गया । वह होती थी तो पास-पडोस जाता था ।

वन्दना जी यह सब देखती-सुनती थी और कई बार इस बात को लेकर उनकी टकराहट भी हुई । उसने डाँटा भी- 'बच्चा नहीं होता है तो अपने बेटे को डाक्टर को दिखाओ, उसी में कुछ खोट होगा ।' और इस पर उनसे अपमानित भी

हुई । एक बार कई दिन की भूखी-प्यासी बहू चुपके से रात को बन्दना के यहाँ आकर बैठ गयी । 'मुझे बचा लो दीदी । ये राक्षस मुझे मार डालेंगे ।' वंदना जी बहुत दु:खी हुई, स्वयं रोने लगीं । उसे खाना दिया और आश्वस्त करने का प्रयत्न किया ।'[२२]

ग्रामीण उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' में उपन्यास की नारी पात्र 'केका' वैवाहिक जीवन से व्याकुल होती है । उपन्यास का पात्र श्रीधर मास्टर कहता है-

'केका के घर हंगामा हो गया । माँ ने केका को बहुत पीटा । वह ससुराल से आने का बहाना नहीं गढ पाई, केवल बोली, वहाँ वह नहीं रहना यानी पति, तो मैं कैसे रहूँ? ससुर दारू पीकर गैरहीस पडा रहता है, उसके चार-दोस्त मुझे... आगे कुछ बताते-बताते वह खूब रोई थी । पंचायत में कहेगी यह बात? मैने पूछा था ।

'नहीं कहूँगी । वह बोली । क्यों? क्योंकि कोई इस बात को नहीं मानता । कहते हैं एक यहीं बहाना सारी लडकियाँ लेती हैं- दारू पीकर मारना-पीटना, दारू पीकर पकडना-धकडना । इसका उपाय क्या है तू ही बता ? मैं क्या बताऊँगी मास्टर जी ?'[२३]

तलाक की समस्या : अन्तिम दशक के उपन्यासों में तलाक की प्रवृति का चित्रण किया गया । अनमेल विवाह के कारण नारी अपने पति को ज्योतिष जोशी के उपन्यास 'सोनबरसा' में तलाक देती है । नादिरा का पति हर दिन शराब पीकर घण आता है और छोटी-छोटी बातों पर नादिरा को मारता है । नादिरा तंग आकर

उसके पति 'अनवर' को तलाक देती है । निम्न उद्धरण इस संदर्भ में प्रस्तुत है-

'अनवर को जब शाहबाज का संदेश मिला कि वह नादिरा को तलाक दे दे तो उसकी समझ में कुछ नहीं आया । वह जल्दी-जल्दी तैयार हुआ और मलहा पहुँचा । शाहबाज से दुआ- सलाम के बाद उसने बात शुरू की । उसकी क्या गलती है? बिरादरी में उसकी इज्जत को तो ख्याल हो । लेकिन इस इज्जत का वह क्या करे जो उसकी बेटी की जिंदगी पर भारी पड रही है ? उसे ऐसी इज्जत से नफरत है । जो आदमी अपनी बीबी को जरखेज गुलाम समझे, उसे बदजुबान बोले और हरदम मार-पीट करने को उतारू रहे, उसकी कोई इज्जत भी होती है यह उसे नहीं मालूम । शाहबाज को कोई दलील नहीं सुननी है । चुपचाप उसे तलाक देने की बात माननी है और यहाँ से दफा हो जाना है । इज्जत क्या उसकी न जाएगी ? जाएगी और उससे ज्यादा जायेगी । लेकिन इस इज्जत के नाम पर वह अपनी बेटी की जिन्दगी हलाक नहीं करेगा । बरस... इससे ज्यादा कुछ होता नहीं । वह घर जाए और तय कर ले कि वही करना है जो कहा जा रहा है ।

अनवर चाहता था कि उसे एक बार तो नादिरार से मिलने दिया जाए, पर वह भी मुमकिन न हो सका । शाहबाज के द्वार पर भीड बढने लगी थी । बात को आगे न बढाकर अनवर ने लौट जाना ही मुनासिब समझा । वह शाहबाज का गुस्सा जानता था । कुछ ऐसा-वैसा मुँह से निकल गया तो हड्डी-पसली तुडवा कर लौटना होगा । मौलवी साहब और गाँव के दूसरे बुजुर्गों ने शाहबाज को समझाने की भरपूर कोशिश की थी, पर सारी कोशिशें बेकार हो गई । कितना कहा गया... लडका बुरा नहीं है सम्भल जाएगा । अब से कोई गलती नहीं करेगा । वह आदमी

है और आदमी से खता होती है । लेकिन यह सारी नसीहतें धरी रह गयीं । शाहबाज ने किसी की बात नहीं सुनी । उसने अहद कर लिया था कि वह नादिरा को उस शैतान के चंगुल से निकाल लेगा, वही हुआ । अनवर ने नादिरा को तलाक दे दिया ।'[२४]

नारी मुक्ति आन्दोलन : आधुनिक नारीवाद की प्राय: कोई एक परिभाषा सम्भव नहीं है । पश्चिम में अनेक प्रकार के नारीवाद हैं जैसे- अति नारीवाद, समाजवादी नारीवाद, मार्क्सवादी नारीवाद, ब्लैक नारीवाद, दलित नारीवाद, प्रत्येक की अपनी सैद्धान्तिक विचारधारा, अपनी उपलब्धियाँ और अपनी अलग पहचान है और सभी का यही दावा है कि स्त्री समस्या का सही विश्लेषण केवल हमारे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से ही सम्भव है । इसीलिए यह कहना कि मुक्ति आन्दोलन तो केवल मध्यमवर्गीय श्वेत जातियों की समस्या है तथा पश्चिमी की इन स्त्रियों की सम्पूर्ण विचारधारा उस औपनिवेशिक मानसिकता पर आधारित है जिसकी नसों में साम्राज्यवाद दौडता है- वास्तव में मूल समस्या को अनदेखा करना है ।

'मुक्ति की अवधारणा भारतीय इतिहास में नई नहीं है । व्यक्तिगत स्तर पर भारतीय स्त्रियों ने अपनी-अपनी लडाइयाँ लडी हैं । किन्तु अब तक यह बाकायदा आन्दोलन के रूप में अपनी अलग अलग पहचान नहीं स्थापित कर सकी है ।'[२५] समकालीन नारीवाद एक बहु आयामी प्रयास है । विभिन्न सैद्धान्तिक आग्रहों के कारण नारीवाद की अलग-अलग आवाजें अलग-अलग मुद्दों पर अधिक मुखरित हुई है ।

भारत में बीसवीं सदी को महिला जागरण का युग कहा जाता है । महिलाओं

के संगठित आन्दोलन, हर दिशा में हो रहे हैं । अपने नागरिक अधिकारों के लिए वे लड रही है । समाज और परिवार में सुरक्षित स्थिति के लिए रोजगार और आत्मनिर्भरता के लिए, महिला कर्मचारियों की आर्थिक सुरक्षा के लिए कानून पास करवाए जा रहे हैं । परिवार कल्याण के लिए योजनाएँ बनाई जा रही हैं । पीडित नारियों के लिए संरक्षात्मक उपाय बनाए गये । राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में स्त्रियों के समाधान में स्त्रियों की भागीदारी बढे इसके लिए सन् १९७५ का वर्ष 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष' के रूप में मनाया गया और सन् १९८५ तक महिला-उत्थान के विशेष कार्यक्रमों के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला दशक' मनाया गया । पश्चिम और पूर्व की नारी की स्थितियाँ भिन्न हैं । भारतीय स्त्रियों और पश्चिमी स्त्रियों का अधिकार प्राप्ति का इतिहास भिन्न है । भारतीय स्त्रियों ने कभी किसी युग में भी पुरुषों के विरुद्ध खडे होकर अधिकारों की लडाई नहीं लडी । उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं पडी । पुरुष वर्ग की इस आन्दोलन में सहयोगी भूमिका ही रही।

समस्या की जड दरअसल नारी के भीतर छुपी असुरक्षा की भावना में है । शिक्षित, अधिकार-सम्पन्न नारी की भी स्थिति वही है, नारी स्वयं को असुरक्षित समझती है । जीवन में उसे पुरुष का साथ नहीं सहारा चाहिए । यहीं पर वह पुरुष से दुर्बल हो जाती है । नारी केवल सहारा न माँगे, साथ और मैत्री भी जुटाए तो रूढियों के बंधन कट सकते हैं । वह सुरक्षा और स्वतन्त्रता दोनों में से एक न चुन स्वतन्त्रता के साथ सुरक्षित रह सकती है । इसके लिए नारी को स्वयं बदलना होगा और सम्पूर्ण सामाजीक ढाँचे को बदलने के लिए भी जम कर काम करना होगा । इसके लिए थोडी-सी प्रबुद्ध नारियाँ आगे आयें तो आम नारी की स्थिति में सुधार लाया जा सकता है ।

दो सी साल पहले विश्व की पहली नारीवादिन 'मेरी उलनस्टोनक्रोफ्ट'ने कहा था- 'मैं यह नहीं कहती कि पुरुष के बदले अब स्त्री का वर्चस्व पर स्थापित होना चाहिए । जरूरत तो इस बात की है कि स्त्री को स्वयं अपने बारे में सोचने-विचारने एवं निर्णय का अधिकार मिले ।'[२६] उलनस्टोनक्रॉफ्ट की आवाज आज भी दुनिया की विभिन्न नारीवादी विचारधाराओं में प्रतिध्वनित है ।

स्त्री न स्वयं गुलाम रहना चाहती है और न ही पुरुष को गुलाम बनाना चाहती है । स्त्री माननीय अधिकार, जैविक भिन्नता के कारण वह निर्णय के अधिकार से वंचित नहीं होना चाहती दुनिया की तमाम स्त्रियाँ वह चाहे बौद्धिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक कार्यकर्ता एवं गृहिणी हो, समवेत स्वर में सभी यह स्वीकार करें कि स्त्री को पुरुष के बराबर अधिकार मिलना चाहिए । भारतीय पुरुष का अतीत के साथ एक रोमांटिक रिश्ता रहा है । साँझ ढले पुरुष वापस अपने घर लौटकर उन व्यक्तिगत अनुभवों को दोहराना चाहता है, लेकिन औरत, उसके पास ऐसा कोई रोमांटिक इतिहास नहीं विरासत में उसे गुलानी ही मिली है वह तो मुक्ति चाहती है जिसने अब तक उसे भ्रम में और झूठे सपने में जिताए रखा है ।

नारी मुक्ति आन्दोलन के प्रमुख मुद्दे : पश्चिम से प्रारम्भ पुरुष विरुद्ध नारी मुक्ति आन्दोलन के लिए यहाँ भारत में कोई आधार भूमि नहीं है । भारतीय नारी के अधिकार प्राप्ति का इतिहास भिन्न है क्योंकि यहाँ नारी प्राचीन काल से शोषित नहीं है । मध्यकालीन बन्धनों को शोषण न कहकर तत्कालीन स्थितियों की उपज ही माना जा सकता है । जब विदेशी आक्रमरों से हमारा पूरा जातीय व सामाजीक सन्तुलन गढबडाया, नारी भी बन्धनों के घेरे में आ गई । राष्ट्रीय आजादी

और स्त्रियों के संघर्ष में स्त्री-पुरुषों की समान भागीदारी, समानता के स्तर पर भागीदारी और देश की आजादी के साथ ही भारतीय स्त्रियों को मिले समानाधिकार देश निर्माण का कार्य भी इसी तरह समान भागीदारी से ही सम्भव है ।

मध्यकालीन स्थितियों के अवशेष रूप में बची रूढियाँ, गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास, शिक्षा के साथ जुडे विभाजित मन, पुरानों पढ कर अर्थ खो चुकी परम्पराओं से मोह, भीतरी असुरक्षा के कारण पहले से भी अधिक पुरुष की पिछलग्गू होना, नये मूल्यों या आधुनिकता के नाम पर वासना की अधिक गुलामी के कारण शिक्षित-प्रशिक्षित, आजाद होकर भी पुरुषों की पहले से अधिक गुलामी जैसी अनेक स्थितियाँ और एक नारी द्वारा दूसरी नारी के प्रति क्रुर व ईर्ष्यालु हो उसके मार्ग में रोडे अटकाने वाली अपनी ही कमजोरियाँ नारी की वर्तमान स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं ।

'प्रत्येक परिस्थिति में नारी की स्वभावगत दुर्बलता ही उसे समस्याग्रस्त और पतनोन्मुख बनाती है। सर्वेक्षणों से सिद्ध है कि पूर्व स्वतन्त्रता किसी नारी को सन्तुष्ट नहीं कर पाई । भय और असुरक्षा की भावना से मुक्ति असम्भव है । सहारा देने और लेने के अन्तर को मिटाया नहीं जा सकता । नारी का कामिनी भाव जब तक उसमें विद्यमान है, मुक्ति आन्दोलन का कोई नहीं ।'[२७] नारी मुक्ति एक स्थिति है, और स्थिति को धीरे-धीरे प्रयत्न से आचरण आदर्श से आत्म-विश्लेषण और सुधार परिष्कार से त्याग और साधना से ही लाया जा सकता है । जनवादी महिला समिति, स्त्री शक्ति संगठन अनेक महिला स्वैच्छिक संगठन नारी मुक्ति आन्दोलन को शक्ति और गति प्रदान करने में सराहनीय भूमिका निभा रहे हैं । अत: नारी की नारी

से मानवी होने के लिए बौद्धिक स्तर पर विकास भी करना होगा । राष्ट्रीय व समाज के कार्यों में भागीदारी बढाने के लिए स्वयं को तैयार करना होगा। वैचारिक शक्ति का संबल होकर सुनियोजित ढंग से सामाजिक बदलाव के लिए निरन्तर नारी को प्रयत्नशील रहना होगा ।

ग्रामीण उपन्यासकार रामदरश मिश्र के 'बीस बरस' उपन्यास में नारी मुक्ति की भावना की प्रवृति को जागृत किया गया । 'बीस बरस' उपन्यास में वंदना (पात्र) नारी मुक्ति के लिए लडनेवाली आधुनिक नारी का प्रतीक है । वह उपन्यास में किसी भी नारी के साथ हो रहे अन्याय अत्याचार को नहीं सह पाती है । वह हर समय शोषित नारी में धैर्य लाने का प्रयत्न करती है और अन्याय के विरुद्ध लडने की प्रेरणा देती है । उपन्यास के पात्र सुभाष और दामोदर के बीच का वार्तालाप इस सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होता है-

'सबेरे आफत आ गयी बलदेव और उसके माँ-बाप वंदना के यहाँ आकर धमकाने लगे- 'तू कौन होती है, हमारे और हमारी बहू के बारे में बोलने वाली? तू हमारी बहू को बिगाड रही है । तू उसे भगाने के फेर में है । खुद भी तो कहीं से भागकर आयी है न? खबरदार जो अब कभी हमारे घर के मामले में पडी ।'

वंदना तन कर खडी हो गयी । 'यह आपके घर का मामला नहीं है आदरणीय ससुरजी । यह पूरे समाज का मामला है । आपको एक औरत को पशु की तरह मारने-पीटने का अधिकार किसने दिया है ? यह आपकी बहु जरूर है लेकिन उससे पहले एक आदमी है । इसे भी आदमी की तरह जीने का अधिकार है । दीवार के उस पार से इसका विलाप आ-आकर मेरी छाती फाडता रहता है । इसके साथ में

रोज एक मौत मरती रहती हूँ और आप पूछते हैं कि मैं कौन होती हूँ आप लोगों के बारे में बोलने वाली?... और वैसे भी मैं आपके छोटे भाई की पुत्रवधु हूँ। अपनी बहुओं के बारे में आप भागने-भगाने का लाँछन लगा रहा हैं। बेशर्मी की भी इंतहा होती है। मैं आपने चचेरे पुत्र की ब्याहता बहू हूँ और किसी का दिया नहीं खाती ? और आपनी इस सगी पुत्रवधू को मैं भगाने की नहीं, तन कर जीने की सलाह दे रही हूँ यह वधू गाय की तरह कायर न होती तो दिखा देती कि जुल्म क्या होता है।'

और उसने सबके सामने बलदेव की बीबी को खडा करते हुए कहा- 'उठ बेवकुफ, तूने बहुत जुल्म सह लिये, अब तन कर खडी हो जा। जब तक तू डरती रहेती तुझ पर जुल्म होता रहेगा। जरा तन कर तो देख, जरा जुल्म को जलती निगाहों से घूर कर तो देख, फिर क्या होता है? मैं तुम्हारा साथ दूँगी।'

बलदेव ने लपक कर अपनी पत्नी का हाथ पकडा और घसीटते हु, घर की ओर ले चला। आस-पास गाँव वालों की भीड लगी थी। लोगों के भीतर भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ हो रही थीं लेकिन शायद सभी लोग सोच रहे थे कि यह एक परिवार के भीतर का मामला हैं, इसमें क्या बोला जाय। एक बुजुर्ग ने बलदेव को सुझाव देते हुए कहा- 'अरे बेटे, आराम से ले जाओ, घर की इज्जत का मामला है।' और बहू से भी कहा- 'बेटी, अच्छा घर की बहुएँ इस तरह भाग-भाग कर दूसरे घरों में नहीं जातीं अपना घर ही अपना घर होता है।'

उसी समय वंदना ने आक्रोश में कहा- 'बहू तू जा और जैसा मैने कहा है वैसा कर, मैं तुम्हारे साथ हूँ। थाना, पुलिस, कोर्ट, कचहरी सभी देखूँगी।'[२८]

नारी जागरण आन्दोलन : अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार 'रामदरश मिश्र' के 'बीस बरस' उपन्यास में ग्रामीण नारी के विकास की प्रवृति को प्रस्तुत किया गया है । आज की पढी-लिखी ग्रामीण नारी में उभरता आत्मविश्वास को उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में सुन्दर ढंग से दर्शाया है । उपन्यास के पात्र दामोदर और मंजुल के कथन से विकसीत नारी जागरण की प्रवृति अभिव्यक्त होती है । निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होता है-

'कौन है यह लडकी?' मंजुल ने पूछा ।

'मैं नहीं जानता । अपने को चमरौटी के किसी आदमी की भानजी बता रही है ।'

'किसकी भानजी हो ?' मंजुल ने पूछा ।

'सुखदेव की । ये दोनों लफेंगे बडी देर से मेरे पीछे पडे हैं ।'

सुखदेव का नाम सुनते ही माधो-साधो बुरी तरह चौके ।

'तो तुम सुखदेव की भानजी हो ? इसीलिए मैं तुम्हें पहचान नहीं सका । जाओ, घर जाओ ।' मैंने देखा वे दोनों लफंगे चुपचाप वहाँ से सरक गये थे ।

'बडे बैगैरत हैं दोनों । दिन दहाडे गाँव की एक लडकी को बेइज्ज़त करने पर तुले थे । यह तो मैं आ गया...'

'नहीं अंकल, ये मेरा कुछ नहीं कर सकते थे । उन्हें मैंने सबक सिखा दिया होता । किसी दिन सिखा भी दूँगी । अब वे दिन गये जब ऊँची जाति के लफंगे हमें अपने इस्तेमाल की चीन समझते थे?'

मुझे इस लडकी का आत्मविश्वास बहुत अच्छा लगा । बोला- 'शाबाश बेटी...।'

'सुखदेव सुनेंगे तो आग बबूला हो जायेंगे और इन दोनों लफंगों का कुछ न कुछ होकर रहेगा ।' मंजुल बोला ।

'नहीं मैं उनसे नहीं कहूँगी । मामा हो या और कोई, कब तक किसी का बचाव करेंगे? अपना बचाव तो हमें खुद करना चाहिए । अब यहाँ आ ही गयी हूँ तो अपने बल पर रहूँगी ।'

'क्या मतलब ? अब तुम यहीं रहोगी ?'

'हाँ, लडकियों के प्राइमरी स्कूल में मेरी नियुक्ति हुई है । मेरा घर तो गगहा है लेकिन जब तक इस स्कूल में हूँ मामा के साथ ही रहूँगी ।'

'ओह तो तुम पढी-लिखी हो ।'

'क्यों अंकल, आपको लगा नहीं कि पढी-लिखी हूँ ?' वह मुस्करायी ।

'लगा बिलकुल लगा ।'

'हाँ मैं बारहवीं पास हूँ ।'

'बहुत अच्छा बेटी, बहुत अच्छा लग रहा है ।'

'हाँ लेकिन आप जैसे लोग कितने हैं अंकल, जिन्हें हमारी पढाई-लिखाई अच्छी लग रही हो । दुनिया बदल रही है लेकिन बडे लोग अभी उसी मानसिकता में जी रहे हैं । आपकी बात और है आप बाहर रहते हैं और पूरी दुनिया के बदलते मिजाज को समझते हैं ।'

'तुम, मुझे जानती हो ?'

'हाँ, आपकी कहानियाँ भी पढी हूँ और राजनीतिक लेख भी ।' मैं मुस्कराने लगा ।

'क्यों मुस्करा क्यों रहे हैं अंकल जी !'

'यह सोच कर कि तुमने मेरा बहुत कुछ पढा है लेकिन मेरे गाँव में मुझे कितनों ने पढा होगा । जानते सब हैं, लेकिन पहचानते कितने लोग हैं ।'[२९]

'नहीं भोलेनाथ, तुम क्या हो तुम नहीं जानते । अब हम पति-पत्नी हैं और दुनिया की नजरों में पति-पत्नी होने के लिए हम कचहरी चलेंगे, वहाँ हमारा ब्याह होगा । अपने कुछ दोस्तों को गवाही के लिए तैयार रखना ।'

'और जानते हैं चाचा जी गवाही देने कौन गया था । अंगल चाचा और मैं ।'

'शाबास सुभाष । मुझे तुम पर गर्व है । हाँ तो फिर ?'

'फिर तो चाचा जी गाँव में तूफान आ गया लेकिन अब कोई यह तो नहीं कहने लायक रहा कि वन्दना रांड है और अपने देवर के साथ गुलछरें उडा रही है। और धीरे-धीरे हर तूफान थम जाता है यह भी थम गया । थम ही नहीं गया बल्कि औरतों की जबानें धीरे-धीरे वन्दनाजी के गुणगान करने लगीं ।'

'सो क्यों ?'

'वन्दना जी बडी ही दयालु और समाजसेवी औरत है । साहसी तो है ही । औरतों की समस्याएँ उन्हें सालती हैं । जहाँ कहीं किसी औरत को दु:ख में देखती हैं उसके साथ हो लेती हैं । वे सप्ताह में दो-तीन दिन गाँव की बच्चियों को अपने यहाँ बुला कर घंटा भर पढाती हैं । वे भी मनुष्य हैं, उन्हें यह सीख देती हैं । स्त्री-पुरुष के भेदभाव पर वे तीव्र प्रहार करती हैं । रूढियों में फँसी औरतों को समझाती हैं कि वे उजाले में आयें ।'

'लेकिन दकियानूस पुरुष इसे सह पाते हैं क्या ?'

'कहाँ सह पाते हैं ? इसीलिए उसके बारे में क्या-क्या बोलते रहते हैं लेकिन अब नयी पीढी के लडके भी तो आ रहे हैं जो चाहे कितने दुर्गुणों से भरे हों लेकिन उनके मन में रूढियों की वह जकडन तो नहीं रह गयी है, जो पहले के लोगों में थी । और कई तो ऐसे हैं जो उसके समर्थक हैं, उसके मानवीय व्यवहार के घोर प्रशंसक हैं और महिलाएँ भी तो धीरे-धीरे बदल रही हैं । वे पुरुषों के दकियानूस रवैये का, उनके अत्याचार का विरोध करने का साहस भले न कर पा रही हों, लेकिन उसे समझने लगी हैं, भीतर-भीतर वे सुगबुगा रही हैं, उनकी चेतना में एक आग जल रही है जो अनुकूल हवा पाकर कभी भी भभक सकती है । अत: वे वन्दना जी को आशाभरी आँखों से देखती हैं और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वे अपने दु:ख उन्हें पहुँचाती रहती हैं और रास्ता दिखाने को कहती हैं।'

'यह तो बहुत अच्छी बात सुन रहा हूँ । मैं तो गाँव को बाहर से बन्द ही देख रहा था या उसमें से फूटते हुए नये-पुराने गन्दे परनाले ही दिखाई पड रहे थे। गाँव में एक अदृश्य ज्योति जल रही है, वह भी औरत के द्वारा औरतों में, यह तो बहुत ही शुभ परिदृश्य है ।'[३०]

दाम्पत्य सम्बन्धों के प्रति नवीन विचारधारा : 'स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की पहली कडी दाम्पत्य सम्बन्ध है । भारतीय सामाजीक जीवन में दाम्पत्य सम्बन्ध या विवाह पूर्ति का साधन नहीं है । वह जीवन का पवित्र बन्धन, त्याग एवं समर्पण का चिन्ह है । वह आत्मा की अद्वैतता एवं आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने का मार्ग है । विवाह बन्धन के पीछे हृदय की धार्मिक वृति काम करती है जो जीवन में पति-पत्नी के बीच विश्वास बनाये रखती है और उन्हें विश्रृंखल होने से भी बचाती है।

पारिवारिक जीवन की सफलता ही राष्ट्रीय जीवन की उन्नति एवं सांस्कृतिक चेतना के विकास को सम्भव बनाती है । समाज के संघटित संचाालन के लिए पारिवारिक शांति की आवश्यकता है । पति-पत्नी के सतत उद्योग के बिना पारिवारिक रथ नहीं चल सकता । भारतीय समाज में पारिवारिक जीवन की सफलता का मुख्य कारण पारस्परिक प्रेम एवं त्याग है । आज आपसी रिश्तों का पुराना ढाँचा खोखला हो चुका है, ऐसा लग रहा है कि वह टूट रहा है । आज का पति वह पति नहीं रहा जो कि एक पत्नीव्रत को ही दाम्पत्य जीवन का धर्म माने । आज की पत्नी भी वह पत्नी नहीं है जो कि शरीर की माँग को पूर्ण करने के लिए पति का ही सहारा ले। पुरानी सामाजीक व्यवस्था का टूटने एवं नई सामाजिक आस्था के जन्म लेने के लिए इस संधिकाल के विघटित दाम्पत्य जीवन में आज नैतिक बन्धनों को कोई मान्यता नहीं है ।'[३१]

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में बिगडते दाम्पत्य सम्बन्धों से चिंतित नारी प्रवृति को दर्शाया गया है । विवाहित नारी पति के दुर्व्यवहार से असंतुष्ट रहती है । ग्रामीण उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' और 'झुलानट' उपन्यासों में इस विषय का सजीव चित्रण किया गया है ।

'चाक' उपन्यास में रंजीत और सारंग का दाम्पत्य तनाव पूर्ण रहता है । इसी प्रकार 'झूलालट' उपन्यास में सुमेर और शीलो का सम्बन्ध भी तनावपूर्ण एवं असन्तुष्ट रहता है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं-

'रंजीत गुमसुम से रहते हैं । सारंग देख-देखकर परेशान थी । बार-बार कहती थी, 'मैंने कोई गलत काम तो नहीं किया । बाबा से पूछ लो । चंदन को दाखिल तो करना ही था ।'

रंजीत झुँझला गए, 'सारंग तुम अपने कामों पर बाबा की मोहर लगा देती हो। जानती हो कि मैं अपने आप से गाली-गलौज और जूतम-पैजार नहीं कर सकता। और इसी का तुम फायदा उठाती हो। मैं कौन हूँ अब इस घर में ? मेरी औकात ही क्या रह गई है ?'

सारंभ कुढकर रह गई। भला यह भी बिसूरने की बात है। सीधा करो, उलटा लगता है। इसमें इनका महत्व कम हो गया ?

कहाँ खुद भी कहते थे, 'चंदन को आगरे भेजना पडा। नहीं तो इसी स्कूल में अच्छी तरह पढ लेता। श्रीधर मास्टर बडी मेहनत करता है बालकों के संग। थानसिंह कुछ कहे, प्रधान कुछ बके, मास्टर की योग्यता और लगन में कभी नहीं। ये ससुर तो बेईमान हैं। इनकी आँखों में क्यों चढेगा श्रीधर ? सारंभ क्या-क्या याद करें ?'

कभी-कभी इतने कठोर हो जाते हैं रंजीत कि उन्हें पहचानना मुश्किल पडता है उनकी नीयत का खुलासा ऐसी घडियों मे होगा, कहाँ पता था? इथने दिनों किस भ्रम में रही फिर? प्राणो से प्यारा पति दुश्मन हो उठेगा, यह समय का खोट है या मेरा ?

मुझे मालुम है कि भँवर की मडैया पर रंजीत लगातार तीन दिन जाते रहे कि मास्टर के संग मुझको घर पकडें। लेकिन ऐसा सुअवसर उन्हें मिला नहीं, यह बात अलग है। आज की दो-एक जगह निगाह मारते हुए आएँगे, अवश्य। साहस और पकेपन के बाद की स्थितियाँ कितनी गम्भीर हो जाती हैं, सारंग से पूछे कोई। चंदन का स्कूल में दाखिला कराना संगीन जुर्म माना जा रहा है, 'उस साले के कारण

तू लडके को भी मरवा डालेगी' रंजीत ने कहा था ।'[३२]

'घर लैटी है- स्याह अँधेरे में! चंदन पीछे-पीछे चला आया ।'

मल्सा चौके में घर दिया अंदाज से, और काँपते से हाथों से स्विच खोल दिया । आँगन में रोशनी फैल गयी, देखा कि रंजीत खाट पर लैटे हैं दालान में । आँखों में आग जलने लगी- खुद पर काबू नहीं रख पा रही वह । खाट के पास झपटकर पहुँची और रंजीत को झकझोर डाला, 'तुम! तुम सोचते हो कुछ भी करोगे और मैं डरके मारे कुछ नहीं कहूँगी? तुमसे डरती ही रहूँगी ? तुम दुमुँहा हो गए हो तो मैं तुम्हारा फन कुचल न डालूँगी । यह मत समझना कि दो रोटी के पीछे... क्यों भेजा था मुझे ? क्यों किया अपने कुकरमों में शामिल ? बोलो, क्यों ? दो जवाब ?'

रंजीत ने अपना भारी सिर उठाया । वे उठकर बैठ गए।

'यार-से-मिल-कर बडी बातें...'

सारंग सन्न रह गई । जिसे दुमुँहा समझ रही थी वह करियल नाग की तरह फन मारकर हमला कर रहा है । लडखडाती जुबान... पी आए हैं । सूधा नहीं जा रहा । धमाके करना चाहते हैं !

'दे आए प्रधान के यहाँ हाजिरी । ले आए चिरनामिर्त । हमें किस नरक में जाकर पटकोगे ?' कहते-कहते उसकी आवाज फटने लगी । 'चंदन, बाबा को बुला ।'

'तू बक-बक... मास्टर साला-उल्लू का पट्ठा ! खुदा-का चिराग है वह ? कुत्ता है कुत्ता ! कुत्ता समझती है ?' रंजीत के होंठ टेढे-मेढे होकर लटक गए ।

'दारू पीकर आए हो और हमें धमकाते हो!' आँखें निकालकर गुर्रा रही है सारंग । 'पागल-भैवल बना रखा है हमें तो । बच्चे का भी ख्याल नहीं । क्या सीखेगा यह?'

'हाँ, पी है, पी है, हाँ । बोल-बोल-बोल- क्या करेगी तू? हम-गाँव के प्रधान हैं। जानती है- गाँव के प्रधान! अतरपुर के प्रधान-प्रधान-प्रधान!'' वे एक शब्द को कई बार दोहराते हैं ।

आँखों के बडे-बडे गटा निकले पड रहे हैं । बेबस से देख रहे हैं, जैसे जान रहे हों कि कोई जबरदस्त शिकंजा दिमाग को कसता जा चला जा रहा है । कुछ कहना चाहते हैं, मुँह से कुछ और ही निकल जाता है । जुबान पर काबू नहीं रहा। जबडा नियंत्रण के बाहर है- लकडाने की हालत में ...।

लेकिन अपने होशो-हवाश को दुरुस्त दिखाना चाहते हैं । लडखडाते हुए खुँटी तक गए और रस्सा उतार लिया, फटकारने लगे सारंग को निशाना बनाकर। लेकिन रस्सा कहीं से उठता है, कहीं लटक जाता है । हाथों की जुम्बिश खत्म !

सारंग के आँखों में आँसू भरे हैं, लेकिन उसे हँसी आ गई ।

हँसी । रंजीत रस्सों से उसकी खाल उधेड देते, इतनी टीस तब भी न उठती, जितना कष्ट उन हाथों को यों निर्जीव होते देखकर हो रहा है । वह फूट पडी। दालान के खम्भे से सिर टिकाकर बिलख रही है । रुलाई के वेग में पेट और पीठ फफक रहे हैं।

'रोऽऽऽ... मैंऽऽऽ... मर गया हूँ ।'

'कि... उस-यार-को, जिसके-संग-सोऽऽऽ...।'

'रंजीऽऽऽत! हत्यारे!' सारंग दाँती भींचकर चिंधाड पडी ।

चंदन माँ की धोती पकडकर खडा है । रोया हुआ सा बेढब चेहरा । होंश फैले हुए, दाँत निकले से.... माँ ऐसे कभी नहीं चिल्लाई, उसको लग रहा हो मानों।

'सारंग ने चंदन को धक्का दिया- 'बाबा को बुला । खडा क्यों है ?'

'बुआऽऽऽ...वह...बुऽऽऽढा...पुरानी-रे!'[३३]

'शीलो भाभी की आँसुओं से तर हिचकियाँ-पनचक्की की हुच्च-हुच्च । समझने को अब क्या बाकी रह गया ? बरसो से सींची-पोशी आशा पर पाला गिरा दिया सुमेर भइया ने । वे पति हैं, भाभी दो दगा तले दबा दें या रहम की भीख डाल दें, उनकी मर्जी, उनकी खुशी । इस आँगन में काँटों का छतनार बिरछ उग आया है, जिसकी छाया में भाभी को बैठना ही होगा । गाँव समाज के चलते या सती देवी का सिंहासन है ।'[३४]

विधवाओं के शोषण के प्रति विरोध : भारतीय समाज में औरत ही एक ऐसी हस्ती है, जिसका नसीब संस्कृतियों, क्षेत्रों, वर्गों और धर्मों में व्यापक अन्तर और भेद होने के बाद भी हर जगह एक जैसा ही रहता है । लगातार तिरस्कार और अपमान जैसे उसकी नियति है । औरत की अक्ल उसकी एडी में होती है, औरत झगडे का सबसे बडा कारण होती है और औरत की दवा पिटाई है- औरत के बारे में ऐसी सोच केवल गँवार कहे जाने वाले लोगों की ही बपौती नहीं है, भारतीय संसद में कई बार ऐसा हुआ है कि सत्ताधारी पक्ष को शर्म दिलाने के लिए चूडियाँ पेश की गई । अत: चूडियाँ पेश करने का मकसद तो यही रहा कि आप औरत की तरह नालायक हैं । यहाँ पर भारतीय प्रजातंत्र की एक और विडम्बना की ओर ध्यान

दिलाना अप्रासंगीक नहीं होगा । भारतीय संविधान के निर्माताओं ने राष्ट्र अध्यक्ष के लिए जो नाम चुना वह 'राष्ट्रपति' था । इसके दो ही कारण थे । या तो यह मानकर चला जाय कि कभी कोई महिला इस पद पर बिराजमान हो ही नहीं पायेगी या कोई महिला इस पद को ग्रहण कर भी लेती है तो उसे पुरुष रूपी का रूप धारण करना ही होगा । वह सुश्री या श्रीमती रहते हुए इस पद की परिभाषा से बाहर मानी जायेगी । महिला के बारे में इस घटिया सोच की पैठ को समझना है, तो हमारे आस-पास घट रही दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में इसे अच्छी तरह देखा जा सकता है। अगर किसी वाहस से सडक पर कुचल कर कोई व्यक्ति मर जाये तो अक्सर भीड उस वाहन को आग लगा देती है पर भारत जैसे देश में जहाँ हर रोज बहुओं को जला कर मार दिया जाता है, इस पर कोई दंगा नहीं होता । सभी अनजान बने जातें हैं ।

ग्रामीण उपन्यासकार रामदरश मिश्र के 'बीस बरस' उपन्यास में शोषित विधवा नारी की प्रवृत्ति को दर्शाया गया । उपन्यास में 'वन्दना' (पात्र) का पति 'शिवरामा' लडाई में मारा जाता है । वन्दना के विधवा बनने पर ग्रामीण समाज उस पर अनेक नियम लगाया है । ग्रामीण नारियाँ इसे हर समय शोषित करती हैं । ग्रामीण नारियाँ वन्दना को स्वतंत्रता से रहने देना नहीं चाहती । उपन्यास का पात्र सुभाष दामोदर से कहता है-

'यानी खबर आयी कि शिवरामा लडाई में मारा गया । पूरा घर जैसे काँप कर गिर गया और वन्दना का तो हाल मत पूछिए । वह तो ठकमारी रह गयी । न रोना, न बोलना, केवल सूनी आँखो से सामने देखते रहना ।'

'उस स्थिति और दु:ख की कल्पना कर सकता हूँ सुभाष । सब कुछ जैसे अपनी आँखो के आगे घटित होता देख रहा हूँ ।'

'उसकी चुडी फोडी गयी, चुप रही, सिन्दूर पोंछा गया, चुप रही लेकिन जब उसके केश कटने की बारी आयी तो जोर से चीख पडी- नहीं ई ई...। झटक कर खडी हो गयी और रोने लगी ।'

'अरे बहु क्या करती है? भगवान ने यह कहर ढाया है तो सब कुछ सहना ही पडेगा! जब तुम्हारा सुहाग ही छीन गया तो इन बालों से क्या मोह ?'

'नहीं माँ जी नहीं । इन बालों ने क्या किया है कि इन्हें कटवाऊँ । जिन्दगी है तो जीनी ही पडेगी और जिऊँगी तो अपने को कुरूप और धिनौनी बनाकर नहीं।'

'अरे इस बेशर्म को देखो ।' तमाम औरतें बोल पडीं । उन्हें लगा जैसे भगवान ने विधवाओं से कर्तव्य निभवाने का दायित्व उनहीं को सौंपा है । और उसे नहीं पूरा करेंगी तो पाप उन्हीं को लगेगा । अत: पडोस की एक जबर्दस्त औरत ने उसे पकड लिया और नाई से कहा- 'काटो इसके बाल ।'

वन्दना उसके शिकंजे में असहाय-सी तडप रही थी ।

भजुरामा देर से यह दृश्य देख रहा था । वह पास में पडा डंडा उठा लाया। नाई पर जोर से तडपा- 'छोट दो भौजी को, नहीं तो खैर नहीं है । नहीं कटवाना है बाल ।' नाई सहम कर अलग हो गया । किन्तु औरतें भनभनाने लगीं- 'अरे इधस गबया को तो देखो, कैसा अधर्म कर रहा है । लेकिन जो भी हो यह गाँव के धर्म का संकल्प है । इस गाँव में रहना है तो राँड की तरह रहना होगा । यहाँ मनमानी

नहीं चलेगी ।'

'तुम लोगों ने तो पहले ही गाँव से निकाल रखा है । हम हमारे गाँव में नहीं रहते, अपने घर में रहते हैं । और हम अपने घर में कैसे रहें, यह हमें सोचना है ।'

'शाबाश भजुरामा तुम तो बहुत प्रबुद्ध निकले ।' मैंने कहा ।'[३५]

'मैंने बताया न कि भजुरामा मेरा मित्र है । उसने मुझे बताया कि उस दिन की घटना से वह उद्विग्र हो गया । भौजी और उसे लेकर जो ताना मारा गया था वह ताना उसे कोंचने लगा । एक सवाल भी पैदा करने लगा कि क्या ऐसा हो सकता है ? भौजी तो ठहरीं बहादुर औरत । धीरे-धीरे यह दु:ख वे पीती गयीं और सामान्य होती गयीं, घर और बाहर के काम-काज में अपने को व्यस्त करती गयीं लेकिन न उन्होंने बाल मुँडवाये, न राँडों के से कपडे पहने । इस पर गाँव के लोग और खासकर औरतें भयानक ताना मारती थीं- 'देखो इस राँड को, रंडी बनी घूमती है । फैशन करती है । इसे लाज शरम नहीं है ।' कोई बोलती- 'उँह आ गयी राँड । किसी शुभ कार्य से निकलो रास्ते में टकरा जाती है। इसका मनहूस चेहरा देख लिया है, अब भला कार्य होने वाला है ?' और वह औरत लौट जाती थी । भीजी के ऊपर गिरतार हुआ यह लाँछन उसे बर्छी की तरह कोंचता था । वह क्रोध से तिलमिला उठता था और लगता था कि किसी का गला मरोड देगा ।'[३६]

बाँझ नारी के शोषण के प्रति विरोध: 'बाँझ' शब्द का अर्थ है बंध्या । जिस विवाहित स्त्री को बच्चा न जन्मा तो उसे समाज 'बाँझ नारी' कहता है । ग्रामीण उपन्यासकार मिथिलेश्वर के उपन्यास 'युद्धस्थल' में बाँझ नारी की प्रवृत्ति को दर्शाया गया । 'युद्धस्थल' उपन्यास के 'भरतपुर' गाँव में 'रामशरण बहु' रहती

है । विवाह होने के बाद माँ नहीं बन पाती है । ग्रामीण समाज इसे 'बाँझ नारी', 'डायन' कहकर हीन दृष्टि से देखता है । इस कारण से वह असंतुष्ट और दु:खित रहती है । 'युद्ध स्थल' उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'रामशरण और रामशरण बहू दोनों पति-पत्नी के सुखद जीवन के बीच यहीं से एक चिन्ता का प्रवेश हुआ था । वे दोनों स्वस्थ थे । तगडे थे । नर-मादा के रूप में हजारों बार मिल चुके थे, लेकिन सारा मिलन व्यर्थ हो गया था । रामशरण खेती-गृहस्थी वाले आदमी थे । बीज डालने के बाद खेतों फसल न उगसे की पीडा से वे परिचित थे । वे बेचैन रहने लगे । रामशरण बहू की परेशानी भी बढने लगी। अब तक उनकी कोख क्यों सूनी है ? ऊपर से तो वे एकदम भरी-भरी हैं । अंदर क्या कमी है ? उन्होंने अपने गाँव की बंजर जमीन को देखा था । उसमें फसल नहीं उगती थी, इसीलिए लोगों ने उसमें गाँव-भर का बुहारन, राख-पात और कूडा-कर्कट डालना शुरू कर दिया था । उस जमीन का लोगों की नजर में कोई महत्व नहीं था । रामशरण बहू को लगा, बाँझ औरत और उस जमीन में कोई अन्तर नहीं । वह अन्दर-ही-अन्दर दु:खी रहने लगी ।

रामशरण ने भाग दौड प्रारम्भ की । रुपये-पैसों की कोई कमी थी नहीं । उन्होंने पानी की तरह पैसा बहाया । आरा और पटना के अनेक मशहूर चिकित्सकों से स्वयं तथा पत्नी की जाँच कराई । किसी ने रामशरण में कमी बताई तो किसी ने उनकी पत्नी में । एक चिकित्सक ने बच्चा होने के लिए रामशरण की पत्नी का छोटा-सा ऑपरेशन भी कर दिया तथा रामशरण को ढेर सारी दवाइयाँ खाने को दीं। दोनों पति-पत्नी दवाइयाँ खाते तथा बच्चा होने की प्रतीक्षा में ईश्वर से प्रार्थना

करते दिन गुजारने लगे । लेकिन जब पाँच वर्ष और गुजर गए तो उनकी परेशानी और चिन्ता दुगुने वेग से बढ गई । चिकित्सकों से उनका मोह भंग हो गया । इसी पाँच साल की अवधि में उन्होंने बारी-बारी से एलोपैथिक, आयुर्वेदिक और होमियोपैथिक तीनों दवाओं का सेवन किया था । लेकिन सब बेकार साबीत हुआ ।

रामशरण बहू को गाँव की ओर से तिरस्कृत और उपेक्षित समझे जाने की पीडक स्थिति यहीं से शुरू हुई । गाँव की औरतों ने टीका-टिप्पणी प्रारम्भ की, 'मर्द के साथ रहते दस साल हो गए... अब तक कोई बच्चा नहीं हुआ... बाँझ है, बहिला है, रामशरण का खानदान हुबाएगी...।'

औरतों के बीच तरह-तरह की बातें चलने लगीं । रामशरण बहु को उन बातों की जानकारी इधर-उधर से मिलने लगी । पीठ-पीछे औरतें उन्हें बाँझ कहती हैं । खैर...। उनके सामने तो उन्हें किसी को बाँझ कहने की हिम्मत नहीं । चाहे सारा धन बिक जाए, लेकिन मुँह पर बाँझ कहने वाले का गला दबाए बिना उनके पति छोडेंगे नहीं । पीठ-पीछे कौन क्या कहता है, कोई सुनने तो नहीं जाता । लेकिन रामशरण बहू की पीडा बढते-बढते गुस्से से इस रूप में आ गई कि पीठ-पीछे भी कोई क्यों उन्हें बाँझ कहे? अपने दरवाजे पर खडे होकर पीठ-पीछे बाँझ कहने वालियों को उन्होंने गालियाँ देना शुरू किया, 'मैं बाँझ हूँ या बहिला हूँ, किसी से कुछ माँगने तो नहीं जाती... न किसी से बुरा खाती हूँ और न किसी से बुरा पहनती हूँ... मेरा सुख-चैन देखकर जलने वाली की भगवान दोनों आँखें फोड दें... जो मुझे बाँझ कहे, वह विधवा हो जाए... उसका बेटा मर जाए... उसकी देह में कोढ फूट जाए...।'

वह देर तक गालियाँ बकती । गालियाँ बकने के बाद उनके मन का गुबार कुछ शांत हो जाता । लगता, जैसे बाँझ कहने वालियों से उन्होंने बदला ले लिया। उनका जवाब दे दिया । लेकिन अन्दर का रीतापन दूर नहीं होता । जब भी डूबकर सोचती तो लगता, बाँझ का सम्बोधन किसी के लड-झगडकर नहीं मिटाया जा सकता । जब तक उनकी कोख हरी नहीं होगी, वे बाँझ से मुक्त नहीं होंगी । शादी हुए इतने दिन गुजर गए, फिर भीउनकी कोख बंजर ही रही । वे लाख बडें-झगडें, लोग तो उन्हें बाँझ समझेंगे ही ।'[३७]

'चिन्ता उनको अन्दर-ही-अन्दर गलाने लगती । अपने दुर्भाग्य पर वे पछतावा करतीं। मन-ही-मन ईश्वर को भी दोष देतीं । ईश्वर ने उन्हें सब कुछ दिया, लेकिन बाँझ बनाकर तो कहीं का नहीं रहने दिया । उनके बाँझपन की व्यथा बढते-बढते दार्शनिक ऊँचाइयों को छूने लगती । तब उन्हें लगता, नारी जब तक माँ नहीं बन पाती है, तब तक सिर्फ भोग्या है । माँ बनने के बाद ही नारी का नारीत्व सार्थक होता है । माँ बनने से पहले वह सिर्फ वासना की कठपुतली है । नरककुंड की मछली है । उन दिनों वे एकांत में बैठकर घंटो सोचती कि अगर इसी तरह आजीवन उन्हें कोई बच्चा नहीं हुआ तो इस जायदाद का हकदार कौन होगा ? बुढापे में उनकी और उनके पति की सेवा शुश्रुषा कौन करेगा ? उनकी मिट्टी पार कौन लगाएगा ? उनके खानदान का नाम कौन चलाएगा ? और वे माथा पीट लेतीं । शादी के बाद उन्हें सारी दुनिया रंगीन नजर आती थी, लेकिन अब आँखों के सामने सिर्फ अँधेरा-ही-अँधेरा नजर आता ।

उन्हें लगता, अब वह दिन दूर नहीं, जब गाँव के लोग उनके पति को दूसरी

शादी की सलाह देंगे । फिर एक नई-नवेली दूसरी औरत इस घर में आ जाएगी । उनके पति उनको छोड उस नई औरत के साथ रहने लगेंगे । उनकी दुनिया उपेक्षित और सीमित होती जाएगी । और अगर उस नई औरत ने बच्चे को जन्म दिया जब तो उसके सामने उनकी कोई हैसियत ही नहीं रह जाएगी । वह घर की मालकिन रहेगी और वे उसकी दासी । उनके अधिकार उठते जाएँगे और वह शासन चलाएगी। उन्हें घर के पिछवाडे वाली कोठरी दे दी जाएगी जहाँ उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार और तकलीफों की कभी न खत्म होने वाली कहानी शुरू हो जाएगी ।'[३८]

'अपने पति की दूसरी शादी की बाच सोचते ही उनका अन्तर काँप जाता। उनके चेहरे पर पसीनें की बूँदें चुहचुहा आतीं । उनकी पीडा धनीभूत हो जाती । फिर उनकी आँखों के सामने अपने मायके की सहदेव बहु का चेहरा नाचने लगता। सहदेव बहू उनकी तरह ही बाँझ थी । उसके मर्द ने लोगों के कहने पर दूसरी शादी की । वह दूसरी औरत आई और आते ही बच्चे जनना शुरू कर दिया । अब सहदेव बहू घर के लिए फालतू औरत बन गई । उसका महत्व खत्म हो गया और उसके अधिकार छीने जाने लगे । जब तक शरीर चलता रहा तब तक सहदेव बहू अपनी सीत की डाँट-फटकार, लाँछना-दुत्कार और लात-जुतों की मार सहकर भी अपने अधिकारों के लिए लडती रही, लेकिन जब उसका शरीर अवश हो गया तब उसकी सीत ने उसकी वह गति की कि देखने वाले सिहर गए । उसकी सीत ने घर से उसे बाहर निकाल गली के किनारे मवेशी बाँधने वाली मडई में उसकी खाट रखवा दी थी । वहाँ न कोई उसे पानी देने वाला था और न सेवा करनेवाला। पति होते तो उसे घर से बाहर नहीं निकाला जाता । लेकिन वे स्वर्गवासी हो गए थे । सहदेव बहू

की सीत के लडकों ने घर सँभाल लिया था । लेकिन उन लडकों को उससे क्या मतलब ? वह कराहती रहती । छटपटाती रहती । रोती-कलपती रहती । उसकी सीत स्वयं तो कभी उसके पास जाती ही नहीं थी, बच्चों को भी उसके पास जाने से रोक दिया था ।'[३९]

'रामशरण बहु सोचती है कि अगर आज उनकी कोई औलाद होती तो वह सबको बता देती । किसकी मजाल जो उन्हें डायन कहे? आँख निकलवा लेती । लेकिन उनकी बंजर कोख हरी नहीं हुई । वे बाँझ की बाँझ ही रहीं । फिर आगे चलकर विधवा भी बन गई । अब गाँव के लोग उन्हें डायन न समझे तो क्या समझें ? बाँझ और विधवा और अधेड हो जाने के बाद तो डायन ही न समझी जाती है ?

रामशरण बहु अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाने लगती हैं । वे कई बार डूबकर सोच चुकी हैं, दोष किसी और का नहीं, उनके अपने अभागेपन का ही है । ईश्वर ने उन्हें ऐसा बना ही दिया है । उनकी तकदीर खोटी है । अब तो उन्हें सब कुछ चुपचाप सहना-सुनना है। सहने-सुनने के अतिरिक्त वे कर ही क्या सकती हैं ।'[४०]

'लेकिन अब तक गाँव में उनके देवास आने-जाने का प्रचार हो चुका था । उस प्रचार के साथ लोगों ने उन्हें एक नया सम्बोधन दे दिया था- डायन । यह शब्द बाँझ से बढ-चढकर था । 'बाँझ' तो सिर्फ कथन में कष्ट पहुँचाता था । डायन के प्रति तो लोगों ने अपने व्यवहार में भेद-भाव प्रदर्शित करना शुरू कर दिया था- बच्चों को उनके सामने से हटा लेना सगुन के कार्यों में उनकी नजर बचो जाना, उनसे दूर ही रहना, पर्व-त्यौहारों पर उन्हें निमंत्रीत न करना, उनसे डरना, उन्हें

मानव न समझ दानव समझना । अपमान, तिरस्कार और उपेक्षा का धुला-मिला रूप । उन्हें प्रारम्भ में लगता था, बाँझ होना ही सबसे पीडादायक स्थिति है । लेकिन डायन से सम्बोधित होने के बाद उन्हें लगने लगा, डायन होने से बढकर दु:ख और कुछ नहीं । समाज में रहकर भी समाज से बहिष्कार की सजा । मानव होते हुए भी लोगों द्वारा दानव समझे जाने की पीडन स्थिति । वे ईश्वर से प्रार्थना करतीं, चाहे जितनी दुर्गति करवानी हो, करवा लें, लेकिन डायन का सम्बोधन हटा लें । डायन बनकर जीना तो अत्यन्त कष्टकर है ही, मरने पर भी किसी के मुँह से सहानुभूति के दो शब्द नहीं निकलते । लोग कहते हैं- 'मर गई तो अच्छा हुआ... डायन थी... जीती तो लोगों को कष्ट ही देती ।'[४१]

२. जातिवाद

जातिवाद जाति से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण समस्या है । यह वह भावना है जो उपजाति के सदस्यों को अपनी ही जाति के लोगों का पक्ष लेने के लिए प्रेरित करती है जिससे दूसरे जातीय समूहों के हितों का हनन होता है । जातिवाद एक जाति के सदस्यों की अंधनिष्ठा है जो आज धार्मिक, राजनीतिक, सामाजीक सभी क्षेत्रों में व्याप्त है । जातिवाद प्रजातंत्र के लिए अहितकर है । भारतीय गाँवों में जातिवाद का जोर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् बढा है । जिससे मानसिक न्याय, सामाजीक समानता और औचित्य की भावना का ह्रास होता है ।

अन्तिम दशक की राजनीति में जातिवाद का अधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । समकालीन कुछ राजनीतिक पाटियाँ जातिवाद के सहारे सत्ता में आयीं । इसका प्रभाव ग्रामीण जनता पर अधिक नहीं है । अन्तिम दशक के ग्रामीण हिन्दी

उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में राजनीति में प्रवेशित जातिवाद का चित्रण किया। उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'वालेश्वर चौधरी जिन्दाबाद' के नारों से आकाश गूँज उठा था । लगभग दो हफ्ते बाद वे गाँव लौटे थे । अब वे बिहार के कैबिनेट मंत्री थे । नरेश यादव के मुख्यमंत्री बनने के बाद बिहार में यादववाद की मुहिम चल पडी थी । नरेश यादव ने वालेश्वर चौधरी को मुँह माँगा मंत्री पद दिया था और कहा था कि वे सबसे पहले अपने समुदाय के लोगों का भला करें ।'[४२]

कृष्णकांत मिश्र जान गए थे कि वर्षों से पिछडे हुए बिहार में अब शायद उम्मीद की कोई किरण भी शेष रह गई है, क्योंकि राजनीति जातिवाद के धिनौने दौर में दाखिल हो गई है । उन्हें हैरानी हो रही थी कि कैसे पुरे बिहार में जातिवाद का धिनौना खेल खेलकर जन अभ्युदय दल ने राज्य की सत्ता हथिया ली ।'[४३]

'आज का बर्निंग टॉपिक है प्रेम दोस्त- हिन्दुस्तान में क्या डेमोक्रेसी है? जनता जान गई है । कह रही है नहीं, बिल्कुल नहीं । हमें अपना काम करना है। हमारी जात का आदमी उठाओ । हम उस पर भरोसा करने अपनी जात का सारा वोट दिला देंगे । वह हमारी हर फरमाइश पुरी करता रहे । बस हमें सिर्फ यह गारंटी चाहिए ।'[४४]

३. अलगतावाद

व्यक्ति अपने उत्थान के समय से ही गुण या समूह बनाकर रहता आया है। इसी अवस्था में ही समाज की कल्पना भी हुई थी । लेकिन आधुनिक युग के आते-आते जब अधिकांश सामाजीक कार्य व्यक्ति स्वयं न करके मशीन पर निर्भर होने

लगा तब से व्यक्ति का व्यक्ति के साथ सम्पर्क लगातार कम होता चला गया । मशीनीकरण के प्रवाह में व्यक्ति की प्रागैतिहासिक समाज-व्यवस्था भी छिन्न होने लगी । आज व्यक्ति विज्ञान तथा तकनीकी के सहारे जितना अधिक समृद्ध दिखता है, अन्दर से वह उतना ही अधिक समाज, परिवार तथा व्यक्ति से कटकर, अलग होकर खोखला हो गया है । इस प्रक्रिया में एक क्षण ऐसा भी आ जाता है जहाँ व्यक्ति असंख्य व्यक्तियों से धिर कर भी स्वयं को अकेला महसूस करता है । एक सीमित समय मशीनों के मध्य बिताकर अन्ततः उसे एक समभावी व्यक्ति की ओर आवश्यकता महसूस होती है जिसे वह पा नहीं पाता । ऐसी स्थिति में उसका बिफरना स्वाभाविक ही है । भयंकर भीड में धिरे रहने के बावजूद व्यक्ति को कोई ऐसा परिचित नहीं मिलता जिसके साथ वह अपना कुछ समय बिता कर मानसिक शान्ति पा सके । आधुनिक जीवन की यह एक महानगरीय त्रासदी है जहाँ व्यक्ति अपने को भीड में अकेला महसूस करता है । 'अजनबीपन के बोध की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें रागात्मकता खण्डित होती है ।' महानगरीय सभ्यता में जितना अधिक अलगाव मिलता है उतना गाँवों व कस्बों में नहीं मिलता । महानगर में यंत्र तकनीक, भीड, अजनबीपन, यंत्रणा, संत्रास, अकेलापन, भय, व्यर्थता का अहसास, सम्बन्धों की औपचारिकता आदि लिए व्यक्ति एक प्रकार की ऊब व अलगाव का बोध महसूस कर रहा है । इसी कारण पारिवारिक अलगाव भी बढ रहा है ।

अलगाव की स्थिति में व्यक्ति अलगाव के कारण ने जनक का दोष न तो स्वयं को दे पाता है न ही समाज को । इसका सीधा प्रभाव समाज पर अधिक न

होकर व्यक्ति पर ही होता है क्योंकि वही यह महसूस करता है कि वह समाज से अलग है या उसका समाज में कोई मूल्य नहीं है । उसका अलगाव का यही दु:ख उसकी भयंकर परिणामों की ओर ठेलते हैं । अलगाव व्यक्तिगत व्यक्तित्व और सामाजीक संरचना की आवश्यकता एवं अवसरों के बीच व्यक्ति की दृढता, स्वयं की प्रमुखता तथा प्राय: अयोग्यता को बढाने या सम्बद्धता की कभी की एक अवस्था है। 'ऐसी अयोग्यता को 'एलियेनेशन' (मार्क्स), 'एनोमी' (दुर्खिम) तथा समकाल में 'सामाजीक तनाव' (लुकस, लेबिन और रुकाच) आदि भिन्न-भिन्न नामों से जाना गया है ।'[४५] ये अयोग्यताएँ व्यक्ति-विशेष में तनाव की एक दशा उत्पन्न करती हैं जिसके परिणाम व्यक्ति विशेष तथा सामाजीकता, दोनों को ही प्रभावित कर सकते हैं । अलगाव का अनुभव करने वाला व्यक्ति स्वयं को समाज से अलग तो होता ही है और दु:खी रहता है लेकिन साथ ही अपनी पीडा का लक्ष्य समाज को ही बनाता है । इससे इस बात का स्पष्टीकरण प्राप्त होता है कि अलगाव दु:ख का एक प्रमुख कारण है तथा इससे उत्पन्न विकार व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए धातक होते हैं ।

आज विश्व-समाज को इसी बात का अधिक दु:ख है कि उसका अब कोई अस्तित्व स्थायित्व पाता दिखाई नहीं देता । समाज का बिखराव परिवार में भी पूरी सफाई से परिलक्षित होता है । परिवार टूटकर व्यक्तिगत इकाई पर जम गया है । व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अलगाव की भावना से उत्पन्न भीड का अकेलापन सारे मानव-समाज में फैला हुआ है । जब एक व्यक्ति का अपने परिवार या समाज के लिए कोई जिम्मेदारी या समर्पण का भाव नहीं रह जाएगा तो व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता

में और अधिक खूँखार होता जाएगा । उस पर किसी सत्ता का अंकुश नहीं रह जाएगा । 'ऐसी व्यक्तिगत अनुभूतियों की बहुलता सामाजीक विवाद जैसे अपराधों या विनाश की बुद्धि, अस्वस्थता और शारीरिक या मानसिक अव्यवस्था द्वारा उत्पन्न हुई अयोग्यता आदि उत्पन्न कर सकती है ।' समाज से कटा हुआ व्यक्ति इस प्रकार स्वयं तो दु:खी रहता ही है लेकिन अपनी मानसिकता से वह समाज को अलग नहीं कर पाता । ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत जीवन बिताने वाला व्यक्ति, जो कि समाज से एकदम कटा हुआ तथा उसकी गतिविधियों से दूर होता है, समाज के लिए हानिकारक होता है । व्यक्ति के सामान्य जीवन के लिए यह अति आवश्यक है कि वह समाज जनित सुख का सहयोगी बने लेकिन जब वह पूरी तरह अजनबी हो जाता है तब उसका जीवन दु:खों से पूर्ण हो जाता है ।

अलगाव शब्द की अवधारणा नई नहीं है । इस शब्द का प्राचीन अर्थ पागल या भ्रान्ति-चित्त व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था । आज जिस अर्थ में इसकी व्याख्या की जाती है उससे पूर्व इसका प्रयोग व्यक्ति का स्वयं के प्रति विरह या पृथक् भाव के लिए किया जाता था । प्राचीन काल में कहीं-कहीं इसका प्रयोग मूर्ति पूजा के लिए भी किया जाता था । आजकल इस शब्द का प्रयोग 'चिन्ताग्रस्त मनोदशाओं अथवा असंतुलित मनोदशाओं व प्रवृतियों के लिए किया जाता है जो कि व्यक्ति को समाज से, पर्यावरण से तथा स्वयं अपने से उदासीन बना देती है । व्यक्ति अकेलापन, बेसहारा तथा असुरक्षित महसूस करने लगते हैं तथा सामाजीक सम्बन्धों के जाल से अपने आप को अलग करने का प्रयास करते हैं।' अलगाव का यही मुख्य कारण है कि व्यक्ति का सहज सम्बन्ध समाज से हो नहीं पाता है और समाज उन्हें एक

दु:खमयी जाल-सा अनुभूत होता है जिससे जितना जल्दी हो सके, छूट जाना चाहते हैं । सामाजीक रूप से अलगाव में व्यक्ति चारों ओर से अजनबीपन से धिर जाता है । उसके परिवेश से उसे उपनत्व प्राप्त नहीं हो पाता । आधुनिक युग में पूँजी की आशातीत वृद्धि के साथ जिस भयंकर वाद का जन्म हुआ उसके परिणाम में अलगावी प्रवृति को फलने-फूलने का बडा लाभकारी अवसर मिला । व्यक्ति अपनी कार्य-सीमा में जब लगातार असफल होता जाता है तो बहु दु:खी हो जाता है । अवसाद, संक्षोभ, दु:ख के कारण वह अपनी ही वस्तुओं से कटना चला जाता है और उसकी अपनी वस्तुएँ ही उसे खोखला करती जाती हैं । व्यक्तिकी इच्छाएँ तथा उसके कार्य ही जब उसके विरुद्ध हो जाते हैं तो वह अवश्य ही दु:खी होगा और जब अकेला हो जाता है तो मानसिक तौर पर अमानुषिक भी अवश्य हो सकता है।

अलगाव को मार्क्स पूँजीवादी समाज की देन मानते हैं तथा पूँजी की विनाश शक्ति की धारणा के अन्तर्गत ही अलगावीकरण को व्याख्यायित करते हैं । दूसरी ओर अलगाव की नियति को आधुनिक युग की देन मानने वालों में ऐरिक् फ्राम प्रमुख हैं । मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से आज का आधुनिक युग समाज की जो छवि प्रस्तुत करता है उस अर्थ में अलगाव अवश्यम्भावी है । अव्यवस्थित समाज में व्यक्ति में पूर्णत: विखराव दिखलाई पडता है । 'अलगाव अनुभव का वह स्वरूप है जिसमें व्यक्ति अपने आप को पराया समझने लगता है । कहा जा सकता है कि वह अपने से अजनबी बन गया है । वह अपने आपको अपने संचार का केन्द्र तथा अपने कार्य को स्वयं करने वाला न मानकर, अपने कार्यों तथा परिणामों को अपना स्वामी मानने लगता है जिनका वह पालन करता है तथा पूजा तक करता

है ।' ऐसी स्थिति में व्यक्ति की अपनी कोई विशिष्ट अस्मिता नही रह पाती बल्कि वह स्वयं अपना दास हो जाता है। इस प्रक्रिया में वह न तो समाज से जुड ही पाती है न ही उसके साथ किसी प्रकार का सहयोग कर पाता है । अपनी वस्तु के प्रति वह पराया हो जाता है । परायेपन की यही स्थिति उसके दु:ख का मूल कारण बनती है । आज के समाज में अलगाव की भावना मनुष्य तथा उसकी संस्कृति के लिए अभिशाप बन गई है । मनुष्य के व्यक्तित्व में विखण्डन तथा विभाजन आधुनिक जीवन की समस्या है । 'अलगाव पूर्ण व्यक्ति सामान्य नहीं हो सकता क्योंकि वह अपने आप को एक वस्तु मानता है जिसका वह स्वयं अपना अन्य व्यक्ति शोषण कर सकते हैं इसीलिए उनमें स्वयं का ह्रास हो जाता है । इसके कारण अत्यन्त भावुकता पैदा होती है जिसके परिणामस्वरूप वह आत्मग्लानि अनुभव करने लगता है जिसके दो कारण हैं । पहला हीनता की भावना तथा दूसरा 'स्व' की चेतना । पहली स्थिति में व्यक्ति जितना खण्डिन होता है, दूसरी स्थिति में वह अपना ही अपने को स्वयं के नजदीक पाता है लेकिन वास्तव में वह पूर्णत: स्वयं में नहीं होता । वह अलग होकर स्व में डूबता है । उसके 'स्व' की भावना ही उसे बिखरने से रोके रहती है लेकिन यह स्थिति भी व्यक्ति के दु:ख को कम नहीं कर सकती ।

कहना न होगा कि आज मूल्यों की विसंगति ही अलगाव का कारण है । स्वातंत्र्योतर काल में समाज में परम्परा से चले आने वाले मूल्य और आधुनिक मनुष्य शिक्षा एवं विभिन्न प्रकार के एक्योजर के कारण जो अपना एक निजी मूल्य बनाता है- उन दोनों के टकराव एवं उसमें आधुनिक मनुष्य की हार ही अलगाव का कारण है । अलगाव की स्थिति में मनुष्य सिर्फ समाज से ही नहीं बल्कि अपने आप

से भागने लगता है क्योंकि उसके निजी मूल्यों की अस्वीकृति से वह हताश हो यह सोचने को बाध्य होता है कि उसकी समाज में उसकी कोई एहमियत नहीं है । अलगाव सिर्फ मूल्य-संघर्ष का ही फल नहीं है । बल्कि आज की दूषित राजनीतिक परिस्थिति में जब वह अपने आप को 'मिस फिट' पाता है तो उसमें अलगाव की भावना जागृत होती है । डॉ. विनय मोहन के शब्दों में यदि कहें तो-

'एक ओर आधुनिक विज्ञान की विकसित यांत्रिकता और दूसरी ओर सामाजिक पिछडापन, यह विरोधाभास यहाँ के व्यक्तियों की मानसिकता में विशेष अलगाव की भावना भरता है ।'[४६]

उपरोक्त बात को पाश्चात्य विद्वान एर्नेस्ट फिसचर के शब्दों में इस प्रकार से देख सकते हैं-

"The contradiction between findings of modern science and the backwardness of social understanding also encourages a sease of alienation."[47]

अन्तिम दशक में आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओं ने ग्रामीण व्यक्ति को दोहरा व्यक्तित्व प्रदान किया । एक ओर तो सामाजीक स्तर ऊँचा बनाये रखने के लिए प्रतिस्पर्धा है तो दूसरी ओर इसी प्रतिस्पर्धा ने उसके जीवन में अलगाव एवं अजनबीपन की भावना भर दी है । प्रेम सम्बन्धी मान्यताओं के विद्रोह ने मनुष्य के जीवन में अलगाव एवं अजनबीपन की भावना भर दी है । परम्परागत मूल्यों का तिरस्कार कर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना से युक्त हो जब आधुनिक नवीन मूल्यों को प्राप्त करना चाहता है तब अपने अकेलेपन की छटपटाहट में न पुराने मूल्यों को बचा

पाता है और न नए मूल्य अर्जित कर पाता है ।

एक-दूसरे के प्रति विश्वास के टूट जाने पर तथा समर्पण की भावना के अभाव बमें सम्बन्ध कायम नहीं रह सकते । व्यक्तिगत अन्तर्विरोध व्यक्ति को अकेला एवं अजनबी बना देते हैं । आर्थिक एवं सामाजिक-पारिवारिक कठिनाइयाँ भी व्यक्ति को अलगाववादी बनाने में सहायक होती हैं । मैत्रेयी पुष्पा का ग्रामीण उपन्यास 'झूला' नट' में 'शीलों' एकाकीपन का अनुभव करती है । शीलो का पति 'सुमेर' नौकरी करने दूसरे गाँव जाता है । शीलो बालकिशन से कहती है- 'लला बालकिशन, जनी की जिंदगी... और फिर अपने आदमी की आँखो से उतरी औरत । हे मेरे संकट महादेव, दुश्मन की गति न करना ऐसी । मैं तो तुम्हारे भइया की लातों को फूल-पान समझकर माथे से लगाने को तैयार हूँ, लेकिन इस घर में दर तो पाऊँ। कहते-कहते शीलो भाभी के भीतर से उठा हुआ तूफान नरम होठों पर थमकर रह गया । शीलो की सास कहती है 'बहू को उसके मायके छोड आ । उस जल्लाद की आसा में... अपने नैन खो रही है ।'[४८]

अपने व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक सजगता एवं अत्यधिक स्वाभिमान दृढ सम्बन्धों को बनाये रखने में बाधक सिद्ध होते हैं । व्यक्तिगत सम्बन्धों में दृढता के अभाव में व्यक्ति अलग व शून्य की सी स्थिति में आ जाता है । श्रीलाल शुक्ल का ग्रामीण उपन्यास 'विश्रामपुर का सन्त' में सुशीला कहती है 'शायद वे शादी के पहले ही भीतर से बदल चुके थे । तब उनके लिए मैं एक सम्मोहन के दौर में गुजर रही थी और इसे पहचान नहीं पायी थी । शादी के बाद उनके साथ रहते हुए मुझे महसूस हुआ, उन्हें विदेश-भ्रमण का चस्का पड चुका है और शायद उन चीजों का

भी जिनके लिए लोग विदेश जाने के लिए लालायित रहते हैं ।'[४९]

मैत्रेयी पुष्पा के 'ताक' ग्रामीण उपन्यास में रंजित अलगावपन का अनुभव करता है वह अपने भाव व्यक्त करता है- 'सारंग! सारंग को न जाने क्या हो गया है? हर बात की जिद पकड लेती है । हठ न करती तो यह तमाशा होता ? चार दिन अस्पताल में रहकर उसका पेट नहीं भरा मास्टर के संगत से ? हम देश-परदेश भटकते फिर रहे हैं और रानी जी के लिए श्रीधर जी की चोटें ही जीवन मरण का प्रश्न हो गई । मैं समझ नहीं रहा कि वह मेरा तिरस्कार करती है? मैंने कितना चाहा है सारंग को... अपना कलेजा चीरकर तो नहीं दिखा सकता ।'[५०]

➢ दलितवाद

दलितत्व अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी 'दलित' शब्द आधुनिक है । लगभग बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही इस शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ है । किन्तु अभी तक 'दलित कौन' इस सन्दर्भ में अनेक प्रश्न उठाए जाते रहे हैं इसका मुख्य कारण है- अभी तक 'दलित' सम्बन्धी अवधारणा अनिश्चित है । कुछ विद्वान समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत शुद्र कहलाये जाने वाले वयक्तियों को दलित मानते हैं, तो कुछ दलित के अन्तर्गत मात्र अस्पृश्यों का ही समावेश करते हैं । इसके विपरीत कुछ उदार मानवता का दृष्टिकोण अपनाने वाले विद्वान सामाजीक, आर्थिक, धार्मिक तथा अन्य किसी भी कारण से शोषित, पीडित, उपेक्षित, वंचित, बहिष्कृत, अभावग्रस्त व्यक्ति को भी दलित मानते हैं, चाहे वह किसी भी जाति, धर्म अथवा लिंग का हो। जबकि संविधान के अन्तर्गत विशिष्ट सामाजीक वर्ग को दलित के अन्तर्गत रखा गया है, ये वर्ग हैं- १. अस्पृश्य, २. जरायमपेशा, ३. खानाबदोश, ४. धुमंतू जातियाँ ।

विभिन्न शब्दकोशों में 'दलित' शब्द का अर्थ दबाया हुआ, रौंदा हुआ, शोषित, मर्दित मिलता है । अत: मूल अर्थ की दृष्टि से दबाया हुआ, रौंदा हुआ, शोषित, उपेक्षित व्यक्ति दलित है । चाहे वह किसी भी जाति, लिंग, पंथ, भौगोलिक क्षेत्र अथवा धर्म का हो । व्यक्ति का सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं शारीरिक-मानसिक अथवा किसी अन्य कारण से शस्त्र अथवा शास्त्र के आधार पर शोषण, उपेक्षा, अवमानना, बहिष्कार किया गया हो वह दलित है ।

'आरम्भ में दलितों के साथ ज्यादतियाँ हुई हैं । धर्म और शास्त्र की दुहाई देकर उन्हें सताया गया है, शिक्षा से वंचित करके उनके मस्तिष्क को कुंद कर दिया गया है । इसी का परिणाम है- प्राचीन समाज में उनका कहीं कोई अस्तित्व दिखाई नहीं देता । सवर्णों और प्रस्थापितों की सेवा करना, उससे जो प्राप्त हो जाए उसी में सन्तुष्ट रहना, शास्त्रों में निहित कर्तव्यों की पूर्ति करते जाना ही उनकी नियति बन गई थी । समाज में दलितों का एक रूप ऐसा भी दिखाई देता है जिसमें गहराई से सोचते-समझने और चिंतन-मनन का अभाव है । मालिक ही उनके लिए ईश्वर का रूप है । उनमें परम्परागत व्यवस्था के प्रति न आक्रोश है, न क्षोभ है और न विद्रोह, न उसे तोड डालने की तडप ।'[५१]

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में दलितों की समस्याओं को दर्शाया गया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

जब गाँव के बारे में सोचती तो उसे अपना हरिजन होना अखर जाता । छुआछूत, धृणा, अपमान और गरीबी की मार झेलता हरिजन समुदाय कितना विवश और कातर है ! वह घर जाकर कितनी छोटी हो जाती है । लोग तरह-तरह की

बातें करते हैं । लोग उसकी पढाई पर व्यंग्य करते हैं । कहते हैं, कुछ भी कर लो, मजदूरनी ही रहोगी, कोई अच्छा आदमी अपने पास फटकने न देगा । न जाने उसे किन पुण्यों के फल से जगेसर राम जैसे पिता मिले जिन्होंने मजदूरी करके भी उसे यहाँ पढने को भेजा ताकि उस पर इस हिकारत की छाया भी न पडे ।'[५२]

'वह अपने स्वभाव से कम बोलने वाली गम्भीर प्रकृति की लडकी थी और उसमें भी हरिजन होने के कारण जो त्रास उसे मिलते रहते थे, उससे भी वह दु:खी और उदास रहा करती थी । वह इस बाबत किसी से कुछ कहती नहीं थी। दुखों को सह लेना, उसका स्वभाव बन गया था, पर जब वह क्रुद्ध होती तो किसी को भी लताड सकती थी । ऐसे अनेक अवसर आए और गए होंगे जब हॉस्टल के कर्मचारियों ने रूपाली की आक्रमक छवि देखी होगी । उसकी अक्सर हॉस्टल की लडकियों से ही कहा-सुनी होती । वह बात-बात पर चिढ जाती और कुछ भी कहना अपना अधिकार मान लेती । उन्हें रूपाली का पढना-लिखना, गम्भीर रहना और अपने को किसी के कमतर न समझना अखतरता था । पर रूपाली को इसकी परवाह नहीं होती । वह सोचती है कि समय-चक्र कभी न कभी घूमेगा और उसकी जाति के लोग समाज को नियंत्रित करने की शक्ति पा लेंगे । वे ही हंमेशा पद-दलित और पराजित क्यों रहेंगे ?'[५३]

दलितों में विकास : मिथिलेश्वर के ग्रामीण उपन्यास 'युद्धस्थल' में 'जगिया' उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहता है । निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'गाँव के प्राथमिक स्कूल की पढाई समाप्त कर जगिया कस्बे से स्कुल में पहुँचा । फिर वहाँ से वह शहर के कालेज में आया । हालांकि इस बीच जगिया और

उसके पिता भिखारी के सामने कई तरह की अडचनें और कई तरह के संकट उपस्थित हुए, लेकिन जगिया की पढाई बन्द नहीं हुई । जगिया के पिता भिखारी ने यह सोच रखा था कि उनकी अपनी जिंदगी तो गुलामी में ही कट गई, लेकिन जगिया को वे गुलामी नहीं करने देंगे । पढा-लिखाकर उसे 'स्वावलम्बी' बनी देंगे। और जगिया भी यह तय कर लिया था कि छोटी जाति में पैदा होने से क्या हुआ, वह भी गाँव के बाबू लोगों के लडकों की तरह पढेगा और देश-दुनिया के बारे में जानकारी प्राप्त करेगा । आदमी बडा है या जाति, यह जानने की जिज्ञासा जगिया के अन्दर प्रबल हो गई थी । अपनी इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिए उसे उच्च शिक्षा जरूरी लगने लगी थी । जगिया के कालेज में पहुँचने के बाद इस गाँव में बाहर की हवा का आगमन शुरू हो गया था ।'[५४]

'बीस बरस' उपन्यास में रामदरश मिश्र ने हरिजनों के विकास का चित्रण किया । उपन्यास का पात्र 'दामोदर' हरिजन टोली जाकर देखता है, और हरिजन टोली में हो रहे विकास को देखकर संतुष्ट होता है । इस सन्दर्भ में निम्न उदाहरण दृष्टव्य है-

'मंजुल को मेरे साथ जाना ही था । हरिजन टोली में घुसे तो काफी कुछ बदला-बदला लगा । मेरे ध्यान में तो अमुक-अमुक हरिजन के झोंपडे थे किन्तु अब एक भी झोंपडा दिखाई नहीं पड रहा था । खपरैल के मकान बन गये थे और कुछ पक्के मकान भी थे । मंजुल एक-एक मकान का परिचय दे रहा था और रास्ते में खडी औरतें, बच्चे और कुछ वयस्क हमें देख रहे थे और नमस्कार कर रहे थे ।

हरिजन टोली से बाहर निकले तो मंजुल बोला- 'देखा चाचा जी, इनके घर

अब कितने अच्छे बन गये हैं फिर भी लोग कहते हैं कि ये गरीब हैं ।'

मैं मुस्कराया, 'क्यों तुम्हें अच्छा नहीं लग रहा है मंजुल । अरे इस आजाद मुल्क में एक ठीक-ठाक मकान में रहने का इन्हें भी तो हक है । पहले तो इनके पास घर बनाने की कोई जमीन नहीं थी । किसी न किसी मालिक की जमीन में बसाये जाते थे और उसकी मर्जी से रहते थे, उसकी मर्जी से उजाड दिए जाते थे- अब इन्हें इन जमीनों से कोई बेदखल नहीं कर सकता, इसलिए अब ये उन पर स्थायी बना ले रहे हैं । पहले तो ये इतने गरीब थे कि चाहते भी तो मकान नहीं बना सकते थे, अब ये अपने काम की ठीक-ठाक मजदूरी लेते हैं और इनके घरों के बच्चे बाहर निकल गये हैं कमाई करने के लिए।

अछूत जागरण: 'बीस बरस' उपन्यास में 'पवित्रा' पात्र अछूत नारी जागरण का प्रतीक है । वह संघर्ष करती हुई आगे बढती है । निम्न उदाहरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है-

'यह मेरी भानजी है सर, पवित्रा ।'

'यहाँ मास्टरनी जी बनकर आयी है ।' मैंने हँस कर कहा ।

'अरे आप इसे जानते हैं सर ?'

'हाँ अभी कुछ देर पहले भेंट हुई थी ।'

देखा तो पवित्रा मन्द-मन्द मुस्करा रही थी । वह आँखों-आँखों पूछ रही थी कि कहीं आपने कुछ कहा तो नहीं । और मैंने भी सिर हिलाकर बता दिया- 'नहीं कुछ नहीं कहा ।'

'बडी तेज लडकी है । घर में लड-झगड कर इसने अपनी पढाई की और

बारहवीं फर्स्ट क्लास पास की । फिर ट्रेनिंग की । फिर मास्टरनी बन गयी । यह आगे पढना चाहती है । लेकिन यहाँ यह सब कैसे होगा ?'

'अरे तेज लडकी है तो प्राइवेट बी.ए. कर लेगी । लगन चाहिए ।'

'हाँ लगन तो इसमें बहुत है लेकिन हम लोगों की लगन भी प्रतिकूल सामाजिक व्यवस्था में कहाँ सफल हो पाती है ? कदम-कदम पर रोडे और नहीं तो गाँव के लफंगे-लौंडे बोली ठोली ही कसेंगे । शराब की दुकान ने तो इस गाँव जवार में लौंडों को बिगाड कर रख दिया है ।'

पवित्रा ने फिर मेरी और देखा । मैंने फिर सिर हिला कर इशारा किया कि नहीं मैंने कुछ नहीं कहा है ।

'ऊँची जातियों के लोग अभी भी हमारी बहू-बेटियों को अपनी बहू-बेटी की तरह नहीं मानते और उनके भीतर उनसे खेलने की जो सदियों से हविश जोर मारती रही है, वह अभी मरी नहीं है ।'

'हाँ यह तो है आप ठीक कह रहे हैं ।'

'लेकिन हम लोग अब वह नहीं रहे । अगर किसी ने मेरी भानजी का अपमान किया तो अच्छा नही होगा ।' सुखदेव की शांत आँखो से आग बरसने लगी थी ।

मुझे लगा कि सुखदेव को अभी-अभी घटी घटना की भनक पड गयी थी या हो सकता है उन्होंने यों ही आते-जाते लोगों का रवैया देखा हो । मैंने मुस्कराते हुए कहा- 'अरे सुखदेव जी, पवित्रा अपने आप में तेज पुँज है, उसे छूने की हिम्मत कोई नहीं करेगा । वह अपनी रक्षा स्वयं कर लेगी ।'[५५]

➢ राजनैतिक प्रवृतियाँ

राजनीति का समाज के निर्माण एवं विकास में तथा व्यक्ति की उन्नति एवं अवनति में विशिष्ट योगदान रहता है । आज का मानव राजनीति की छत्रछाया में चल रहा है । आज समाज का प्रत्येक व्यक्ति राजनीति के घेरे में है । युगीन राजनीति का मानव जीवन के पहलुओं पर प्रभाव पडता है । वर्तमान राजनीति में अनुशासनहीनता और मूल्यहीनता परिलक्षित होती है । वर्तमान समय में राजनीतिज्ञ राजनीति को पेशा समझने लगे । आज की राजनीति में राष्ट्रीयता का अभाव परिलक्षित होता है । वर्तमान राजनीति को महिलाओं ने विशेष रूप से प्रभावित किया ।

अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में गाँधीवाद, पूँजीवाद, समाजवाद और मार्क्सवाद आदि राजनीतिक प्रवृतियाँ परिलक्षित होती हैं । इनका विश्लेषण निम्न प्रकार किया गया है-

१. गाँधीवाद

गाँधीवाद वस्तुत: भारत की उस आचारपरक आद्यात्मिक जीवन-दृष्टि तथा सांस्कृतिक परम्परा का आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्द्धित एवं संशोधित जीवन-दर्शन है, जो शताब्दियों से सत्य, अहिंसा, सेवा, प्रेम, त्याग, सहिष्णुता, अस्तेय, अपरिग्रह, आत्मसंयम आदि नैतिक मूल्यों को भौतिक जीवन-मानों की अपेक्षा अधिक काम्य और वरेण्य मानती आई है । महात्मा गाँधी खुद स्वीकारते हैं कि सत्याग्रह का सिद्धान्त अपने मूल रूप में अत्यन्त प्राचीन है- उन्होंने तो उसे केवल एक व्यापक तथा सार्वभौम रूप मात्र प्रदान किया है । इसमें संदेह नहीं कि

मानव-सभ्यता के इतिहास में सम्भवत: गाँधी ने ही पहली बार सत्य, अहिंसादि नैतिक नियमों के आधार पर विविध सामाजीक, राजनीतिक, आर्थिक प्रभूति समस्याओं का इतने व्यापक स्तर पर विश्लेषणतथा समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया था । नव-जागरण काल में उन्हें सफलता मिली । यह निर्विवाद है कि उनका यह प्रयास आधुनिक काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैचारिक धारा है ।

महात्मा गाँधी मूलत: एक दार्शनिक या राजनैतिक विचारक नहीं बल्कि व्यावहारिक कर्मयोगी थे । इसीलिए उन्होंने न तो अपने किसी सिद्धान्त को दार्शनिक पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयास किया और न राजनीतिक विचारकों की भाँति भविष्य में उत्पन्न होने वाली सम्भवित समस्याओं का पूर्व समाधान खोजा । 'मेरे लिए कदम ही काफी है'.. (वन स्टेप एनफ फॉर भी) उनका सिद्धान्त वाक्य था ।'[५६] 'वे भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को ही अधिक महत्व दिया करते थे ।'[५७] राजनीतिज्ञों की भाँति गाँधी ने अपनी बात रखने की कभी चिन्ता नहीं की । यही कारण है कि अपनी छोटी-से छोयी भूल को स्वीकार करने में भी उन्हें कभी संकोच नहीं होता था । गाँधी ने भौतिक हानि-लाभ की दृष्टि से कभी अपने कार्यो का संचालन नही किया । किसी निश्चय पर पहुँचने में अपने अंत:करण की आवाज ही उनकी एकमात्र निर्देशिका होती थी । अतएव उनके विचारों या कार्यों में एक दार्शनिक की आन्तरिक संगति का भाव विद्यमान है ।

महात्मा गाँधी के जीवन-दर्शन के लिए साधारणत: 'गाँधीवाद' शब्द का प्रयोग होता । गाँधीजी की विचारधारा में भी उतना ही वाद, विवाद और प्रतिवाद है जितना किसी अन्य विचारधारा में । गाँधी का जीवन-दर्शन भी एक 'निश्चित

विचारधारा है'- 'नाम चाहे उसे कोई भी दिया जाए, और इसमें संदेह नहीं कि कोई भी विचारधारा अपना विरोधी विचारधाराओ के खण्डन-मण्डन के बिना एक कदम आगे नहीं चल सकती । गाँधी इर्विन समझौते के बाद एक सार्वजनिक सभा में बोलते हुए स्वयं महात्मा गाँधी ने घोषरा की थी कि 'गाँधी मर सकता है पर गाँधीवाद सदा जीवित रहेगा ।'[५८] स्पष्ट है कि स्वयं गाँधी भी अपनी विचारधारा के लिए गाँधीवाद शब्द का प्रयोग स्वीकार करते थे । 'उक्त घोषरा के कुछ वर्ष पश्चात् सन् १९३६ में गाँधी ने स्वयं अपनी विचारधारा के लिए गाँधीवाद शब्द के प्रयोग का विरोध भी किया था ।'[५९] ऑफ्टर थॉट होने के कारण गाँधी के इस परवर्ती वक्तव्य को उनके आन्तरिक विचारों या इच्छा का वास्तविक प्रतिनिधि नहीं माना जाना चाहिए ।

'गाँधीवाद' शब्द में सबसे बडी कमी यह है कि वह गाँधी के दर्शन के किसी पक्ष अथवा मूल सिद्धान्त का द्योतन नहीं करता । यही बात 'गाँधी दर्शन' शब्द के बारे में कही जा सकती है । गाँधी जी के जीवन-दर्शन को यदि एक शब्द में रखना चाहें तो वह होगा- सर्वोदय । अत: 'सर्वोदय-तत्व-दर्शन'[६०] उनकी विचारधारा के लिए अत्यन्त सार्थक नाम हो सकता है । परन्तु इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि 'गाँधीवाद' आज सर्वाधिक प्रचलित तथा सर्वमान्य हो चुका है । गाँधी आधुनिक युग के एक बहुत बडे समन्वयवादी विचारक थे । यही कारण है कि उन पर विभिन्न पाश्चात्य विचारकों का गहरा प्रभाव पडा । अपनीआत्मकथा में गाँधी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उनके जीवन पर (विचारों पर भी) तीन आधुनिक व्यक्तियों ने गहरा असर डाला है- रामचन्द्र भाई ने अपने सजीव संसर्ग से, टॉलस्टाय

ने 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' नामक पुस्तक द्वारा और रस्किन ने अंटु दिस लॉस्ट- सर्वोदय नामक पुस्तक द्वारा । रस्किन की 'अन्टु दिस लॉस्ट' पुस्तक का उनके जीवन पर कितना चमत्कारी एवं निर्णायक प्रभाव पडा- इसका उल्लेख स्वयं गाँधी ने किया- 'पुस्तक को जो मैंने एक बार पढना शुरू किया तो खतम किये बिना न छोड सका । रात-भर नींद न आई । इस पुस्तक के विचारों के अनुसार जीवन बनाने की धुन लग रही थी ।'[६१] इस पुस्तक से गाँधी ने जो तीन शिक्षाएँ प्राप्त कीं, वे ही उनकी विचारधारा की मूल धुरी हैं- 'सबके भले में अपना भला है; वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक सी होनी चाहिए क्योंकि आजीविका का हक दोनो को एक सा है तथा मजदूर और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है ।'[६२] रस्किन की पुस्तक से प्राप्त इन शिक्षाओं को क्रियात्मक रूप देने के हेतु ही १९०४ ई. स. में डरबन के निकट फिनिक्स आश्रम की स्थापना हुई थी ।'[६३] न्यू टेस्टामेंट के 'पर्वत के धर्म शिक्षण' (सरमन आन माऊण्टेन) से भी गाँधी अत्यधिक प्रभावित हुए थे । अपने मित्र जे. जे. डोक साहब से उन्होंने एकबार कहा था कि 'न्यू टेस्टामेंट और विशेषकर पर्वत के धर्मशिक्षण के द्वारा ही सत्याग्रह की अनमोल नैतिकता की ओर उनका हृदय जागरूक हुआ ।'[६४] 'ईसा को वे सत्याग्रहियों का सिरताज मानते थे।'[६५] इन विदेशी प्रभावों के अतिरिक्त गाँधी के जीवन-दर्शन की धुरी निस्संदेह भारतीय है । उनका जन्म और पालन-पोषण वैष्णव परिवार तथा वैष्णव परम्पराओं में हुआ था । बाल्यकाल में ही उन्हें जैन साधुओं का सम्पर्क प्राप्त हो गया था । उनकी माता अत्यधिक धार्मिक स्वभाव की स्त्री थी । इस धार्मिक वातावरण में स्वभावत: गाँधी में एक अद्‌भुत धार्मिक श्रद्धा का प्रादुर्भाव हो गया ।

महात्मा गाँधी के सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि वे प्रथमत: एवं मूलत: धर्माचार्य थे अथवा राजनीतिज्ञ? उन्होंने स्वयं यंग इंडिया' में लिखा था कि 'यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूँ तो केवल इसलिए कि आज राजनीति हमें साँप की कुण्डली की तरह चारों ओर से घेरे हुए है और इस घेरे से हम लाख कोशिश करके भी नहीं निकल सकते । अत: मैं राजनीति के इस साँप से ही लडना चाहता हूँ ।'[६६] बाबू जैनेन्द्रकुमार के अनुसार 'गाँधीजी की यथार्थता राजनीति में नही धर्म में देखनी होगी । राजनीति कर्म-गत है, धर्मभाव-रूप ।'[६७] लेकिन जैनेन्द्र यह भी स्वीकार करतें हैं कि गाँधीजी को धर्माचार्यो की पंक्ति में बैठाया जा सकता, क्योंकि उन्हें कर्म अर्थात् राजनीति के क्षेत्र में ही सबसे अधिक अनुयायी मिले हैं ।'[६८] निष्कर्ष यह कि अनिवार्यत: धार्मिक पुरुष मानते हुए भी महात्मा गाँधी को बुद्ध, महावीर, कबीर, ईसा, मुहम्मद साहब आदि धर्माचार्यों अथवा धर्म-प्रचारकों की पंक्ति में नही बैठाया जा सकता । कुल मिलाकर उनका योगदान मूलत: राजनीति के क्षेत्र में ही है, धर्म के क्षेत्र में नहीं । हाँ, उन्होंने राजनीति को धर्म तथा नीति के सर्वमान्य नियमों-सत्य, अहिंसा, प्रेम, सेवा आदि के साथ सम्बद्ध करने का पूरा प्रयास किया ।

गाँधी का धर्म किसी संकीर्ण मतवाद या सम्प्रदाय की सीमाओं में आबद्ध धर्म नहीं है । 'धर्म' शब्द की व्याख्या करते हुए वे उसमें हिन्दु, इस्लाम, ईसाई इत्यादि धर्मों को सम्मिलित करके ही सन्तुष्ट नहीं होते । उनके अनुसार 'धर्म' इन सबसे उच्च है और उसे 'सत्य' के नाम से ही पहचाना जा सकता है । गाँधी का 'धर्म' नीति-धर्म है, सम्प्रदाय विशेष का धर्म नही ।[६९] उनके धर्म का लक्ष्य संकीर्ण

साम्प्रदायिकता अथवा मतवादिता का प्रचार नहीं बल्कि विश्व के समस्त धर्मों में सामंजस्य तथा समभाव स्थापित करना है । अपने धर्म पर अडिग रहते हुए भी गाँधी इसीलिए दूसरे धर्मों के प्रति अत्यधिक सम्मान की भावना रखते थे । वे मानते थे कि 'अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है ।'[७०] उनका विश्वास था कि 'विभिन्न धर्म एक ही सत्य की प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग हैं ।'[७१] यही कार है कि गाँधी के 'धर्म' का कार्य निषेधात्मक नहीं, आवश्यक रूप से विधेयात्मक है ।

गाँधीजी से बार-बार यह प्रश्न किया जाता था कि यदि उन्हें धर्म प्रिय है तो राजनीति को त्याग कर साधु और यदि राजनीति प्रिय है तो धर्म को त्यागकर राजनीतिज्ञ क्यों नहीं हो जाते ? प्रश्न स्वयं में महत्वपूर्ण होते हुए भी गाँधी जी के जीवन, दर्शन को पूरी तरह न समझ पाने का परिणाम है । महात्मा गाँधी की विचारधारा में जीवन के किसी भी क्षेत्र का धर्म से पृथक अस्तित्व नहीं हैं । उनके यहाँ जीवन की समस्त क्रियाएँ, धर्म को साथ लेकर चलती हैं । स्वभावत: राजनीति भी उनके दर्शन में धर्म से विलग होकर जीवित नहीं रह सकती । उनके अनुसार धर्म और राजनीति का लक्ष्य एक ही है- प्राणीमात्र के साथ आत्मिक एक की प्रतीति- और 'इस सत्य को पाने की इच्छा करने वाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता ।'[७२] गाँधी का कहना है 'कि उनकी सत्यनिष्ठा ने ही उन्हें राजनीति में घसीटा है ।'[७३]

गाँधी द्वारा की गई धर्म की इस व्यापक व्याख्या के बावजूद यह बात अपने आप में काफी विवादास्पद है कि देश की राजनीति में धर्म का पुट देकर उन्होंने अच्छा किया या बुरा ? आज इसमें विवाद के लिए अधिक अवकाश नहीं है कि

राजनीति को धर्म के चक्करदार रास्तों से अलग ही रहना चाहिए । गाँधी के भारत ने अपने लिए धर्मनिरपेक्ष राज्य (सेक्यूलर स्टेट) का आदर्श स्वीकार करके इसी तथ्य की पुष्टि की है । राजनीति में धर्म का प्रवेश हो जाने पर- वह धर्म चाहे कितने ही उदार एवं व्यापक धरातल पर आधृत क्यों न हो- उसमें स्वयं ही अनेक जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो जाया करती है। धर्म के आधार पर किसी समस्या का समाधान खोजना आज खतरे से खाली नहीं है । हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य की समस्या को हल करने के प्रयत्नों में गाँधी को मिली असफलता हमारे इस कथन को पुष्ट करती है। हालाँकि गाँधीजी प्रत्येक धर्म को समानता का पद देते थे और प्रत्येक धर्म के प्रति अनेक हृदय में आदर तथा श्रद्धा का भाव था, किन्तु फिर भी उसके धर्म पर अनिवार्य रूप से एक धर्म-विशेष के सिद्धान्तों की छाप लगी हुई थी । स्वभावत: दूसरे सम्प्रदाय वाले उनकी धार्मिकता को संदेह की दृष्टि से देखते थे । उन्हें उनकी धार्मिकता की ओट में हिन्दु साम्राज्यवाद का षडयंत्र दिखाई देता था । जिस देश में एकाधिक धर्मो के अनुयायी रहते हैं, वहाँ इस प्रकार की भ्रातियों की कितनी विराट सम्भावना हो सकती है । गाँधी ने यद्यपि जीवन की भौतिक समस्याओं एवं आवश्यकताओं की अवहेलना नहीं की है, किन्तु कुल मिलाकर उनका जीवन-दर्शन मूलत: आध्यात्मिक दर्शन है । यही कारण है कि वे जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को घटाने तथा कम-से-कम पर लेने की भाषा का प्रयोग करते हैं और यही कारण है कि वे दरिद्रता की निन्दा करने के स्थान पर उसकी प्रशंसा करते हैं । गाँधी जी का जीवन-दर्शन मूलत: आध्यात्मिक जीवन-दर्शन है । उनकी समस्त चिन्तनसरणी का विकास उपनिषदों के सर्वात्मवाद से हुआ है, जिसका अर्थ है कि जीव ईश्वर

रूप और ईश्वर अंश है तथा ईश्वर विश्वरूप है-

'ओडम ईशा वास्यमिट्र सर्व यत्किंच जगत्मा जगत् ।
तेन त्यत्केन भुंजीषा मा गृप: कस्य स्विट्रधनम् ॥'

- ईशावास्योपनिषद् ।

'सर्वोत्मवाद के इस सिद्धान्त में जीवित विश्वास होने के कारण गाँधी की ईशावास्योपनिषद् का यह प्रथम श्लोक अत्यधिक प्रिय था ।'[७४] महात्मा गाँधी का जीवन-दर्शन प्राणीमात्र की निस्वार्थ एवं त्यागमय सेवा-इस श्लोक में वर्णित त्यागपूर्ण भोगों के सेवन के आदर्श से अत्याधिक साम्य रखता है । सेवा-प्रेम और त्याग का यह मार्ग आवश्यक रूप से धर्म का मार्ग है । धर्म गाँधी जी के प्राणों में 'धर्म और नैतिकता उनके विचारों और आचरण की आधारशिला, उनका जीवन-प्राण है ।'[७५] पर उनकी धार्मिकता ने उन्हें गुफावासी संन्यासी नहीं बनाया । वे मानते थे कि 'अपने देश और उसके द्वारा समग्र मानवता की निरन्तर सेवा ही मेरे लिए मोक्ष का मार्ग है । मैं प्रत्येक जीवित वस्तु के साथ अपने को एकाकार कर देना चाहता हूँ।[७६]

गाँधी का यह आदर्श गीता के अनासक्तियोग से अतिशय साम्य रखता है । गीताकार भी कर्मफल में आसक्ति त्यागकर सफलता और असफलता, सुख और दु:ख, लाभ और हानि, जय और पराजय को समान भाव से ग्रहण करने की शिक्षा देता है । इस प्रकार जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं को स्वेच्छापूर्वक त्यागकर दु: से दु:खी और सुख में सुखी नही होता, राग, भय तथा क्रोध में भी स्थिर रहता है वही स्थितप्रज्ञ होता है । ए. हक्सले ने अपनी पुस्तक 'एण्डस ऑण्ड मेन्स' में आदर्श पुरुष का वर्णन करते हुए गीता के इसी आदर्श को दोहराया है ।[७७] गाँधी

मानते थे कि उनके सत्य, अहिंसा के नियम का गीता के निष्काय कर्मयोग के साथ कोई विरोध नहीं है । उनके अनुसार 'गीता की शिक्षा को व्यवहार में लाने वाले को अपने आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पडता है । फलासक्ति के बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का ।'[७८] इसलिए गाँधी ने जापानी विद्वान कगावा से एक बार कहा था- 'अपनी कामनाओं को मारने के बाद अपने भाई को मारना सम्पन्न नहीं है ।'[७९]

सत्य : 'सत्य' गाँधीवादी चिंतनधारा की आधारशिला है, जिसे श्री गोपीनाथ धावन गाँधीजी के जीवन और दर्शन का ध्रुवतारा कहते हैं ।[८०] 'गाँधीजी का 'सत्य' केवल सत्य भाषण मात्र नहीं अपितु एक जीवनव्यापी सिद्धान्त है, जिसका अर्थ है- वाणी ही नहीं विचार और आचरण द्वारा भी सत्य की साधना ।'[८१] पर गाँधीजी के 'सत्यदर्शन' की सीमाएँ सत्य-भाषण, सत्य-आचरण तथा सत्य विचार तक ही सीमित नहीं हैं । 'सत्य' उनका अन्तिम साध्य भी है । उनके 'सत्य' की सीमाएँ इतनी व्यापक और विस्तृत हैं कि उन्हें कहना पडता है । 'परमेश्वर 'सत्य' है यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है ।'[८२] गाँधीजी का 'सत्य' किसी विशिष्ट धर्म या सम्प्रदाय का पर्याय है । वह इतना व्यापक है कि उसमें विश्व के सभी धर्मों का समाहार हो जाता है । 'सत्य' का अर्थ करते हुए गीताकार के शब्दों में वे कहते हैं- 'सत्य शब्द सत् से बना है । सत् का अर्थ है अस्तिसत्य अर्थात् अस्तित्व । सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है ।'[८३] गीताकार भी यह कहता है-

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: ।

उभमोरपिडदुष्टोत्तस्त्वनयास्तत्वदर्शिभि: ।'[८४]

'गाँधीजी का यह दृढ विश्वास था कि केवल सत्य की ही विजय हो सकती है, असत्य की नहीं । हो सकता है कि लौकिक जीवन में अनेक बार असत्य की विजय का आभास हो, पर यह निश्चित है कि अन्तिम रूप से असत्य कभी विजयी नहीं हो सकता । असत्य के मार्ग पर चलते हुए सफलता की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि 'सत्य' का अर्थ है 'अस्तित्व' अर्थात् 'जो है' और 'असत्य' का अर्थ है 'अनस्तित्व' अर्थात् 'जो नहीं है' । स्पष्ट है कि 'जो नहीं है' उसकी विजय हो ही नहीं सकती ।'[८५]

'गाँधीजी की अहिंसा को कायरता के साथ समीकृत नहीं किया जाना चाहिए। कायरता और अहिंसा में उतना ही अन्तर है जितना दक्षिणी और उत्तरी ध्रुव में, आग और पानी में ।'[८६] महात्मा गाँधी का विश्वास था कि हिंसक मनुष्य तो फिर भी किसी दिन अहिंसक बन सकता है, पर कायर कभी नहीं । वे मानते थे कि अहिंसा वीरों का धर्म है, कायरों का नहीं । सन् १९२० ई. में ही उन्होंने यह स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया था कि 'कायरता और हिंसा में से किसी एक को चुनने का प्रश्न उठने पर वे हिंसा को चुनने को ही सलाह देंगे ।'[८७] इसीलिए गाँधी आत्मरक्षा तथा स्त्रियों के सम्मान की रक्षा के लिए हिंसा के प्रयोग की अनुमति दे देते हैं ।[८८]

गाँधीजी की अहिंसा के विरोध में अक्सर यह कहा जाता है कि यह एक व्यक्तिगत साधन मात्र है जिसका सामाजीक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयोग

नहीं किया जा सकता किन्तु गाँधी जी के शब्दों में 'अहिंसा सिर्फ एक व्यक्तिगत गुण नहीं है, बल्कि एक सामाजिक गुण भी है जिसे दूसरे गुणों की तरह विकसीत करना चाहिए ।'[८९] जुलाई सन् १९४० में गाँधी सेवा-संघ के सम्मुख बोलते हुए उन्होंने अपने इसी विश्वास को और भी शक्तिशाली शब्दों में दोहराया था ।[९०] निस्सन्देह अहिंसा का पालन और उसका दैनिक जीवन में व्यवहार अत्यन्त कठिन है, पर कठिन होने मात्र से ही तो कोई चीज त्याज्य नहीं हो जाती । आज तो अहिंसा का मनोवैज्ञानिक पहलू भी सिद्ध हो चुका है । यदि अहिंसा अव्यवहार्य है तो फिर आज पागलखानों के स्थान पर मानसिक चिकित्सालयों की माँग तथा अपराधियों को शारीरिक दण्ड दिए जाने का विरोध क्यों किया जाता है ? मृत्युदण्ड जो कि 'दाँत के बदले दाँत' के जंगल के कानून का अवशेष है, समाप्त किए जाने की माँग क्यों की जाती है? स्कूलों में बच्चों को शारीरिक दण्ड दिए जाने का इतना विरोध क्यों किया जाता है ? आज विश्व में शांति की माँग इतनी प्रबल क्यों हो रही है। स्पष्ट है कि धीरे-धीरे हम अहिंसा की दिशा में आगे बढ रहे हैं । डॉ. पट्टाभि के शब्दों में जैसे हम पागलों और अपराधियों को पुनर्शिक्षित करते हैं, इसी प्रकार हमें युद्धाधिपतियों, लोलुप राजाओं, बदला लेने वाले शासकों, क्रुद्ध भाई, प्रतिशोध की भावना से भरे पति और हठी बालकों को पुनर्शिक्षित करना है । गाँधीजी ने इन सबको एक पृथक श्रेणी में रखा है और इन पर एक नये विज्ञान का, एक नये नियम का जो कि प्रेम का नियम हो, एक नये दर्शन का जो कि अहिंसा का दर्शन है, प्रयोग किया है ।'[९१]

यूँ तो अहिंसा की परम्परा भारत ही नहीं अन्य देशों में भी अत्यन्त प्राचीन

है, पर गाँधीजी से पूर्व कुल मिलाकर वह वैयक्तिक अनुशासन का एक साधन ही थी और वह भी निषेधात्मक । महात्मा गाँधी ने उसे एक विधेयात्मक शक्ति का रूप देकर सामाजीक, राजनीतिक, आर्थिक क्षेत्रों में भी उनका सफल प्रयोग किया । उपनिषद्, महाकाव्य, श्रीमद्भागवत, पतंजली का योगसूत्र, जैन और बौद्ध धर्म, चीन के ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्से, चीन के ही महर्षि कन्फयूशियस, प्राचीन यीस के महर्षि सुकरात, ईसा का 'पर्वत पर धर्म-शिक्षण', टॉल्स्टाय-अहिंसा की इस सुदीर्घ परम्परा का ही विकास गाँधी में मिलता है । गाँधी की अहिंसा में एक ओर यदि जैन धर्म की अभावात्मक अहिंसा है तो दूसरी ओर गीता का निष्काम कर्मयोग।

गाँधी की अहिंसा-साधना की कई स्थितियाँ हैं- कमजोर की अहिंसा अर्थात् नीति के रूप में अपनाई गई अहिंसा और बलवान की अहिंसा अर्थात् सिद्धान्त के रूप में अपनाई गई अहिंसा ।'[९२] अन्तिम स्थिति में पहुँचकर अहिंसा का साधक गीता में वर्णित स्थितप्रज्ञ पुरुष की अवस्था प्राप्त कर लेता है । इस अवस्था में पहुँचकर साधक का अन्तर्बाह्य प्राणीमात्र के सुख-दु:ख के साथ एकाकार हो जाता है । गाँधीजी का यह आदर्श यद्यपि मूलत: व्यष्टि के आत्म-कल्याण एवं आत्म-शुद्धि का मार्ग है, पर लोक कल्याण की भावना भी उसमें पुष्प-गंधवत् वर्तमान है ।

'सत्य' की प्रतीति सरल नहीं है । सत्य-प्राप्ति का मार्ग खाँडे की धारा के समान नुकीला और सुकडा है, जिस पर चलने वाला सत्य शोधार्थी जरा-सा चूकते ही प्राणों से हाथ धो सकता है ।'[९३] गाँधीजी के अनुसार 'निरन्तर अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा ही सत्य रूपी कामधेनु और पारसमणि को प्राप्त किया जा सकता है ।'[९४] और अहिंसा के अभ्यास द्वारा वैराग्य शरीर-सम्बन्धों के प्रति अनासक्ति की प्राप्ति

की जा सकती है । निष्कर्ष यह कि सत्य के जिज्ञासु का मार्ग आवश्यक रूप से अहिंसा का मार्ग है ।

अहिंसा : गाँधीजी की अहिंसा को प्राय: हिंसा का अभाव मात्र मान लिया जाता है, पर वास्तव में वह एक भावात्मक प्रक्रिया और शक्ति है जो हमें प्राणीमात्र से प्रेम करने के लिए प्रेरित करती है- 'ऐसा प्रेम जो किसी भी प्रकार के राग, मोह अथवा स्वार्थ से रहित हो । गाँधी-दर्शन में अहिंसा और प्रेम वस्तुत: एक ही अर्थ निषेधात्मक शक्ति नहीं है । यही कारण है कि अहिंसा का साधक अपने से इतर प्राणियों को किसी प्रकार का कष्टा या नि न पहुँचाना ही काफी नहीं समझता और न वह चीटियों को आटा डालकर ही सन्तुष्ट हो जाता है । इस निषेधात्मक कार्य से आगे बढकर अन्याय, अत्याचार और शोषण का सक्रिय विरोध करना भी वह अपना कर्तव्य समझता है । पर उसके विरोध का स्वरूप हिंसक विरोध से बहुत भिन्न होता है । उसका विरोध भी अत्याचारी या अन्यायी या शोषक के प्रति उसके प्रेम का ही परिचायक होता है । वह अपने शत्रु से भी प्रेम करता है, धृणा नहीं ।'[९५]

सत्याग्रह : 'साध्य (सत्य) और (अहिंसा) पर विचार करने के उपरान्त गाँधीवाद का अध्येता स्वभावत: उसके कर्मपक्ष (सत्याग्रह) पर आता है । सत्य पर आग्रहपूर्वक आचरण तथा अधर्म का सत्यादि साधनों द्वारा आग्रहपूर्वक विरोध ही सत्याग्रह है ।'[९६] सत्याग्रह की इस परिभाषा के सम्बन्ध में यहाँ पर शंका उठाई जा सकती है कि हिटलर, मुसोलिनी जैसे क्रुर कर्मा हिंसावादी भी अपने दुष्कृत्यों को न्याय ठहराने के लिए कह सकते हैं कि वे सत्य पर अहीं आचरण कर रहे हैं- फिर सत्याग्रह की विशिष्टता क्या रही? उत्तर में कहा जाएगा कि वह विशेषता प्रेम और

अहिंसा है । 'प्रेम और अहिंसा ही यह व्यावर्तक रेखा है जो गाँधीजी के 'सत्याचरण' को हिटलर और मुसोलिनी के तथाकथित 'सत्याचरण' से पृथक करती है ।'[९७] प्रेम और अहिंसा पर आधृत होने के कारण सत्याग्रह में अविनय के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि अविनय के साथ अहिंसा का प्रवेश लगभग निश्चित है । 'सत्याग्रही का आग्रह अर्थात् उसके द्वारा अत्याचारी का विरोध उसकी सत्यनिष्ठा से प्रेरित होता है, किसी व्यक्तिगत द्वेष-भावना से नहीं ।'[९८] वह अपने तथाकथित विरोधी का आत्यन्तिक विरोध करते हुए भी उसका किसी प्रकार का अहित न सोचेगा, न चाहेगा और न करेगा ।'[९९]

सत्याग्रह के मूल सिद्धान्तों को हम अपने पारिवारिक जीवन में खोज सकते हैं । गाँधीजी कहा करते थे कि 'उन्होंने सत्याग्रह का पाठ अपने कौटुम्बिक जीवन से ही सीखा था । इसीलिए उनका मत है कि सत्याग्रह मूलत: पारिवारिक जीवन का राष्ट्रीय और उससे भी आगे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में विस्तार है ।'[१००] सत्याग्रही अपने विरोधी को भी उसे आत्मा का अंश मानता है जिसका कि वह स्वयं एक अंश है, अर्थात् प्रतिपक्षी के साथ उसे अपनी आध्यात्मिक एकता का बोध होता है । अत: वह उसके साथ भी अपने परिवार के सदस्य की भाँति व्यवहार करता है । यही कारण है कि उसके विरोध में कटुता या द्वेष का लेश भी नहीं होता ।

साधारणत: सत्याग्रह शब्द अहिंसक प्रतिरोध के अर्थ में प्रयुक्त और ग्रहण किया जाता है, किन्तु वस्तुत: सत्याग्रह का अर्थ अत्यन्त व्यापक है । गाँधीजी मानते थे कि 'अहिंसक साधनों द्वारा सत्य के लिए साधना ही सत्याग्रह है ।'[१०१] सत्याग्रह एक ऐसी कार्य-प्रणाली है जिसमें अधर्म पर धर्म से, हिंसा पर अहिंसा से,

असत्य पर सत्य से, द्वेष पर प्रेम से तथा पशुबल पर आत्मबल से विजय प्राप्त करने और विरोध की मानवता को जागृत करने का प्रयास किया जाता है । सत्याग्रह में प्रतिपक्षी के मन पर आक्रमण किया जाता है, अत: यह प्रणाली अधिक मनोवैज्ञानिक है । सत्याग्रह में विरोधी के शरीर को नहीं वरन् हृदय को जीतने का प्रयत्न किया जाता है । सत्याग्रही का यह दृढ विश्वास होता है कि 'किसी को दबा देने की अपेक्षा उसका मत परिवर्तन कर देना ज्यादा अच्छा है ।'[१०२] गाँधीवादी शब्दावली में इसे ही हृदय-परिवर्तन कहते हैं । यद्यपि सत्याग्रही का अन्तिम और चरम लक्ष्य निरपेक्ष सत्य की प्रतीति करना होता है, परन्तु इस उदेश्य की सिद्धि के लिए वह सापेक्ष सत्य से मुँह नहीं मोडता । दरिद्रता, दासता, शोषण, अन्याय आदि कटु सत्यों से वह पलायन नहीं करता उनसे जुझता है ।

सत्याग्रह में साध्य के साथ साधनों की नैतिकता भी आवश्यक है । सच तो यह है कि साध्य और साधनों की एकता ही गाँधी के जीवन-दर्शन की धुरी है । गाँधी जी कहा करते थे कि 'साध्य और साधन में वही धनिष्ठ संबंध है जो बीज और वृक्ष में होता है। शैतान को भजकर ईश्वर-भजन का फल नहीं पाया जा सकता।'[१०३] दो महायुद्धों की अग्नि से झुलसी मानवता को गाँधीजी का सम्भवत: सबसे बडा संदेश यही है कि हम 'शैतान को भजकर ईश्वर-भजन का फल नहीं पा सकते ।' अर्थात् हिंसा के रास्ते पर चलकर शांति की मंजिल तक नहीं पहुँचा जा सकता । सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध (पासिव्ह रेस्टिन्स) के साथ समीकृत नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि दोनों पद्धतियों में मौलिक अन्तर है । 'निष्क्रिय प्रतिरोध एक राजनीतिक हथियार है जिसका उदेश्य अपने प्रतिपक्षी को इस सीमा

तक परेशान करना होता है कि वह अन्ततः हमारी माँगें स्वीकार करने पर विवश हो जाए ।'[१०४] निष्क्रिय प्रतिरोध यद्यपि व्यवहारतः हिंसा से दूर ही रहता है पर सिद्धान्तः वह हिंसक साधनों और हथियारों के प्रयोग के विरुद्ध नहीं है ।'[१०५] निष्क्रीय प्रतिरोध की कार्य-पद्धति बहुत कुछ निषेधात्मक होती है ।'[१०६]

सत्याग्रह के अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनमें मुख्य समझाना-बुझाना, उपवास, असहयोग, सविनय-अवज्ञा, करबंदी, धरना, हिजरत आदि हैं । किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्याग्रह एक विकासशील तंत्र है जिसका अभी पूर्ण विकास नहीं हो पाया है । अतः सत्याग्रह के भेदों या प्रकारों की कोई पूजा तालिका प्रस्तुत नहीं की जा सकती ।

गाँधीवाद का व्यावहारिक पक्षः 'गाँधीवाद केवल सैद्धान्तिक दर्शन ही नहीं है। वह सत्य, अहिंसादि सैद्धान्तिक प्रश्नों पर ही विचार नहीं करता, हमारे दैनन्दिन जीवन की राजनीतिक, सामाजीक, आर्थिक प्रभृति विषम समस्याओं का हल भी सुझाता है । एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन होने के कारण उसमें जीवन के सभी पक्षों का समाहार है । गाँधीजी की सामाजीक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी मान्यताएँ स्वदेशी के सिद्धान्त से अनुप्राणित हैं ।'[१०७] अपने संकीर्ण अर्थ में स्वदेशी का मतलब है- विदेशी माल की प्रतियोगीता में स्वदेशी माल को प्रोत्साहन देना, परन्तु यह अर्थ स्वदेशी की विचारधारा के एक उपांग का ही द्योतन करता है । गाँधीजी के मतानुसार 'जैसे-तैसे सूत कातने या खानी पहनने-पहनाने मात्र से ही स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन नहीं हो जाता ।'[१०८] स्वदेशी का अर्थ है अपने निकटतम पडोसी की सेवा करना ।'[१०९] यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'गाँधीजी के स्वदेशी को

जातीयता का राष्ट्रीयतावाद जन्य संकीर्णता का पर्याय अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना का विरोधी नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि स्वदेशी-व्रत का उदेश्य तात्कालिक राजनीतिक लाभ नहीं है ।'[११०]

गाँधीजी मानते थे कि 'स्वधर्म के पालन से परधर्म को कभी हानि पहुँच ही नही सकती, न पहुँचनी चाहिए ।'[१११] स्वदेश का हुए बिना कोई भी व्यक्ति विश्व का नहीं हो सकता । अत: गाँधीजी को स्वदेशी-प्रेम का ही एक अंग है । उनकी देश-सेवा तथा विश्व-सेवा में मूलत: कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं है ।'[११२]

महात्मा गाँधी वर्तमान समाज-व्यवस्था से संतुष्ट नहीं थे । उनका अट्ठारह-सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम इस तथ्य का स्पष्ट सूचक है कि वर्तमान दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था से सुधार तथा उसका पुननिर्माण करने के लिए वे प्रेमपूर्वक समझाने-बुझाने, हृदय परिवर्तन तथा व्यक्ति के सुधार से आगे नहीं बढ पाते । उनका विश्वास था कि 'एक व्यक्ति के सुधार और हृदय-परिवर्तन से पूरा विश्व लाभान्वित होता है ।'[११३] गाँधीजी के इस विश्वास की सामाजीक उपयोगीता और महत्व एक 'युरोपिया', एक मृगमरीचिका से अधिक नही है । उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी श्री नेहरू भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि 'मत-परिवर्तन व्यक्तियों का ही हो सकता है- हालाँकि वह भी कभी-कभी ही होता है- वर्गों तथा समूहों का नहीं । अब तक इस दिशा में जितने भी प्रयत्न हुए हैं उन्हें असफलता ही हाथ लगी है ।'[११४] कुछ व्यक्तियों के सुधार या कुछ व्यक्तियों की आत्मा को जागृत कर देने या कुछ व्यक्तियों के नैतिक उत्थान से समाज-व्यवस्था के मूल ढाँचे में कोई मौलिक अन्तर नहीं आ सकता । हमें यह अन्तिम रूप से समझ लेना चाहिए कि शोषण और

अन्याय, गरीबी और भुखमरी किन्हीं व्यक्तियों के कारण नहीं बल्कि एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था के कारण है । जिस व्यक्ति का सुधार गाँधीवाद अथवा दूसरी सुधारावादी विचारधाराएँ चाहती हैं वह तो इस शोषण का निमित मात्र है, असली कारण वह व्यवस्था है जिसने उसे ऐसा करने की छूट तथा अधिकार दिया हुआ है ।

अट्ठारह सुत्री रचनात्मक कार्यक्रम को गाँधी सत्याग्रह की लडाई का एक आवश्यक अंग मानते थे । 'सत्याग्रही के लिए रचनात्मक कार्यक्रम का उतना ही महत्व है जितना एक सैनिक के लिए कवायत तथा अस्त्र-शस्त्र चलाना सीखने का।'[११५] 'डॉ. पट्टाभिसीतारमैय्या गाँधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम को गाँधीवादी की सम्पूर्ण तकनीक का प्रकट रूप या क्रियारूप में परिणत अहिंसा कहते हैं ।'[११६]

महात्मा गाँधीजी के अट्ठारह सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम का विवरण इस प्रकार है-

१. साम्प्रदायिक एकता

२. अस्पृश्यता-निवारण

३. मद्यपान-निषेध

४. खादी

५. दूसरे ग्रामोद्योग

६. गाँवों की सफाई

७. नई या बुनिवादी शिक्षा

८. प्रौढ-शिक्षा

९. स्त्रियों की उन्नति

१०. स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा

११. मातृ-भाषा प्रेम

१२. आर्थिक समानता

१३. राष्ट्रभाषा प्रेम

१४. किसानों का संगठन

१५. मजदूरों का संगठन

१६. विद्यार्थियों का संगठन

१७. आदिवासियों की सेवा

१८. कोढियों की सेवा ।[११७]

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने गाँधीवादी प्रवृति को दर्शाया है । उपन्यासों में एक पात्र दूसरे पात्र से गाँधीवादी विचार व्यक्त करते हैं । समकालीन ग्रामीण उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होते हैं-

विश्रामपुर का संत उपन्यास में पात्र विवेक-सुन्दरी से कहता है-

'मत भूलिए कि गाँधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश चम्पारन के किसानों को निलहे साहबों के शिकंजे से छुडाने के साथ हुआ था । माना कि वे अहिंसा में विश्वास रखते थे और सत्तारूढ लोगों के हृदय परिवर्तन के भी हामी थे । पर किसान के बारे में उनकी धारणा एक पालतू और कृतज्ञ लाभार्थी की न थी । वे उसके क्रान्तिधर्मी होने में विश्वास रखते थे ।

'मैंने कल ही पढा है । लुई फिशर के कुछ सवालों के जवाब में उन्होंने उसे

बताया था कि सिविल नाफर्मानी के अनुसार किसान लगान की अदायगी बन्द कर देंगे, वे नमक बनाएँगे और उनका अगला कदम जमीन पर कब्जा करने का होगा । फिशर ने पूछा 'क्या हिंसा के साथ?' इस पर गाँधीजी ने कहा, 'हिंसा भी हो सकती है पर ज्यादा सम्भव यह है कि भूस्वामी किसानों से सहयोग करने लगें ।' फिशर ने कहा, 'आप बडे आशावादी हैं ।' तब गाँधीजी ने अपनी बात स्पष्ट की, कहा, 'भूस्वामी गाँवों से पलायन कर सकते हैं और यही उनका सहयोग होगा ।'

'सुंदरीजी, आप किसानों के बारे में गाँधी-साहित्य को एक बार फिर पढिए। तब आपको पता चलेगा कि गाँधी का आदर्श किसान दीन-हीन नहीं है, न विनम्र और कृतज्ञ लाभार्थी मात्र है । उसकी सनातन बुद्धि ही में नहीं, उसकी क्रियाशीलता में भी गाँधीजी का अटूट विश्वास है । यह अपने हक के लिए संघर्ष करना जानता है । मुझे लगता है कि भूदान जैसे दाता और दानग्रहीता वाले आन्दालन ने किसान की इस गाँधीवादी अवधारणा पर वैसी ही चोट की है जैसी कि साम्यवादी संघर्ष पर। तभी मैं इसे दुधारी तलवार बताता हूँ ।'[११८]

'बीस वरस' उपन्यास में (पात्र) अंगद भाई दामोदर से कहते हैं-

'नन्दलाल बहुत ईमानदार आदमी है । आज के जमाने में जब दुनिया खुब फलफूल रही है, यह आदमी खाली होता चला गया । यह एक बार चकबंदी में क्लर्क लगा था । इस पेशे में लोगों ने न जाने कितना कमाया, लेकिन यह आदमी न कुछ लेता था और न साहब की आदमनी का जरिया बनता था । बच्चों ने बहुत समझाया- पिताजी दुनियादार बनिये नहीं तो कहीं के न रहेंगे लेकिन यह हँसकर रह जाता था । साहब भी नाराज हो गये और उसे हटा दिया । बच्चे भी नाराज हो गये।

इसने पेट काट-काटकर और खेत बेच-बेच कर बच्चों को पढाया था । बच्चे नौकरी से लग गये, इसे घर पर अकेला छोड दिया। वे इसे कुछ देते-वेते नहीं हैं, उल्टे ताना मारते हैं- 'जब कमाने का अवसर मिला था तब नैतिकता चाटते रहे अब चाटो नैतिकता ।' वह फिर भी हँस देता है ।

मुझे लगा कि पंडित नन्दलाल अपने बच्चों पर ही नहीं, पैसे के लिए भागते सारे जमाने पर हँस रहे हैं । उस दौड में शामिल ये बच्चे भला क्या समझेंगे पंडित नंदलाल की हँसी का वैभव ?'[११९]

२. पूँजीवाद

पूँजीवादी संस्था का आविर्भाव सामन्तवाद के रूप में मिलता है । पूँजीवादी धन संघर्ष को ही ईश्वर, धर्म, सत्य सब कुछ समझता है । पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पति व्यक्ति विशेष का अधिकार होती है तथा राज्य अथवा किसी संस्था को उसमें हस्तक्षेप करने का किंचित अधिकार प्राप्त नहीं होता । सम्पति चाहे किसी भी प्रकार की हो: यह चाहे पशु हो, स्त्री हो, भूमि हो अथवा अन्य कुछ भी हो । इस प्रकार इस समाज में वैयक्तिक सम्पति ही योग्यता का मानदंड होती है । पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पूर्ण समाज ही वर्गो में बँट जाता है । एक वर्ग उन व्यक्तियों का होता है जो संख्या में कम होते है परन्तु उत्पादन के साधनों पर उनका स्वामित्व अथवा एकाधिकार रहता है दूसरा वर्ग उन व्यक्तियों का होता है जो साधन हीन होते हैं तथा संख्या में अधिकार होते हैं । ये जीविकोपार्जन हेतु प्रथम वर्ग की दास्ता स्वीकार करते हैं और अपनी श्रम की अपेक्षा में क्रम पारिश्रमिक पर भी श्रम करने के लिए विवश होते हैं । इसके परिणामस्वरूप पूँजीपति उनका शोषण आरम्भ

कर देते हैं । वह कम से कम पारिश्रमिक देकर अधिक से अधिक कार्य लेते हैं तथा कम-से-कम सुविधाएँ प्रदान करने के अवसर की ताक में रहते हैं । अत: साधुनहीन व्यक्ति जब अपने अधिकारों की माँग करता है तो संघर्ष का जन्म होता है । 'पूँजीवाद ने मनुष्य की श्रमशक्ति के क्रय-विक्रय से पूँजी रूप में बदल लिया है जिसके कारण मनुष्यों के सामर्थ्य में असमानता की सीमा नहीं रही है । इस आर्थिक असमानता ने मानव के पारस्परिक सौहार्द्र को भी समाप्त कर दिया है ।'[१२०]

'पूँजीवाद अपनी शक्ति के दम्भ में चूर रहता है । पूँजीवादी प्रणाली में पेंदावार के काम में उधार या कर्ज का बहुत बडा स्थान है । सिक्के या रुपये के अभाव में पूँजीवादी प्रणाली चल ही नहीं सकती । रुपया सभी साधनों को खरीदने की शक्ति रखता है इसलिए वह स्वयं उत्पति की एक बहुत बडी शक्ति है । पूँजीपति इसी कारण उत्पति के साधनों का मालिक होता है । यह रुपया समाज में विनिमय का मार्ग सुलभ करके उत्पति बढाता है और यही रुपया लाभ की उपलब्धि और संग्रह के सरलता को बढाता है और इस प्रकार पूँजीवाद की गति को तीव्र करने में सहायक होता है । पूँजीवादी प्रणाली में ईमानदारी और सच्चाई तो होती ही नहीं ।'[१२१]

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में पूँजीवादी प्रवृति का चित्रण किया गया। ग्रामीण उपन्यासकार श्री लाल शुक्ल के 'विश्रामपुर का सन्त' उपन्यास में इस प्रवृत्ति को दर्शाया गया है । उपन्यास की निम्न पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं-

'सुन्दरी के अध्ययन में संयुक्त प्रांत के अलावा प्रसंगवश बिहार के किसानों की दशा का भी संक्षिप्त विवेचन था । कुँवर जयंती प्रसाद सिंह की जानकारी के

अनुसार उस सब में कोई नई बात न थी । यह जमींदारी टूटने के तीस-बतीस साल बाद आज जब उन्होंने जमींदारी प्रथा के कुछ रीति-रिवाजों के बारे में पढा तो उन्हें लगा कि वे किसी आदिम कबीलाई समाज की गाथा पढ रहे हैं ।

बडे जमींदारों को राजा कहा जाता था- उनके बडे भाई खुद ऐसे ही राजा थे । जमींदारी की आमदमी का मुख्य स्त्रोत किसानों की जोत पर लगने वाला कर लगाम था । उसका एक हिस्सा वे मालगुजारी के नाम पर सरकार को देते थे । उनकी हैसियत बिचौलिये या दलाल की थी पर जमीन के ऊपर उनकी मिल्कियत होने के कारण वे किसानों पर स्वामित्व का-सा हक रखते थे जिसे लचर कानूनों ने व्यापार में ऐसी मजबूती दे दी थी जिसका जिक्र किसी भी कानून में नहीं था ।

लगान, यानी जमीन या वार्षिक कर तो था ही, उससे भी ज्यादा सांधातिक कर वे थे जो राजा साहब की परिवार की खुशी के मौकों पर लगाये जाते थे । राजा साहब को हाथी खरीदना है, किसानों पर 'हथियावन' नाम का कर लगा दिया । मोहर खरीदने के लिए 'मोहरावन' और रानी साहिबा गर्भवती हुई तो नये कुँवर साहब के स्वागत में 'पेटपिरावन' ।'[१२२]

'नया सत्तातंत्र नये खून की माँग कर रहा है । कई ताकतवर बुढे हैं जो बरसों से देश के थैलीशाहों की निगाहों में सत्ता के प्रतीक बन रहे थे । वे अचानक थैलियाँ वसुलने की राजनीति के बावजूद, थैलीशाही का विस्तार होने पर भी, निरर्थक होते जा रहे हैं । उनकी जगह चुस्त पोशाक पहनने वाले नये प्रबन्ध विशेषज्ञ आ गये हैं । वे बम्बई-कलकता के सेठों तक ही चुनाव-चंदे को सीमित नहीं रखते, वे विदेशी वाणिज्य-व्यापार में लूट की सम्भावनाओं का अनुसंधान कर रहे

हैं । वे स्मार्ट हैं । बे पार्टी को और खुद अपने को सरसब्ज कर रहे हैं । ध्रुव प्रदेशों और रेगिस्तानों तक वे पैसा निचोडने की नयी प्राविधिकी का वे आविष्कार कर रहे हैं । एक-एक दाँव में करोडों डॉलर बटोरकर वे राजनीति को एक अत्याधुनिक और खतरनाक हथियार बना चुके हैं । कुछ बुढे अब भी असरदार हैं, उन्हें भारी-भरकम नाम वाले निरर्थक राजनीतिक ओहदे देकर ऐसी जगह बैठा दिया गया है जो एक चमकदार कूदेडान के सिवाय और कुछ नहीं है ।'[१२३]

३. समाजवाद

समाज शब्द से उस व्यवस्था का बोध होता है, जहाँ पर अनेक लोग परस्पर सहयोग से एक साथ मिलकर एक साथ चलने का प्रयत्न करते हैं । इस व्यवस्था में एक व्यक्ति की क्रिया दूसरे की क्रिया की पूरक होती है । समाजवाद समाज में फैले हर प्रकार के वैषम्य को दूर करने का प्रयास करता है । यह वाद अपने समता के सिद्धान्त के आधार पर समाज में समानता लाना चाहता है । समाजवाद व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व देता है । यह वाद व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सामाजीक सेवा की भावना उत्पन्न करना चाहता है । समाजवाद का आधार समानता है । आज संसार के विभिन्न देशों में समाजवाद की स्तापना के प्रयास हो रहे हैं ।

अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने गाँव के लोगों में जीवित सामाजिक सम्बन्धों का चित्रण किया है । उपन्यासों के अनेक पात्र सामाजीक विचारधारा से परिपूर्ण हैं । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'प्रधान जी, यह अर्जी तो है, लेकिन मेरे हिसाब से गलत हलफनामा है । स्कूल की बिल्डींग तो ठीक-ठाक है । बल्कि खूब मजबूत है । मैं आपकी भावना की कद्र करता हूँ, जो सोचा है गाँव के हित में सोचा है लेकिन...'

'लेकिन क्या मास्टरजी?' प्रधान जी आश्चर्य में डूबते हुए से बोले ।

'असल में इससे भी अच्छी बात यह होगी कि आप इस फंड को ऐसे स्कूलों के लिए जाने दें, जहाँ इमारत के नाम पर पेडों के नीचे बैठकर बच्चे पढते हैं । प्रधान जी, मैं ऐसे ही स्कूल से यहाँ तबादला होकर आया हूँ, जहाँ धूप की तीखी चिलचिलाहट, किटकिटाती ठंड और आँधी-पानी के मौसमों को बालक अपनी छोटी-छोटी देहों पर झेलते थे । आपके थानसिंह जहाँ गए हैं, वहाँ भी ऐसा ही खुला स्कुल है । उनका हक मारकर हम बेईमानी ही करेंगे न?'

'प्रधान जी के चेहरे पर खिला वसंत मुरझाने लगा ।

'यार, तुम दुनिया भर का दर्द महसूस कर रहे हो । हम तो अपने गाँव की बात जानते हैं । औसर चूके तो हमारे गाँव के बालकों को भी मौसमों से जंग लडनी पडेगी । उन गाँवो के प्रधान साले धसखोदा होंगे । वे नहीं सोचते अपने गाँव के बावत तो हमारा कसूर है ?'[१२४]

'परिमल बाबू का मन सोन बरसा में रम गया था । वे दिन भर इधर-उधर के काम देखते और रात को अजय के यहाँ विश्राम करते । सोनबरसा को जोडने वाली पगडंडियाँ बन रही हैं । लोगों ने अपने-अपने खेतों से थोडी-थोडी जमीन देकर और स्वयं ही श्रम कर इस बडे कार्य को शुरू कर दिया है । अगले निशाने पर सोनबरसा का मध्य विद्यालय है जिसकी इमारत गिर चुकी है । परिमल बाबू ने

कहा है कि लोग चंदे लगाएँ और श्रमदान करें, इमारत दो महीने में बनकर तैयार हो जाएगी । बच्चे तब पेडों के नीचे नहीं पढेंगे । वे स्वयं अच्छी पुस्तकें जुटाकर उसके पुस्तकालय को समृद्ध करेंगे । शिक्षकों को कहेंगे कि वे समय से आएँ और जाएँ तथा महसूस करें कि उन्हें जो वेतन मिलता है वह इस गरीब देश की जनता का पेट काटकर मिलता है । उन्हें मन से पढाना होगा, इसी में भलाई है और इस गरीब देश की भी । उन्होंने आपसी झगडों को खत्म करने के लिए एक समिति भी बनाई है जो वादी-प्रतिवादी की समस्याएँ सुनती है और किसी भी तरह से विवाद को खत्म करने की कोशिश करती है । परिमल बाबू से गाँव और आस-पास के लोग भरपूर प्यार करते हैं । वे जब जाने की बात करते हैं तो बूढी आँखों में भी आँसु आ जाते हैं । कृष्णकान्त मिश्र परिमल बाबू के व्यवहार से चमत्कृत हैं और रूपाली और अजय के संयुक्त प्रयासों से हो रहे विकास-कार्यो के इतने प्रयत्न हैं कि उनमें अब कोई बुराई नहीं दिखाई देती । उनमें भरोसा है कि इसी तरह काम चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब सब ठीक हो जाएगा, गाँव स्वर्ग बन जाएगा, सारे भेदभाव दूर हो जाएँगे । उन्हें यह भी विश्वास था कि जब इसी तरह सद्भाव बना रहेगा तब पंचायत और प्रखंड में धपले नहीं चल पाएँगे । लोगों में जागरुकता आ रही है । परिमल बाबू रोज शाम को लोगों को तरह-तरह की बातें बताते हैं । समझाते है कि आपसी मनमुटाव से कैसे राजनीतिज्ञ फायदा उठाकर उनके सम्बन्धों को हंमेशा के लिए कटु बना देते हैं । जाति और धर्म के आधार पर बँटे रहने का ही यह परिणाम है कि विकास-कार्य ठप्प पडे रहते हैं । लोगों को मूर्ख बनाकर ऊपर पैसे खाकर ये नेता मौज करते रहते हैं और किसी की भी बातें सुनना जरुरी नहीं समझते ।'[१२५]

अजय भागा भागा वहाँ पहुँचा, परिमल बाबू को प्रणाम कर वह पीछे बैठने लगा तो उन्होंने उसे अगली पंक्ति में बैठने को कहा और उनकी बातें जारी रहीं । अजय ध्यान से बातें सुन रहा था-

'कोई अपने आप में कुछ नहीं होता । वह संकल्प से अपने को बडा बनाता है। सबकी भलाई का संकल्प, समाज की सेवा का संकल्प ही वह मूल मंत्र है जो व्यक्ति को अचानक देवता बना देता है । मनुष्य से बढा बनता है । साधना एकाग्रता से होती है । मन, कर्म, वचन की एकान्विति से व्यक्ति साधक होता है । अपने आस-पास की मलीनता, अपराध, दरिद्रता, असभ्यता और कुसंस्कारों को यथासम्भव दूर रहना प्रत्येक साधक मनुष्य का कर्तव्य है । सरकारों और प्रशासनतंत्र को भूलकर हमें सेवा-भाव करनी है । गरीबों की पुकार सुननी है । उन्हें इस लायक बनाना है कि वे समर्थ हो जाएँ और अपनी बात कहने से उन्हें रोक नहीं सकें । इसके लिए हमे कष्ट भी उठाना पड सकता है । हमारा इस कारण विरोध भी होगा। पर हमें उसका सामना करना है । अगर यह भाव नहीं होगा तो अब और किसी तरीके से यहाँ का सुधार असम्भव है । लोग जब समझेंगे कि उनके भले के लिए ही यह सब हो रहा है तो वे भी साथ देंगे । आगे आएँगे । अपने भेद और अपनी दुर्भावनाएँ त्यागेंगे । वही समय हमारी सेवा की जीत का होगा । देखोगे, तब सब कुछ बदलता जाएगा । हमारा कहना है- समाज धीरे-धीरे बिगडता है हम उसे जल्दी बदल देंगे । उसे मनुष्यता की सीख देंगे । हमारा संकल्प है- बिहार के मंडल, जनपद, प्रखंड, पंचायत और गाँव-गाँव में मंच स्थापित होगा । हर जाति धर्म के लोग इसके सदस्य होंगे और सभी समझेंगे कि यह उनका पारिवारिक संगठन है ।

आप लोग इस पर विचार करें, सोचें कि इसमें किसी को कोई एतराज तो नहीं है। अगर हो तो सबके बीच बातें आनी चाहिए ।'

बैठक में उपस्थित प्राय: सभी स्थानीय थे और विद्यार्थी तबके से थे । सबने मंच की प्रधान-सामग्री, उसने नियम, प्रावधान आदि को पढा था, इसलिए कोई जिज्ञासा जैनी स्थिति नहीं थी, फिर भी एक युवक ने कुछ पुछना शुरु किया तो बारी-बारी से सबने कोई-न-कोई शंका अवश्य रखी । मलय ने पूछा- 'क्या इस कार्य से अन्तत: सामाजीक सेवा-भाव का ही लक्ष्य पूरा करना है या उसका कोई और उदेश्य है ?'

परिमल बाबु मलय के प्रश्न से थोडे झिझके फिर बोलने लगे-

'नहीं तुम्हारी आशंका निराधार है । हमारा प्रथमत: और समग्रत: एक ही लक्ष्य है कि सामाजिक सुधार हो और समग्रत: एक अर्थ में जनता का जागरण हो। आपशी बंधुत्व स्थापित हो जाए और लोगों के बीच जड जमा चुकी पारम्परिक शत्रुता का विनाश हो । हम मंच के माध्यम से और कोई लक्ष्य लेकर नहीं चल रहे हैं और न इसका कोई इरादा है ।'

अजय को मंच के लिए धन-संग्रह की चिन्ता सता रही थी । उसने पूछा, 'इतने बडे मंच में होने वाले व्यय के लिए धन कहाँ से आएगा?'

परिमल बाबू को हँसी आ गई । वे बोल पडे- 'जिस मंच में युवाओं की इतनी बडी संख्या हो और सबमें यह संकल्प भाव हो कि उसने सेवा का व्रत ले लिया है तो फिर धन संग्रह की आवश्यकता क्या है ? धन संग्रह संस्थाओ को नष्ट करता है । वह व्यभिचार और कुटिलता के बीज बोता है । हमें ऐसा काम ही नहीं करना

है कि धन की इतनी जरूरत आ पडे कि हमें उसके संग्रह और संघर्ष की जरूरत पडे । उद्‌बोधन और प्रचार-सामग्री का प्रकाशन इन आपस में चंदा लगाकर करेंगे। ऐसे कामों के लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी खर्च में से पाँच-दस रुपये आसानी से दे सकता है । हमें कहीं कोई मंचीय आयोजन या तडक-भडक से भरा जलसा नहीं करना है । हमें जन-सम्पर्क करना है । घर-घर जाकर लोगों से बातें करनी हैं । छोटी-मोटी समस्याओं के निदान के लिए जनमत बनाना और उसे दूर करना है ।'[१२६]

'सिर्फ तीस साल बीते हैं । पर 'मध्यप्रांत केसरी' को लोग भूल चूके हैं । नयी पीढी के स्वत: निर्मित इतिहास में उनका नाम नहीं है । पर कभी त्याग और सेवा-व्रत स्वत: सिद्ध मूल्य थे । उन्हीं से प्रेरित होकर राव साहब ने कई अडचनों के बावजूद, बेतवा के किनारे बसे हुए इस ऊबड-खाबड गाँव का ग्रामदान कराया था, कुछ दिन वहाँ रहकर संस्था का मार्गदर्शन भी किया था । बाद में उन्हीं के कहने से वहाँ सुन्दरी बेन आयी- जो बाद में 'बहनजी' हो गयी- सुशील बेन आयीं, जो बाद में गुजरात में सर्वोदय-कार्य के लिए वापस चली गयीं । ये दोनों 'जीवनदानी' थीं । यानी वे जिन्होंने जीवनपर्यन्त सर्वोदयी सिद्धान्त पर समाजसेवा करने का संकल्प लिया था । अखबार बता रहे थे: अब, जब कि सुन्दरी के देहांत के बाद विश्रामपुर जैसा अद्‌भुत प्रयोग डगमगाने लगा है, भूदान यज्ञ के पुराने अधिष्टाता कुँवर जयंती प्रसाद सिंह अचानक दृश्य पटल पर आ गये हैं । सारा वैभव, सारी सुख-सुवधाएँ पीछे छोडकर उन्होंने इस डूबती नाव की पतवार अपने बूढे, पर मजबूत हाथों में ले ली हैं ।'[१२७]

'अब गाँव पर किसी एक वर्ग का शासन नहीं रह गया था । मीटिंग करके मजदूरी तय की जाती । जो रेट निर्धारित कर दिया जाता, उसे सबको मानना पडता । मजदूरों के साथ पहले की तरह मनमानी और ज्यादती करने का सिलसिला खत्म हो गया था । गाँव के बनिहार, चरवाह और मजदूर सम्मानित जिंदगी जीने लगे थे । पहले की तरह उन्हें अकारण गाली दे देने और अपमानीत करने का माहौल खत्म हो गया था । आगे चलकर भरतपुर के पिछडे लोगों ने अपने आस-पास के अन्य गाँवों में भी यह आग लगानी शुरू कर दी थी । फिर कई गाँवों में भरपुर कांड की पुनरावृति शुरू हो गयी थी । पिछडे वर्ग के लोगों ने भरतपुर गाँव को अपना मुख्य अड्डा बना लिया था । यहाँ वे लडाई जीत चुके थे । अब यहीं से पुरी तैयारी के साथ दूसरे गाँवों पर हमला बोलते । इस गाँव के मुरारी सिंह के लोग फिर अपनी पहली स्थिति में न लौटें, इसके लिए हर पन्द्रहवें दिन यहाँ नारे लगाए जाते और उन्हें चेतावनी दी जाती ।'[१२८]

'उन दिनों गाँव की स्थिति शांत और सहज हो गई थी । काफी मार-काट और हत्या के बाद भरतपुर गाँव बदलकर अब इस रूप में आ गया था कि गाँव के शोषित, पीडित, उपेक्षित और दलितवर्ग के लोगों को न सिर्फ बराबरी का दर्जा ही मिला था, बल्कि गाँव के शासन की बागडोर भी उनके हाथों में ही आ गई थी । अब उनकी मर्जी से ही कुछ होता था । पहले की तरह उन्हें सताए जाने और भूखों मरने की बात खत्म हो गई थी । लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य मामलों में गाँव पूर्ववत् ही था। रूढियाँ, अन्धविश्वास और आडम्बर पहले ही की तरह बने रहे थे। हाँ, हत्या की घटनाएँ अब बन्द हो गई थी । अब गाँव में शासन चला रहे इस नये

वर्ग द्वारा हर पन्द्रह दिन बाद नारे लगाए जाते, सभाओं का आयोजन कर भाषण दिए जाते, नाटक खेले जाते और इन सबके माध्यम से यह बात बताई जाती कि अमीरों के शोषण और अत्याचार के खिलाफ गरीब वर्ग को संगठित होकर लडना है ।'[१२९]

'मालकिन! अपना बेटा, चाहे पति हो या न हो... गाँव के लोग तो हैं... गाँव के सभी लोग एक ही जैसे नहीं है... आपको कोई ऊँच-नीच बोलने लगे और सारा गाँव चुपचाप देखता रहे, यह नहीं होगा । पुरबारी पट्टी के कुछ लडकों की बातचीत मैंने सुनी है... वे सब कालेज में पढनेवाले लडके हैं । कहते हैं कि डायन और भूत-प्रेत का प्रचार बखेडा है... यह सब बिल्कुल झूठी बाते हैं... मूर्ख लोग इस पर विश्वास टिकाए रहते हैं...।'[१३०]

'रामशरण बहू और दूधनाथ चौधरी के प्रसंग को लेकर जब इस कोठरी में बात चलती है तो इस कोठरी के युवकों की प्रतिक्रिया बरगद और हरिदादा के दालान की प्रतिक्रिया से बिलकुल भिन्न होती है । इने-गिने दो-तीन युवकों को छोडकर, जो बरगद और हरिदादा के दालान की बातों के अन्धसमर्थक होते हैं, शेष सभी युवक इसका विरोध करते हैं । युवकों के अनुसार यह एक सामाजीक रूढि है। इस रूढि के चलते अकारण ही रामशरण बहु को बदनाम किया जा रहा है । यहाँ के युवकों को भूत-प्रेत और डायन-ओझा की बातों में तनिक भी विश्वास नहीं । यहाँ के युवक कहते है कि अगर डायनों में मंत्र के द्वारा किसी को खत्म करने की क्षमता ही होती तो फिर सरकार अपने व्यापक उदेश्य के लिए उनका इस्तेमाल क्यों नहीं करती ? सीमाओं पर लडने के लिए सेना क्यों भेजती? क्यों नहीं गाँव-गाँव

से चुनकर डायनों को ही भेज देती, जो दूर से ही दुश्मनों का सफाया करती रहती ?

पुस्तकालय की कोठरी के युवक आपस में बातचीत करते हुए यह कहते हैं कि आज जब मनुष्य चन्द्रलोक की यात्रा पर जा रहा है, विज्ञान द्वारा जीवन की तमाम सुविधाएँ मुहैया की जा रही है, वहाँ इस तरह की बातों पर विश्वास करना मूर्खता और पिछडेपन का ही परिचायक है । यहाँ के युवकों को यह लगता है कि उनके गाँव के अशिक्षित और अंधविश्वासी लोगो ने ही इस तरह की धारणाओ को जिलाए रखा है । यहाँ के युवकों के अनुसार, 'जनजीवन में व्याप्त इस तरह के ढोंग, पाखंड- आडम्बर और अंधविश्वास का पर्दाफाश होना चाहिए ।'[१३१]

'अब की बार ट्रैक्टर की कमाई का बाँट कुछ दूसरी तरह से किया । रामदास की बिटिया की शादी है, उसके हिसाब में ज्यादा डालने होंगे । सबसे पूछ लिया मंदाकिनी ने । सबकी रजामंदी ले ली । अगले महीनों में थोडा-थोडा करके कट जायेंगे रुपये । चुक जायेंगे । ब्याह निकट जाये अच्छी तरह ।

उसकी बात क्या, सबकी बात है यह । सब आदमी एकमत होकर मानते हैं इस बात को कि जरूरत-आवश्यकता तो सबको पडती है। फिर रामदास की बिटिया सो सबकी बिटिया समान ।

बस, यही भावना बनी रहे, ऐसा ही हेलमेल, ऐसी ही सहमति । यही चाहती है मंदाकिनी, यही समझाती है बार-बार, बिखरोगे तो टूट जाओगे, हार जाओगे । मित्रता बाहर से नहीं, भीतर से पैदा होती है, उजली लकीर की तरह ज्योतिवान। मन विशाल और बृहद बनता है मित्र-भाव से । जीवन के ऊबड-खाबड रास्ते स्वयं

सुगम होते जाते हैं सहयोग से, संगठन से । अकेला रामदास, अकेला पिरभू, अकेला रामरतन नही उठा सकता था ट्रैक्टर के मूल्य का भार । मिलजुलकर बना लिया एक हीला और आज प्रसन्न है मंदाकिनी । प्रफुल्लित है उसका अन्तर्मन ।'[१३२]

'पर हम लोगों ने सोचा है कि तुम्हारे जीवन-भर की आजीविका के लिए तुम्हारे योग्य एक काम सींप दें...। रघुनाथपुर गाँव का नाम तुमने सुना होगा । यहाँ से निकट ही है । लगभग बीस मील के फासले पर है । वहाँ माछली-पालन का हमारा एक बडा तालाब है । तालाब का बूढा रखवार नेपाली अभी इसी महीने अपने देश चला गया है । तुम दोनों पति-पत्नी के जीवन पर्यन्त निर्वाह का दरमाहा हमारे यहाँ से मिलता रहेगा । वहाँ काम भी कोई कडा नहीं होता । सिर्फ तालाब के चारों तरफ घूम-घूम कर मछली-चोरों से मछलियों की रक्षा करना तथा मछलियों के लिए समय-समय पर खाद्य देना और उसका जल बदलते रहना...।'[१३३]

४. मार्क्सवाद

'मार्क्सवाद' अंग्रेजी के 'मर्क्सिज्म' शब्द का हिन्दी पर्याय है । लेनिन के शब्दों में 'मार्क्स के क्रमबद्ध विचारों तथा सिद्धान्तों का नाम मार्क्सवाद है ।'[१३४] एमाइन बर्न्स के अनुसार- 'जिस जगत में हम रहते हैं, उस जगत के साथ अंश मानव समाज के सामान्य सिद्धान्त का नाम मार्क्सवाद है । इसका नामकरण कार्ल मार्क्स के नाम पर हुआ है ।'[१३५] मार्क्सवादी आलोचक यकाट का कथन है- 'मार्क्सवाद साम्यवादी वर्ग तथा उसके हेतु संघर्ष करने वाले शोषित एवं श्रमिक जनों का सशक्त अस्त्र है ।'[१३६] संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रकृति, समाज तथा मानवीय विचार के विकास के सम्बन्ध में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक, आर्थिक और सामाजिक

विचारों के सैद्धान्तिक, प्रयोगात्मक एवं व्यवहारिक रूप का नाम मार्क्सवाद है । प्राय: कुछ आलोचक जिन्होंने मार्क्स की दर्शन पद्धति को पूरी तरह नहीं समझा उन्होंने उसे भौतिकवादी यानी चार्वाक की तरह सुखवादी कहकर टाल देना चाहा, और कहा नि मार्क्सवाद के माने तो 'रति और रोटी' की छूट और मनुष्य का पुन: पशु बन जाना या आदिम मानव की भाँति स्वच्छंद बन जाना है । किन्तु वस्तुत: मार्क्सवाद एक ऐसा भौतिकवादी दर्शन है, जो एक ओर विकासशील विज्ञानों की नित्य नवीन उपलब्धियों का उपयोग करते हुए जगत और समाज के विकास क्रम का तटस्थ एवं विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर तत्सम्बन्धी मानव ज्ञान की वृद्धि करता है, तो दूसरी ओर शब्दों के विरुद्ध शोषितों का शक्तिशाली अस्त्र बनकर युग-युगों से चलती हुई मानव द्वारा मानव के शोषण की दूषित प्रक्रिया का अन्त कर देता है और साम्यवादी समाज की स्थापना के माध्यम से एक सच्ची मानवता के विकास के मार्ग में सहायक बनता है।

मार्क्स तथा उनके धनिष्ठ मित्र एंगेल्स के गहन अध्ययन के फलस्वरूप १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में ऐसे मार्क्सवाद की स्थापना हुई, जो एकदम शून्य या कल्पना से निसृत न होकर तब तक के प्रचलित कई विचारों तथा मान्यताओं से परिपूर्ण था । 'वस्तुत: मार्क्स के पूर्व विभिन्न प्रकार के दार्शनिक, आर्थिक तथा समाजवादी सिद्धान्त प्रचलित थे, किन्तु एक तो वे किसी अन्तर्वर्तिनी एकता में संगठित नहीं थे और दूसरे, उनके द्वारा सर्वहारा वर्ग के हित की अभिव्यक्ति नहीं हुई, अत: वे उस वर्ग के निस्तार के हेतु आवश्यक संघर्ष के मौलिक एवं सैद्धान्तिक आधार नहीं बन सके ।'[१३७] क्योंकि वे अपने समय की नाना परिस्थितियों तथा

ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं में बद्ध थे । सभी विचारधाराएँ अपने समय की नवीनतम वैज्ञानिक उपलब्धियों के उपयोग से दूर होकर अविकसीत होने के कारण वस्तुपरक तर्क एवं व्यवहारिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती थीं । अतएव मार्क्सने स्पष्ट अनुभव किया कि अपने नवीन क्रान्तिकारी सिद्धान्त के प्रतिपादन के प्रयत्न में पूर्वकातिक दार्शनिक विचारों का नितांत वर्णन न तो सम्भव है, और न ही समुचित है । वस्तुत: उन सभी विचारों के पुनरीक्षण एवं त्रुटिपरिमार्जन के द्वारा ही तब तक के मानवीय विचारों के विकासशील और श्रेष्ठतम तत्वों को ग्रहण किया जा सकता है तथा, उन्हें वैज्ञानिक ढंग से उपयोग किया जा सकता है । लेनिन के शब्दों में- 'अपने समसामयिक समाज विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग करते हुए, दार्शनिक विचारों के पूर्ववर्ती विकास में जो कुछ भी श्रेष्ठतम था, उसमें दक्षता प्राप्त करके तथा उसका रचनात्मक परिष्कार करके मार्क्स और एंगेल्स ने द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक पदार्थवाद की सृष्टि की ।'[१३८] मार्क्सवाद १९वीं शताब्दी में जर्मन दर्शन शास्त्र, अंग्रेजों के राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा फ्रांसीसी समाजवाद के रूप में मानवजाति की सर्वश्रेष्ठ रचना थी ।'[१३९]

मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना पूर्व प्रचलित अविकसित, अवैज्ञानिक तथा अन्य विचारों को परिमार्जित करके ही की । मार्क्स के सिद्धान्त किसी कल्पना पर आधारित नहि थे । 'मार्क्स ने अपने पूर्व की दार्शनिक राजनीतिक सामाजिक प्राकृतिक आर्थिक आदि विभिन्न वैज्ञानिक या शास्त्रीय विचारों में पारस्परिक सम्बन्ध जोडते हुए वैज्ञानिक कसौटी पर उन्हें और भी विकसीत तथा परिष्कृत किया, फिण उनके साथ अपने मौलिक विचारों का रासायनिक संयोग करके नितांत नवीन एवं

विशिष्ट रूप में अपने सिद्धान्तों की स्थापना की ।'[१४०] मार्क्स के पूर्व दर्शन के क्षेत्र में फारयबाख तथा हेगेल ने क्रमश: जगत् की भौतिकता तथा द्वन्द्वात्मक विकास प्रक्रिया की व्याख्या की थी, किन्तु वे उन दोनों में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके थे । फायरबाख का यांत्रिक भौतिकवाद प्रकृति की व्याख्या तक ही सीमित रह गया, मानव समाज का विश्लेषण वह नहीं कर सका और हेगेल की द्वन्द्वात्मकता जगत् के विकास की व्याख्या करते हुए भी उसकी भौतिकता को पहचानकर उसे भावनात्मक समझने के भ्रम में पडी रही । दूसरी ओर अर्थशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने आधुनिक युगीन मानव समाज की आर्थिक एवं सामाजिक विषमताओ की विभीषिका का विषद् चित्रण प्रस्तुत किया, किन्तु वे लोग आर्थिक सम्पति तथा सामाजिक दु:स्थिति का और आर्थिक स्त्रोत तथा उसके स्वामित्व एवं वितरण का पूर्ण सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके ।

वैज्ञानिक विकास के नवीनतम ज्ञान के बोध और विनियोग के पृथक अथवा वंचित रहने के कारण मार्क्स के पूर्वदर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र का दृष्टिकोण प्रकृति और समाज के प्रति न समग्र और शुद्ध रहा और न वैज्ञानिक ही । पूर्ववर्ती चिंतकों की इन सीमाओं तथा त्रुटियों की ओर सर्वप्रथम मार्क्स और एंगेल्स ने उन सबके साथ समाज के ऐतिहासिक विकास का भी संश्लिष्ट रूप से अध्ययन किया और उनकी सीमाओं तथा त्रुटियों का परिष्कार किया । इस प्रकार उन लोगों ने अपने समस्त विचारों का संश्लिष्ट चिंतन एवं मनन कर उन्हें वैज्ञानिक एवं सैद्धान्तिक रूप में प्रतिपादित किया । फलस्वरूप मार्क्सवादी विचार अपने पूर्व के समस्त ज्ञान के वारीस होते हुए भी उनसे श्रेष्ठ और विशिष्ट बन पडे हैं । मार्क्स

के प्रयत्न से पूर्व मार्क्सीय विचारों में रूपान्तरण या गुणात्मक परिवर्तन की प्रतिष्ठा हुई और यह एक साथ सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक दर्शन बन गया । वस्तुत: मार्क्सवाद एक ओर जगत् और जीवन का व्याख्याता भी है और दूसरी ओर उनके परिवर्तन में सहयोग देने वाला क्रान्तिकारी अस्त्र भी । इस रूप में मार्क्सवाद विश्व के किसान तथा मजदूर वर्ग की एकता की शक्ति और विजय का साधन भी है ।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त : एंगेल्स के शब्दों में वर्ग संघर्ष 'आदिम समाजवाद को छोडकर मानव जाति का सारा अतीत इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है और हर समाज के संघर्षशील वर्ग उस काल के उत्पादन और विनिमय की अवस्थाओं से या एक शब्द में कहें तो उस काल की आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं।'[१४१] एंगेल्स ने लिखा है- 'आधुनिक इतिहास में कम से कम यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि समस्त राजनैतिक संघर्ष वास्तव में वर्ग संघर्ष ही है । और स्वतंत्रता के लिए चलने वाले वर्गों के यह समस्त संघर्ष अपने विशिष्ट राजनीतिक स्वरूप को रखते हुए भी क्योंकि प्रत्येक वर्ग संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष है- अन्तत: आर्थिक स्वतन्त्रता के प्रश्न से ही जुडे हुए हैं ।'[१४२] वर्ग संघर्ष का अर्थ है- 'एक वर्ग का दूसरे वर्ग के खिलाफ लडने के लिए मैदान में उतरता और यही संघर्ष उस परिवर्तन का मुख्य साधन है, जिससे समाज में परिवर्तन लाया जा सकता है ।'[१४३] मार्क्सवाद वर्ग विहीन समाज का समर्थक है और वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए ही यह वर्ग चेतना का अधिकाधिक प्रसार करके वर्ग संघर्ष को उसके अन्तिम परिणाम तक ले जाना चाहता है ।'[१४४]

लेनिन ने वर्ग के सम्बन्ध में कहा है कि- 'वर्ग वह चीज है जो समाज के

एक भाग के श्रम को हडप लेने का अधिकार बनाती है । यदि समाज का एक भाग सारी भूमि हडप लेता है, तो समाज में दो वर्ग-जमींदार और किसान बन जाते हैं। यदि समाज का एक वर्ग इन कारखानों में मजदूरी करता है, तो समाज में दो वर्ग पूँजीपति और सर्वहारा बन जाते हैं ।'[१४५] मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणा पत्र में लिखा है कि- 'स्वतंत्र मनुष्य और दास, अभिजात वर्ग और साधारण प्रजा, सामन्त और उसके कर्मी, शिल्प संघ के मालिक और मजदूर कारीगर संक्षेप में पीडक और पीडित सदा से एक-दूसरे का विरोध करते आए हैं । वे कभी छिपे, कभी प्रगट रूप से लगातार एक-दूसरे से लडते रहे हैं । ऐसी लडाई का अन्त या तो समाज का सारा ढाँचा बदलने में हुआ है या लडने वाले दोनों वर्गो की बर्बादी में हुआ है ।'[१४६]

क्रान्ति का सिद्धान्त: सामाजीक व्यवस्थाओं के परिवर्तन के लिए मार्क्सवाद सुधारवादी उपायों में किसी प्रकार की आस्था नहीं रखता है । वह क्रान्ति का पोषक है और उनकी यह क्रान्तिवादिता द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्तों पर आधारित है। आन्तरिक विरोधों पर आधारित किसी भी सामाजीक व्यवस्था के अन्तर्गत पहले तो शोषित वर्ग में असंतोष की मात्रा धीरे-धीरे बढती रहती है और फिर एक ऐसी चरम स्थिति आती है जहाँ पर पहुँचकर यह असंतोष एक भीषण क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है । यह क्रान्ति भी वास्तव में गुणात्मक परिवर्तन की प्रतीक होती है जिसके फलस्वरूप पुरानी सामाजिक व्यवस्था समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर एक नवीन सामाजीक व्यवस्था का जन्म होता है ।'[१४७]

अतीत के अनुभव से स्पष्ट हो जाता है कि शासक वर्ग कभी भी स्वेच्छा से

अपनी सत्ता, अनेकानेक विशेषाधिकारों और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का परित्याग नहीं करता, जिनके माध्यम से वह श्रमजीवी जनता का शोषण करता है । इस कारण समाजवादी क्रान्ति आवश्यक रूप से क्रान्तिकारी बल प्रयोग पूँजीवाद का बलपूर्वक तख्ता उलटने से सूत्रबद्ध है । लेकिन बल प्रयोग के विभिन्न रूप होते हैं । इनमें से एक हथियारों के प्रयोग गृहसिद्ध तथा विदेशी हस्तक्षेप से सूत्रबद्ध है। इसके अतिरिक्त बल प्रयोग शान्तिपूर्ण स्वरूप का भी होता है । निजी स्वामित्व का अधिग्रहण अथवा परिसीमन, शोषणकारी वर्गों के राजनीतिक अधिकारों का अन्त अथवा उन पर पाबंदी, उन्हें अनिवार्य श्रम में लगाना आदि । समाजवादी क्रान्ति से इस प्रकार का बल प्रयोग (शान्तिपूर्ण बल प्रयोग) अपरिहार्य है, क्योंकि इस बल प्रयोग अथवा बाध्यता (आर्थिक और राजनीतिक) के बिना समाजवाद की विजय की कल्पना भी नहीं की जा सकती । जहाँ तक सशस्त्र बल प्रयोग का सवाल है इसे देश विशेष की विशिष्ट परिस्थितियों, वर्ग शक्तियों के पंक्तिबंधन और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का विश्लेषण किए बिना तय नहीं किया जा सकता । वैज्ञानिक कम्युनिज्म इस प्रस्थापना के आधार पर अग्रसर होता है कि समाजवाद की विजय के लिए युद्ध कदापि अनिवार्य नहीं है ।[१४८]

वैज्ञानिक कम्युनिज्म ने 'क्रान्ति का निर्यात करने' और सशस्त्र शक्ति द्वारा क्रान्ति को 'आगे धकेलने' के बारे में सभी सिद्धान्तों को हंमेशा दृढतापूर्वक विरोध किया है । 'वानपंथी' दुस्साहसिकतावादियों की, जिन्होंने विश्व पूँजीवाद के खिलाफ 'क्रान्तिकारी युद्ध' का आह्वान किया, निन्दा करते हुए लेनिन ने घोषणा की कि 'सम्भवत: ये आह्वान करने वाले लोग विश्वास करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति के

हितों का यह तकाजा है कि उसे ठेला जाना चाहिए और उसे केवल युद्ध द्वारा ही ठेला जा सकता है- और शांति द्वारा तो किसी प्रकार भी नहीं ठेला जा सकता, क्योंकि उससे जनता को शायद वह आभास हो कि साम्राज्यवाद को 'कानूनी ठहराया' जा रहा है ? इस प्रकार का 'सिद्धान्त' मार्क्सवाद से सर्वथा अलग होगा, क्योंकि मार्क्सवाद हंमेशा से क्रान्तियों को 'ठेलने' के खिलाफ रहा है, जिनका विकास क्रान्तियों को जन्म देने वाले वर्ग विरोधों की बढती उग्रता के साथ होता है।'[१४९]

राष्ट्रीय मुक्ति-क्रान्ति: राष्ट्रीय मुक्ति क्रान्ति साम्राज्यवाद विरोधी, सामंत विरोधी और जनवादी क्रान्ति है । यह जनवादी कार्यभारों, विदेशी उत्पीडन का तख्ता उलटने के कार्यभारों को सम्पन्न करती है । राष्ट्रीय मुक्ति-क्रांतियों के प्रमुख उदेश्य हैं विदेशी साम्राज्यवादियों के राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभुत्व का तख्ता उलटना, राजनीतिक और आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करना तथा प्रभुसतासम्पन्न राष्ट्रीय राज्य कायम करना । राष्ट्रीय मुक्ति क्रान्ति का आम जनवादी साम्राज्यवाद विरोधी और सामंत विरोधी स्वरूप केवल इसके उदेश्यों द्वारा ही नहीं, बल्कि इन उद्देश्यों को पूरा करनेवाली सामाजीक शक्तियों द्वारा, अर्थात् क्रान्ति की प्रेरक शक्तियों द्वारा भी निर्धारित होता है ।'[१५०]

सर्वहारा का एकाधिपत्य: स्टालिन के अनुसार 'सर्वहारा वर्ग का एकाधिपत्य सर्वहारा क्रान्ति का शस्त्र उसका मुख्य साधन और उसका प्रधान आधार स्तम्भ है। सर्वहारा एकाधिपत्य एक क्रान्तिकारी शक्ति है जिसका आधार पूँजीपतियों के विरुद्ध बल का प्रयोग है ।'[१५१]

सर्वहारा एकाधिपत्य के उदेश्य पर प्रकाश डालते हुए स्टॉलिन ने लिखा है- 'पूँजीपति वर्ग के किसी देश में पराजित हो जाने पर भी विभिन्न कारणों से वह देश के विजयी मजदूर वर्ग की अपेक्षा बहुत दिनों तक अधिक शक्तिशाली बना रहता है। अतएव सर्वहारा वर्ग के सामने मुख्य प्रश्न होता है शासन पर अपने अधिकार को बनाए रहने का, उसकी जडों को मजबूत करने का, और उसे हर तरह से अपराजेय बनाने का । इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए मजदूर वर्ग को कम-से-कम तीन कार्य करने पडते हैं जो क्रान्ति की सफलता के साथ ही उसके सामने आ उपस्थित होते हैं-

१. क्रान्ति द्वारा पराजित और अधिकारयुक्त पूँजीपतियों के विरोध को बलपूर्वक दबा करके पूँजी का शासन फिर से स्थापित करने के उनके समस्त प्रयत्नों को असफल बनाना ।

२. रचनात्मक और निर्माण सम्बन्धी कार्यों को इस ढंग से संगठित करना कि जिससे सारा श्रमजीवी जनसमूह मजदूर वर्ग का सहयोगी बन जाए । उसे इन कार्यों को इस ढंग से पूरा करना चाहिए कि वर्गभेद के और वर्ग समाज के भी अन्त का रास्ता साफ हो जाए ।

३. विदेशी शत्रुओं और साम्राज्यवादियों से लोहा लेने के लिए क्रान्ति के समर्थकों को हथियारबन्द करना और क्रान्तिकारियों की सेना संगठित करना जिससे कि वे इस कार्य में पूर्णरूप से सफल हो सकें ।'[१५२]

लेनिन के शब्दों में- शासन पद से हटाए जाने के बाद पूँजीपति वर्ग का विरोध दस गुना बढ जाता है । इसी शासनच्युत किन्तु अधिक शक्तिशाली पूँजीपति

वर्ग के विरुद्ध नए वर्ग के अत्यन्त दृढ और निर्मम संग्राम का ही नाम सर्वहारा वर्ग का एकाधिपत्य है ।'[१५३]

'सर्वहारा का एकाधिपत्य वास्तव में पूँजीवादी समाज से कम्युनिस्ट समाज के संक्रमण काल की ही एक अवस्था विशेष है, जिसमें सर्वहारा, क्रान्ति के पश्चात् अधिकार से वंचित किए गए पूँजीपति वर्ग को बलपूर्वक दबाकर रखता है और उत्पादन के साधनों को उनके हाथों से छीनकर, उन्हें सार्वजनिक सम्पति घोषित करके, एक शोषणमुक्त, वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। फलत: सर्वहारा एकाधिपत्य पूँजीवादी वर्ग के ऊपर सर्वहारा का राज्य है, जिसका आधार बल है ।'[१५४]

वर्ग विहीन समाज की धारणा: मार्क्सवाद का साध्य वास्तव में वर्गविहिन समाज की स्थापना है । सैद्धान्तिक रूप से ही मार्क्सवाद समाज में श्रेणियों के अस्तित्व को अशुभ और अनावश्यक मानता है और हर सम्भव उपाय द्वारा उनके उन्मूलन का प्रयास करता है । सर्वहारा के इस एकाधिपत्य के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने वेडमेयर के नाम लिखे हुए अपने एक पत्र में निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण बातों की ओर संकेत किया है।[१५५]

१. वर्गो का अस्तित्व उत्पादन के विकास की खास ऐतिहासिक आस्थाओं से जुडा हुआ है ।

२. वर्ग संघर्ष का आवश्यक परिणाम सर्वहारा वर्ग की डीक्टेटरशिप की स्थापना होता है ।

३. यह डिक्टेटरशिप स्वयं भी तमाम वर्गों के अन्त और वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए एक परिवर्तनकाल की चीज है ।

मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार सर्वहारा एकाधिपत्य के फलस्वरूप जिस वर्ग विहीन समाज की स्थापना होगी उसमें प्रत्येक व्यक्ति के जीविकोपार्जन का एक ही आधार होगा और वह होगा उसका श्रम । उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का नहीं वरन् समाज का अधिकार होगा । एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति के शोषण का पूर्णत: अन्त हो जाएगा । वास्तव में सर्वहारा के एकाधिपत्य के फलस्वरूप विकसीत होने वाले वर्गविहीन समाज में शोषक और शोषित के भेदभाव के समाप्त हो जाने पर समाज के सम्पूर्ण व्यक्तियों के लिए बिना किसी अपवाद के व्यापक एवं सच्चे अर्थों में जनवाद की प्रतिष्ठा होगी ।[१५६]

राजसता का लोप: राजसत्ता के सम्बन्ध में एंगेल्स से अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'परिवार व्यक्तिगत सम्पति और राजसत्ता की उत्पत्ति' में लिखा है कि- 'राजसत्ता कोई ऐसी शक्ति नहीं है जिसे समाज पर बाहर से लाद दिया गया हो... वह ऐसी वस्तु है जो समाज के विकास की एक अवस्था विशेष में उत्पन्न हुई है । वह इस बात की स्वीकृति है कि समाज अपने ऐसे विरोधों में उलझ गया है कि जिनसे मुक्ति पाना सम्भव नहीं है । परन्तु विरोधी आर्थिक हितों वाले यह वर्ग, यह अन्तर्विरोध, कहीं सारहीन, निरर्थक संघर्ष में अपने को और समाज को भस्म न कर दें, एक ऐसी शक्ति आवश्यक हो गई जो देखने में समाज से ऊपर हो और जो इस संघर्ष को धीमा करके उसे 'व्यवस्था' की सीमाओं में रखे । यह शक्ति जो समाज से उत्पन्न हुई है परन्तु अपने आप को समाज से ऊपर रखती है और उससे अधिकाधिक अलग होती जाती है, राजसत्ता है ।'[१५७]

मार्क्सवाद का उदेश्य वर्गविहीन समाज की स्थापना है । कम्युनिस्ट समाज

में इस उदेश्य की सिद्धि हो जाने पर तथा वर्ग विरोध के समूल नष्ट हो जाने पर एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग को बलपूर्वक दबाकर रखने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा। अत: वह राजसत्ता जिसका जन्म वर्ग शत्रुओं को दबाने के लिए समाज में वर्ग विभाजन के साथ हुआ था, वर्गविहीन समाज की स्थापना के पश्चात् एक अनावश्यक और अनुयोगी संस्था बनकर धीरे-धीरे स्वयं ही मुरझा कर समाप्त हो जाएगी ।[१५८]

लेनिन के कथनानुसार 'राजसत्ता के रहते हुए वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति असम्भव है और वास्तविक स्वतंत्रता और जनवाद की उपलब्धि के साथ ही राजसत्ता का अथवा राजसत्ता के रूप में जनमंत्र का लोप हो जाना अवश्यम्भावी है ।'[१५९]

मार्क्सवाद समाज के शोषण को दूर करने की एक प्रक्रिया, आन्दोलन और परिवर्तन चक्र है, जो समाज में प्रतिष्ठित पूँजीवाद के दानव का अन्त कर समाज के हर व्यक्ति को समानता का अवसर देना चाहता है । उसका परम लक्ष्य या अन्तरिक इच्छा यह है कि समाज में हर व्यक्ति को विकास के समान अवसर प्राप्त हों ।

मार्क्सवाद ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता क्योंकि मार्क्सवादी कहते हैं कि जब ईश्वर का अस्तित्व विज्ञान और तर्क द्वारा सिद्ध नहीं होता तो फिर उसका आशय लेने की आवश्यकता क्या है ? यदि ईश्वर ईन्द्रिय गोचर एवं दृष्टिगोचर नहीं है और केवल अनुभव की वस्तु है तो यह कोरा अंधविश्वास है । मार्क्सवाद का विचार है कि ईश्वर प्रेतात्माएँ तथा भूतों के समान ही निराधार है ।

यदि-ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना मात्र से मनुष्य बडे-से-बडे और ऊँचे-से-ऊँचे आदर्शों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है और सफलता असफलता का श्रेय भी भगवान को देता है तो उससे व्यक्ति अपनी बुद्धि और शक्ति की तुच्छता को स्वीकार करता है । इससे व्यक्ति का आत्मविश्वास और महत्वाकांक्षा का विकास नहीं हो सकता ।

मार्क्सवादी दृढता के साथ कहते हैं कि व्यक्ति और समाज की उन्नति की कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती । उनका विचार है कि समाज सफलता और उन्नति के जिस केन्द्र स्थल पर पहुँच जाता है वहाँ प्रगति का और उन्नति का नया मार्ग आरम्भ होता है । मार्क्सवादी समाज में संकट और अशांति का कारण आर्थिक विषमता को मानते हैं । खेती की भूमि के सम्बन्ध में मार्क्सवाद का विचार है कि भूमि उन किसानों की होनी चाहिए जो उस पर श्रम करता है । मार्क्सवाद समाज में व्याप्त हिंसा को दूर करने के लिए क्रान्ति का अथवा वर्ग संघर्ष का आश्रय लेता है । उसका परम लक्ष्य है कि जो परिश्रम करता है, उसे पूरा-पूरा पारिश्रमिक मिलना चाहिए ।

'मार्क्सवाद का अन्तिम लक्ष्य है समाज के उत्पादन के साधनों को समाज के नियंत्रण में लाकर समाज से शोषण का उन्मूलन करना । वह उत्पादन के साधनों को समाज को सौंपकर समाज से पूँजीपतियों का अन्त कर शोषण का अन्त चाहता है । मार्क्सवाद चाहता है कि जहाँ हर मनुष्य श्रम करनेवाले मनुष्य को उसके श्रम का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो । किसी को धन एकत्रित करने का अधिकार नहीं । धन एकत्रित करना एक प्रकार की हिंसा है । समाज में यह पूँजीवादी वर्ग का अन्त चाहता है ।'[१६०]

अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने मार्क्सवादी विचारधारा को विभिन्न पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया है । उपन्यासों के निम्न उदाहरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'इदन्नमम' आँचलिक उपन्यास में उपन्यासकार 'मैत्रेयी पुष्पा' ने करमपुरा गाँव के मजदूरों में अत्याचारी अभिलाख सिंह के विरोध में जागी चेतना शक्ति को व्यक्त किया । अभिलाख मजदूरों का शोषण करता है । वह मजदूरों की स्त्रियों को बेचता है । उपन्यास का निम्न उदाहरण इस संदर्भ में प्रस्तुत है-

'अभिलाख तो सोच रहे थे कि राउतों को फूँक दें । बाँस रहे, न बाँसुरी बजे, लेकिन यह तो उलटा ही हो पडा । बाँस भी रहा और बाँसुरी भी बजी ।

जैसे ही राउतों को यह पता चला कि दो जनी गायब हो गयी हैं तो चोट खाये नाग की तरह फुफकार उठे ।

पहाड पर लोगों ने समझाया कि ग्वालियर-दतिया चली गयी होंगी या फिर मजूरी के लिए गुलार-दिगारा के पहाडों पर ।

राउत नहीं मानते । चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं कि अभिलाख ने बेची हैं । कीमत वसूल कर लाये हैं हमारी औरतों की । खोटा व्यापार करते हैं अभिलाख सिंह।

...और भोर भये ही वह हो पडा जैसा अभिलाख ने सपना न देखा होगा कभी । गाँव के लोग कल्पना न कर सकते होंगे जिसकी तथा राउतों को अभयदान देने वाली मंदाकिनी भी सुनकर स्तब्ध रह गयी उस घडी, जब पप्पू ने आँखें देखा हाल सुनाया ।

'शिकार के धनी राउत, भील, सहारिया एक होकर चढ बैठे । चढ बैठे अभिलाखख के कमरे पर । चढ बैठे लीला के ऊपर । गजब हो गया । गेंती, धुन, कुदाली, फरुआ ले-लेकर आ गये । कर दिया आक्रमण ।

अँधेर करने का फल अभिलाख को आज चखा देंगे अच्छी तरह । दिखा देंगे कि हारते-हारते हम कितने बलवान हो गये हैं । कि सुलगते-सुलगते कितनी आग जमा हो गयी है उनकी छाती में । कितने व्याकुल चीज-गिद्ध फडफडा रहे हैं उनकी बाँहों में ।'

लीला ने देखा तो दहल गयी । वह भागती हुई अभिलाख सिंह के पास पहुँची, किवाडों के भीतर जाने लगी । देर तक लम्बे असाँस लेती रही किवाडों पर पीठ टिकाये हुए । अभिलाख अपनी दुनाली बन्दुक खोज रहे थे, जो मिल नहीं रही थी कहीं भी ।

'देखूँ तो आखिर-माजरा क्या है ?' अभिलाख ने किवाडों की धिरी में आँखें सटाने के लिए लीला को हटाना चाहा ।

'लीला चिल्लाई, देख नहीं रहे, चारों ओर से टिड्डी दल की तरह राउत टूट रहे हैं । हमारे जानें आन गाँवों के पहाडों से भी बुला लिए हैं भील और सहारिया। ठठ्ठर बँधों ने पहले से ही सोच राखी होगी मरने-मारने की । तुम जानते नहीं हमारी जात को, जब तक गुस्साते नहीं तब तक सहते रहते हैं सब कुछ, भले खाल छोल डारो उनकी ओर जो विरोध आया तो परलय मचा देंगे । सो हम कहते हैं कि तुम...।'

'वाक्य पूरा नहीवं हो पाया, तूफान उमडकर किवाडों तक आ पहुँचा । छत

और दीवार पर चढ गये राउत । अभिलाख की आँखें फटी रह गयीं ।'

बाहर से चीखने-चिल्लाने की आवाजें 'लागो पथरा! चालों डीला ! मारो धन! चलाओ गेंती ! कतल कर दो हरामी का । फरुआ चलाओ रे...!'

खडाक! खडाक! खडाक! कमरे की किवाडें कच्ची लकडी की टम्परेयी । खिचिक खिचिक टूट गयीं । चौखट चरमराकर किरने वाली थी ।

'लीला चूडी और पायल बजाती झन्न-झन्न अभिलाख के पास जा पहुँची । छाती से लग गयी ।

लो किवाडें टूट गयीं । चौंक पडी लीला । डर के मारे धिग्धी बँध गयी उसकी।

गाँव में खबर फैल गयी है जिज्ञी ।'

पप्पू नरसिंह गढ से मोटर साइकिल पर लौट रहा था । भंडारे के लिए कहने गया था । दौडकर मन्दाकिनी के पास आया है । अन्त में बोला, 'जिज्ञी, चलो! चलो तुम... राउत और अभिलाख सिंह... बहुत जोर से ही रही है लडाई । तेरी कौल जिज्ञी !

मंदाकिनी बीच युद्ध में जा पहुँची । बीच-बचाव करती रही । मगर कौन किसी सुने ? लीला पीट डाली राउतों ने । अपनी जात से छल करती है ! अभिलाख बाहर आ गये । मजदूर देखते ही झपटे, कुदालियों और गोतियों से मार-मारकर अधमरा कर दिया अभिलाख को ।

लठैतों ने लखना और हरखू पर आक्रमण कर दिया । लाठी सिर पर दे मारी। भूमि पर लोटने लगे लखना और हरखू । कराह उठी उस जमीन से ओ

मतारी...! हाय हद्दा! ओ बाई....!'

वह सुन रही है बातें पिरभू ने अभिलाख को पीटा है । रामदास घायल हो गया है । रामरतन सही-सलामत बच गया ।'[१६१]

ग्रामीण उपन्यासकार मिथिलेश्वर के 'यह अन्त नहीं, उपन्यास में मजदूरों की समस्या का चित्रण किया गया । उपन्यास का पात्र जोखन कल्लन सेठ के भवन निर्माण करते समय भवन पर से गिरकर घायल होता है । मजदूर संघटन के नेता न्याय के लिए लडते हैं । उपन्यास का निम्न उदाहरण इस संदर्भ में दृष्टिगोचर होता है-

'जुलूस और बन्दी की सूचना देने आए लोगों के जाते ही कल्लन सेठ भी वहाँ बदहवास स्थिति में आ पहुँचे । वे लगभग घबडाए हुए से थे । उनका मुँह सुखा हुआ था । उनके साथ हेड मिस्त्री तथा उनके कुछ विश्वस्त कारिदे भी थे । उन्होंने पहुँचते ही डॉक्टर से जोखन का कुशल-समाचार पूछा- 'अब जोखन कैसा है...?' डॉक्टर ने उन्हें जोखन की स्थिति से अवगत करा दिया- 'अब चिंता की कोई बात नहीं...। पलास्तर के बाद ठीक हो जाएगा...।'

सेठ अब जोखन-पत्नी चुनिया की ओर भी मुखातिब हो गए- 'तुम जोखन की पत्नी हो न...? मेरी बेटी-पतोह जैसी ही हो...। तुम्हारे पति के गिरने में मेरा कोई दोष नहीं...। तुम हेड मिस्त्री से पूछ लो...। काम करनेवाले और मिस्त्री-मजदूरों से पता कर लो... हेड मिस्त्री तो खुद ही पछता रहे है कि उस वक्त क्यों चले गए...? पर इनके साथ भी वह कोई नई बात नहीं थी । यह तो अक्सर जोखन को अव्वल मिस्त्री जान उस पर काम सौंपकर जाते थे । यह क्या जानते थे कि जोखन

गिर जाएगा...? यह तो होनहारी थी । होनहारी को कोई टाल नहीं सकता...। पर इसके इलाज में जितना खर्च लगेगा मैं सब दूँगी । यह मेरे मकान से गिरा है । मैं इसे छोडूँगा नहीं...। जरूरत पडने पर पटना और दिल्ली तक ले जाऊँगा... तुम लोग किसी के बहकावे में न आना... यहाँ बिगाडने वाले ही अधिक होते हैं, बनाने वाले कम...।'

कल्लन सेठ, चुनिया और उसके साथ के लोगों को समझ ही रहे थे कि भोंपू की आवाज और जुलूस के आने की सूचना उन्हें मिल गई । इस स्थिति में कल्लन सेठ के साथ के लोग अस्पताल के दूसरे दरवाजे से उन्हें लेकर निकल गए । वे जानते थे ऐसे जुलूसों के रू-ब-रू पडना कभी मुनासिब नहीं होता । जुलूस के लोग संयमित, संतुलित और नियंत्रित तो होते नहीं । कौन जुलूस कब और कैसे हिंस्त्र हो उठेगा, इसे कौन जानता है...? यहाँ शहर में तो फिर भी प्रशासन की मौजूदगी के चलते यहाँ के जुलूस कुछ हद तक नियंत्रित होते हैं, मगर ग्रामीण क्षेत्र के जुलूस तो अपने को बिल्कुल उन्मुक्त अनुभव करते हैं, फलत: उसका अन्त बहुधा हिंसात्मक हो जाता है ।

सेठ जी के जाने तक जुलूस शर्मा जी के अस्पताल के पास आ धमका था। जुलूस के नारे चुनिया और वहाँ उपस्थित सभी लोगों को साफ-साफ सुनाई पड रहे थे- 'कल्लन सेठ...'

'मुर्दाबाद ।'

'कल्लन सेठ ।'

'हाय! हाय!'

'इन्कलाब!'

'जिन्दाबाद!'

'साथी जोखन मत घबडाना!'

'तेरे साथ है सारा जमाना!'

'जोखन तुम हो नहीं अकेले!'

'हम तुम्हारे साथ हैं....!'

अपनी रफ्तार में पहुँचा यह जुलूस कहीं अस्पताल में सीधे-सीधे न घुस जाए... अस्पताल की आवश्यक वस्तुओं और रख-रखाव को जुलूस के लोग कहीं तहस-नहस न कर दें, सम्भवत: यह सोचकर ही डाक्टर के साथ अस्पताल के उनके सभी कम्पाउण्डर, नर्स और सेवक मुख्य दरवाजे के पास ही उपस्थित हो गए । वे जानते थे जुलूस में शरीक असामाजिक तत्व जुलूस की आड में कुछ भी करने को स्वतंत्र होते हैं । जुलूस के लोग अनुशासित और एक जैसे तो होते नहीं, बाहरी और भरेठ लोगों के बगैर जुलूस व्यापक स्वरूप ग्रहण कर ही नहीं सकता । जुलूस का महत्व सम्बन्धित विषय की प्रखरता से अधिक उसकी संख्या-वृद्धि पर निर्भर करता है । फिर जुलूस की शक्ल में हुई क्षति का दावा भी तो कुछ खास व्यक्तियों पर नहीं किया जा सकता और जुलूस पर दावा करना तो शेर के जबडे से अपना भाग पाना होता है...।

इससे पहले कि जुलूस का सैलाब टिड्डियों की भाँति अस्पताल में घुसकर सर्वत्र छा जाए, डाक्टर और उनके कर्मचारियों ने अनुनय-विनय कर जुलुस को गेट पर ही रोक दिया । डाक्टर की इस बात पर जुलूस के नेता सहमत हो गए कि सिर्फ

चार-पाँच की संख्या में वे जोखन से मिल लें, तब तक यह जुलूस यहीं खडा रहेगा।

इसके बाद अपने वादे के अनुसार सिर्फ चार-पाँच नेता ही जोखन के कमरे में पहुँचे। उनकी उपस्थिति से चुनिया को ऐसा लगा, जैसे धने कुहासे के बीच अचानक तेज धूप निकल आई हो । जैसे संकट की इस विषम घडी में उनकी सहायता के लिए भगवान ने देवदूतों को भेज दिया हो । एक क्षण के लिए तो वह श्रद्धा भरी आँखों से निहारती रही । वे सब साफ-सुथरे कपडों में थे । उनके आने तक जोखन फिर सुई के प्रभाव में अचेत पड गया था । उन्होंने पहुँचते ही जोखन का मुआयना किया और सुई के असर से उसे सो गया जान उसकी पत्नी चुनिया से कहते हैं- 'तुम्हारे साथ बहुत बडा अन्याय हुआ है बहन, लेकिन तुम्हें घबराना और विचलित होना नहीं है । तुम्हारे पति के साथ हुई ज्यादती का बदला लिए बिना हम मानने वाले नहीं । सेठ एक नंबर का चालबाज और धूर्त है । तुम्हें खुश करने और अपने को तुम्हारा हितैषी साबित करने के लिए उसने इस महँगे प्राइवेट अस्पताल में तुम्हारे पति को भर्ती कराया है । वह जानता है ऐसे हादसों पर हम महटिआने वाले नहीं । हमें चुप करने के लिए उसने ऐसा किया है । वह कहता कुछ और करता कुछ है । उसके खाने और दिखाने के दाँत अलग-अलग हैं । उसकी बातों में आकर तुम समझौता न कर लेना । किसी की जान की कीमत इतनी ही नहीं होती कि उसे प्राइवेट अस्पताल में भर्ती करा दो । अब तेरा पति पहले जैसा कभी नहीं हो सकता । सेठ की उस बिल्डिंग ने जीवन-भर के लिए उसे अपंग बना दिया है । अब उसके शेष जीवन का इंतजाम कौन करेगा...? हम चाहेंगे सेठ उसके

पूरे जीवन के लिए मुआवजा दे । उसके जीवन-भर के जीविकोपार्जन की व्यवस्था करे, इसीलिए तुम्हें और तुम्हारे साथ के लोगों को सेठ की बातों में आकर कभी स्वीकार करना नही है । जहाँ तक ओर हजारों मजदूर गरीबी, बीमारी और बदहाली के बीच पिसते और मरते-खपते जा रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ इस सेठ की रोज नई-नई अट्टालिकाएँ खडी हैं । गरीब-मजदूरों के खून पर ही सेठ की सारी अट्टालिकाएँ खडी हो रही हैं । हमारी चुप्पी और संगठित न होने के चलते ही सेठ जैसे लोग गुलछरें उडाते रहे । लेकिन अब हम जाग गए हैं । सेठ का हुलिया बिगाड देंगे । सेठ का कचूमर निकालकर रहेंगे... इस शहर में सेठ का रहना मुश्किल कर देंगे... । जिन मजदूरों के खून से उसकी अट्टालिका बन रही है, उनके खून का पाई-पाई हम सेठ से वसूलेंगे...!'

जोखन के पास उपस्थित जुलूस के नेताओं में से उनके बीच का जो अगुआ और कुशल वक्ता था, वही बोलता जा रहा था । उसके अन्य चारों साथी तो उसकी बात को प्रभावी बनाने के लिए हुँकारी भरने और ललकारने का काम कर रहे थे । चलने के पूर्व उक्त वक्ता ने निर्णायक रूप से चुनिया और वहाँ उपस्थित बालचन आदि की सहमति जाननी चाही- 'हमें इस बात की गारंटी चाहिए कि बिना हमारी राय के अब सेठ से किसी भी हालत में तुम लोग सुलह नहीं करोगे...। यह मामला अब सिर्फ तुम्हारा नहीं, हम सबका है...!'

लेकिन चुनिया ने कोई जवाब नहीं दिया । उस वक्ता की बातों ने तो उसे एक दूसरी दुनिया में पहुँचा दिया था, जहाँ अपने और जोखन के लिए असीम सहयोग का अनन्त विस्तार वह देख रही थी । गले तक भरी इस नई और अपूर्व

अनुभूति के बीच वह समझ नहीं पा रही थी कि क्या कहे...? वह कहना तो बहुत कुछ चाह रही थी लेकिन इस बहुत कुछ कहने की उतावली में ही उसके मुँह से कोई बोल नहीं फूट रहे थे । उसका यह संकट ताड बालचन अब अपने को रोक नहीं सका । चुनिया, जोखन की पत्नी है तो वह भी उसका लँगोटिया यार है । उसने निश्चयात्मक शब्दों में नेताओं को आश्वस्त किया- 'हमने भी कच्ची गोटी नहीं खेली है भाइयों... सेठ हमें टस-से-मस नहीं कर पाएगा । हमारी ओर से आप लोग निश्चिंत रहिएगा..। वही होगा, जो आप लोग चाहेंगे...। अब हम किसी के झाँसे में आने वाले नहीं । आपके इस संग-साथ के बाद तो हम काल से भी भिड जाएँगे...!'

बालचन की बातों से आश्वस्त हो वे नेता चल पडे । जाते हुए उन्होंने चुनिया के हाथ पर कुछ रुपये रख दिए- 'ये हमारी पार्टी की ओर से हैं...। तुम्हारे पति के इलाज में काम आएँगे...!'[१६२]

ग्रामीण उपन्यासकार मिथिलेश्वर के 'युद्धस्थल' उपन्यास में पूँजीपति मुरारीसिंह के विरोध में चमारों में जागी चेतना शक्ति को दर्शाया गया है । उपन्यास का निम्न उदाहरण इस सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होता है-

'इस निर्णय के बाद चमरटोली के पढे-लिखे युवकों ने बाहर दौडना प्रारम्भ किया । बाहर में उन्हें यह पता चला कि जिस जमीन में वे वर्षो से रह रहे हैं, उस जमीन पर उन्हें पूरा अधिकार है । उस जमीन से कोई उन्हें बेदखल नहीं कर सकता है । फिर उन सवों ने आपस में चंदा उगाहकर मुरारीसिंह पर जोर-जबर्दस्ती के माध्यम से चमरटोली दखल करने का मुकदमा दायर कर दिया । सोचा, मुरारीसिंह

पर पहले ही दायर किया गया उनका मुकदमा उनके पक्ष में ही होगा । अब उनकी दाल गलने न पाएगी ।

इधर पंचायत के बाद मुरारीसिंह यह प्रतीक्षा करते रहे कि वे अब शीघ्र ही वह जमीन खाली कर देंगे । लेकिन समय गुजरता जाता था और चमरटोली से जमीन छोडने की कोई भी आवाज नहीं आ रही थी । इससे पहले कि मुरारीसिंह चमारों को जमीन खाली करने के लिए आग्रह करते, अदालत का नोटीस उन्हें मिला । यह जानकर मुरारीसिंह को भारी आश्चर्य हुआ कि चमारों ने उनके ऊपर मुकदमा दायर कर दिया है । एक क्षण के लिए उन्हें यह समझ में ही नही आया कि यह सब कैसे हुआ ? चमार तो शुरू से ही उनसे डरते थे । उनकी एक आवाज पर सिहर उठते थे । आखिर उनके पास इतना साहस कहाँ से आया कि वे संगठित होकर मुकदमा लडने की तैयारी कर बैठे ? कुछ देर तक तो मुरारीसिंह उन सवों के बारे में सोचते रहे ।'[१६३]

मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' उपन्यास में ठेकेदार के अत्याचारों के विरोध में ग्रामीण मजदूरों में जागी चेतना शक्ति को प्रस्तुत किया गया है । उपन्यास का निम्न उदाहरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है-

'सो जागो रे जागो! चेतो रे चेतो! छोटे-बडे, नन्हे-मुन्ने, बुढे-पुराने, नये जवानों के अलावा ढोर-चोंप, परेना-पंछी, नदी-ताल, पेड-रुख, हवा-पानी यहाँ तक की दसों दिशाओं को जागना होगा । बचने-बचाने को जूझना होगा । अमीर-गरीब शत्रु-मित्र सबको शामिल होना होगा इस यज्ञ में । समय पडे तो समिधा-सामग्री भी बनना होगा । बात होम की है । बात आन्दोलन की है ।'

मंदाकिनी से सोना छोड दिया । आँखों में नींद की जगह क्रैशर मालिकों से सामना करने की युक्तियाँ करकरातीं, मन में संकल्प सरिया की तरह खडा हो जाता और इरादे पत्थर की शिला से अडिग और अविचलित गडे रहते ।

'प्रधान काका आप, रामरतन कोरी, रामदास कक्का, मगन दरजी, पिरभू नाई, रामपरसाद कक्का और वे सब जिनके खेत गये हैं, और वे भी जिनके खेत नहीं गये, सब चलो पहाड की ओर ।'

'सब पहुँचो ठेकेदारों के पास । कतारें बाँध लो गाँव से पहाड तक ।'

'महाराज जी कहते हैं, संगठन में शक्ति होती है । मिलकर चलेंगे । फिर अपनी शर्तें धरेंगे ।'[१६४]

➢ सांस्कृतिक प्रवृतियाँ

संस्कृति शब्द की उत्पति संस्कार से हुई है । संस्कार से अभिप्राय संशोधन अथवा उतम बनाने वाले कार्य से है । 'संस्कृति शब्द का अर्थ है संस्करण, परिष्करण एवं परिमार्जन ।'[१६५] किसी देश की उन्नति-अवनति, उत्थान-पतन, आचार-विचार, ज्ञान-विज्ञान एवं जीवन परिपाटी जानने के लिए उस देश की संस्कृति एक मुख्य साधन है । संस्कृति का सीधा सम्बन्ध एक देश, जाति या किसी विशिष्ट समाज या जन समुदाय में प्रचलित धार्मिक आस्थाओं, प्रवृतियों, विचारधाराओं, रुचियों, व्यवहारों, स्वभाव, रीति-रिवाज एवं रहन-सहन से होता है। संस्कृति का मुख्य उदेश्य मनुष्य को सुसंस्कृत एवं सभ्य बनाना है ।

डॉ. रामचारी सिंह दिनकर के अनुसार- 'संस्कृति सुख नहीं, सदाचार है, संस्कृति ताकत नहीं विनम्रता है, संस्कृति संचय नहीी त्याग है, संस्कृति विजय

नहीं, मैत्री है । संस्कृति का परम रूप अहिंसा है । विरोधी के मन को भी क्लेश न देना । सुसंस्कृत व्यक्ति दुराग्रह नहीं करेगा, विरोधियों के पक्ष को भी आदर देगा ।'[१६६]

डॉ. देवराज के अनुसार- 'वस्तुत: संस्कृति उन गुणों का समुदाय है जिन्हें मनुष्य शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है । संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यत: मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, मनोवृत्तियों से है । संक्षेप में सांस्कृतिक विशेषताएँ मनुष्य की बुद्धि एवं स्वभाव की विशेषताएँ होती है, इन विशेषताओं का अनिवार्य सम्बन्ध जीवन मूल्यों से होता है।'[१६७]

एडवर्ड टाइलर के अनुसार- 'संस्कृति अपने मानव शास्त्रीय अर्थ में उस सन्निकट परिकल्पना को कहते हैं जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि-विधान, रीति-रिवाज और अन्य व्यवहार और सामर्थ्य सम्मिलित हैं, जिन्हें मनुष्य अपने समाज से ग्रहण करता है ।'[१६८]

'संस्कृति का प्रवाह नदी की धारा की भाँति विच्छिन्न और अविभाज्य होता है । पीछे से चली आती हुई जल-राशि किसी स्थान विशेष के जल की शक्ति भी होती है और जीवन तथा अस्तित्व भी । पीछे के जल से किसी स्थान विशेष के जल को अलग कर सकता असम्भव है और यदि सम्भव भी हो सके तो फिर नदी के नदीपन का बना रहना असम्भव होता है । जगह-जगह आकर मिल जाने वाली अनेक जल धाराएँ नदी की अपनी मूल धारा की उपयोगीता और महत्व कम नहीं कर पातीं । ठीक इसी प्रकार अतीत से चले आते हुए सांस्कृतिक तत्वों से पूर्णत: अलग करके किसी देश के किसी काल विशेष की संस्कृति का अध्ययन-मूल्यांकन

कर सकना सम्भव नहीं होता । देश के समाज के अंग-अंग में उस देश की प्राचीन परम्पराओं, मूल्यों और तत्वों के शाश्वत अंश बराबर रमे रहते हैं । जब समाज का जीवन प्रधानता: इन्हीं से अनुप्राणित एवं अनुप्रेरित रहा करता है । जिन विदेशी तत्वों से उस जीवित समाज का सम्पर्क होता है वे उसे प्रभावित अवश्य करते हैं परन्तु मूल तत्व को पूर्णत: हटा नहीं पाते ।'[१६९]

भारतीय ग्रामीण संस्कृति का प्रमुख अंग शिष्टाचार रहा है । युग परिवर्तन और पीढियों के अन्तर के कारण आज शिष्टाचार की भावना ढुँढने पर मिलती है । ग्रामीण पारिवारिक एवं सामाजिक सन्दर्भ में अनुशासन हीनता परिलक्षित होती है । जीवन पद्धति में आये परिवर्तन, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दिखाई देने वाले अनाचार एवं विकृत आदर्श ग्रामीण युवा वर्ग में एक ओर विद्रोह को जन्म देते हैं तो दूसरी और अनुशासनहीनता के कारण बनते हैं । वर्तमान ग्रामीण युवा वर्ग में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव लक्षित होता है । नगरों में पढने वाले ग्रामीण युवक पाश्चात्य संस्कृति को गाँवों में ले जाते हैं । फैशन तथा पाश्चात्य सदाचार के केन्द्र आज कॉलेज और विश्वविद्यालय बन गये हैं । भारतीय होते हुए भी आज के ग्रामीण युवा वर्ग पाश्चात्य रंग में रंगने का प्रयास करते हैं । उनकी वेश-भूषा और खान-पान पर पाश्चात्य प्रभाव लक्षित होता है । पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण के प्रयास में वे न तो भारतीयता को पूरी तरह छोड सके और न पाश्चात्य संस्कृति को पूर्ण रूपेण अपना सके !

परिवर्तित परिस्थितियों ने ग्रामीण जीवन-मूल्यों को प्रभावित किया । अपनी संस्कृति से धृणा और पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण करने वाला युवा वर्ग

मूल्यहीनता की ओर बढने लगा । आज के ग्रामीण छात्रों में अपनी संस्कृति की महान परम्पराओं का ज्ञान नहीं है । उनमें सभी धर्मों की समान विशेषताओं का आभास नहीं है और न ही उन्हें राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित चुनौतियों का ठीक-ठीक एहसास है । किसी चीज को पुरानी समझकर बहिष्कार करना तथा नवीन चीज के आगे सर नवाना स्वतंत्र रूप से सोचने की कमी को द्योतित करता है ।

आज ग्रामीण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विदेशी अनुकरण की बढती हुई प्रवृति के कारण आजादी के वर्षो बाद भी विदेशी शिक्षा का व्यामोह बढने लगा । विदेशी चाल-ढाल, विदेशी सम्बोधन, विदेशी भाषा, विदेशी संगीत, विदेशी नृत्य और विदेशी अनुकरण आदि वर्तमान ग्रामीण संस्कृति को महान क्षति पहुँचाने लगे । अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार डॉ. विवेकीराय ने अपने उपन्यास 'नमामि ग्रामम्' में उपर्युक्त अनेक विषयों का सजीव चित्रण किया है ।

आर्थिक अभावों और सामाजिक विषमताओं के कारण वर्तमान ग्रामीण समाज में पर्व-त्यौहारों का उत्साह कम होने लगा । ग्रामीण धार्मिक कृत्यों में आडम्बर व दिखाये की भावना परिलक्षित होती है । आज ग्रामीण समाज में त्यौहार-उत्सव मनाने के परम्परागत नियमों के प्रति अनासशक्ति दिखााई देती है । आधुनिक ग्रामीण युवक-युवतियाँ पर्व मनाये जाने वाले नियमों की उपेक्षा कर केवल उसके मनोरंजन प्रधान पक्ष को देखते हैं । 'चाक', 'नमामिग्रामम्', 'यह अन्त नहीं और 'बीस बरस' आदि समकालीन ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने उपर्युक्त अनेक विषयों का चित्रण किया है । यद्यपि नवीनता नवीनता का प्राचीनता से निरन्तर टकराहट के बावजूद भारतीय संस्कृति के मूल तत्व भारतीय ग्रामीण जीवन में आज भी विद्यमान

हैं । ग्रामीण लोकगीतों, लोक विश्वासां और लोककथाओं आदि में हमारी परम्पराएँ निहित हैं ।

अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने आज के ग्रामीण समाज में परिलिक्षित सांस्कृतिक मूल्यों को दर्शाया है । समसामायिक ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में प्रस्तुत सांस्कृतिक प्रवृतियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया गया है-

➢ **पर्व-त्यौहार**

भारत में पर्व-त्यौहारों को अधिक महत्व दिया जाता है । यहाँ अनेक सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय पर्व मनाये जाते हैं । देश के प्रत्येक प्रान्त में अपने विशेष पर्व भी होते हैं । पर्व-त्यौहार के दिन लोग नए वस्त्र पहनते हैं । घरों में रुचिपूर्ण अल्पाहार और मिष्टान्न बनाए जाते हैं । घरो में आनन्द छा जाता है । पर्व-त्यौहार मनाने से आपसी मन-मुटाव मिट जाते हैं । पर्व-त्यौहार के दिन विभिन्न धर्म के लोग एक-दूसरे से हृदय से गले मिलते हैं । विभिन्न लोगों में एकता का भाव छा जाता है ।

अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने गाँवों में मनाये जाने वाले पर्व-त्यौहारों का सुन्दर चित्रण किया है । 'औरत', 'चाक' और 'इदन्नमम' आदि अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में गाँवों में मनाये जाने वाले प्रमुख पर्व-त्यौहार होली, दीवाली और रक्षाबंधन आदि का विस्तृत चित्रण किया गया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्म में दृष्टव्य हैं-

'सहसा पचीस-तीस लोग, जिनमें पाँच वर्ष के बच्चे से लेकर पैंसठ वर्ष के

बूढे तक शामिल थे, गुलाल में नहाये, रंग-बिरंगी अर्वार से चेहरे पर इन्द्रधनुष लटकाये मस्ती के साथ-होली है, होली है- चिल्लाते आ गये । सबसे आगे एक आदमी था जो साठ वर्ष से कुछ कम का ही रहा होगा उमर में- चिल्लाया- 'होली है स्सालो, सुभग सिंह के 'लिंग' से जनम लिहे हो ससुर, हियों होली का कोई परबंध नाही किये । एकदम सन्नाटा में काहे ऊँचते हौ । वे शिबुआ, कहाँ है नरेना, अवे साले सोभुवा हरामियो..।'

शिबू दौडा- 'जय हो सकलू चच्चा, जय हो, तुम्हारी जवानी कतल किए जा रही है मालिक का रंगी पुवा, जइसे गाल हैं तोहार... आज हम दांते से तोहार गाल काट लेइव, सुनो ?'

'अबे...' सकलू चच्चा पीछे की ओर भागे- 'मादर... हरमेशा होलीपर गाले काटत है। तीन दिन छरछरात रहत है ई साले गाल । एहबार मादर... अउरो बैराय के आय रहा है ।'

'अरे भगे कहाँ रे सकलू तोर तो लाले लाले गाल हैं ।

मत ललचाओ रानी तुम्हारे चुम्मा बिना बेहाल हैं, हम तो बेहाल हैं...'

बेहाल हैं, बेहाल हैं ढप्प... वहा जुगी जी होरी है, होरी है, होरी है... सहसा ढोलक गम उठी ।' सदा आनन्द रहे एहि द्वारे मोहन खेलें होरी हो...' तभी दो आदमियों ने सामने रखी दरी बिछा दी । पार्टी साज के साथ बैठ गई । नरेन जी चारों ओर इन्तजाम देख रहे थे । एक बडे कंडाल में एक किलो पिसे हुए बादाम डाल दिया । चोरी से आधा किलो भांग भी धोल दी गई । पूरा दस किलो दूध डाल के हरखू सरदार लडकी से चलाय रहे थे ।

'बरफ के पूरी सील डाल दो हरखू चय्या । अवे हरामी, आओ देखता हूँ कौन है माई कालाल जो पाँच गिलास ठंडाई पी सके ।' नरेन जी बोले ।

सभी दौडे । स्टील के लम्बे-लम्बे ग्लास थे । तीन तक पीते ही लोगों के ऊपर नशा चढने लगा । दो-तीन तो बेहोश हो गए ।

'ई क्या है नरेन? भाँग में कुछ और पडा है क्या?' शिबू बोला ।

'मुझे तो नहीं मालूम बडे भाई । अभी पूछता हूँ हरखू चाचा से । वे ही पीस रहे थे । उन्होंने ही कहा कि इतनी बढिया भंग पीसी है मैंने कि कोई भी माई का लाल पाँच गिलास से अधिक नहीं पी सकता ।'

'बुलाओ तुरन्त ।'

चाचा हाथ जोडकर खडे हो गए । 'शिबू बेटा ई थोडी तेज ही । केहू के जान के खतरा तो नाही है । बेटा । मदारै का कुल दस फुलौ मिलाय दिया, वो से केहू मर नाही जाई । समझे ?'

'आप ई इतना मूरख ही हरखू चाचा । हूँह् पीसे तो कह देते । बढा गडबड कर दिया आपने । अरे भाइयो, आज ई ठंडाई मत पिओ, हम दूसरी बनवाय रहे हैं । 'शिबू ने हाथ जोडकर कहा ।

'एमे है का रे सिबुआ साले !' सकलू चाचा बोले- 'एक कीलो सखा बादाम था । दस किलो दूधो रहा होयेगा । इतनी बढिया ठंढाई काहै फेंकवा रहा है ?'

'मदार के दस फूलों का गच्छा भी पीस दिया है हरखू चाचा ने ।'

'अरे तो लडकन बदे दूसर बनवा दे, हमहन त एकै छक के पीवेंगे हाँ ।'

भंगेडियों ने सचमुच छककर पीया । उनमें से अधिकांश की आँखे लाल सर्ख

हो गई । चेहरे पर पहले से भी ज्यादा रंगीनी उभर कर छा गई । वे फिर लहालोट होकर होली गान में पग गये । मुझे इन गानों की किस्म तो न कभी मालूम थी और न तो हो सकती थी । बार-बार बीच में गाना खत्म होते ही युवक चिल्लाते अब बहुत हो गई होरी। अब चहका गाओ । 'चहका' शब्द का अर्थ मैं नहीं जानता । शिबू पास होता तो पूछता जरूर की होली और चहका का फर्क क्या है ? मुझे तो सिर्फ इतना लगा कि होलीगीत में स्वर मध्यम था, धीरे-धीरे उठती थी लय । पर चहका तो सचमुच चहका ही था । तूफान मेल से होड लेती ढोलकों की धा--तिना, धा-तिना झाँझों की झनकार, झालों की खनक एक अजीब किस्म के नशे में डुबो रही थी । बीच-बीच में सब चिल्लाते थे, जियो राजा, होरी है, होरी है ।'[१७०]

'दीवाली के दिन घर-आँगन लीपा । चौका-चूला सहेजा । पूरी पकवान का दिन है दीवाली । सारंग सबेरे से लगी है । रंजीत खल-बताशे घर रहे हैं थालियों में ।

'अरे भले आदमी, सबेरे तो पूरियों का चुरमा बँटेगा । तू खील-बतासे घर रहा है', बाबा आँगन में खडे-खडे कह रहे हैं । नया कुर्ता-धोती और सदरी पहने खडे हैं बाबा ।

'बाबा! बाबा! बाबा!' चंदन बाबा का कुर्ता खींच रहा है ।

'बता, क्या कहता है ?' बाबा चंदन के सिर पर हाथ फेरकर पूछा ।

'बाबा मैं अनार लाऊँगा । राकेस लाया है । पाँच रुपया दे दो । दे दो बाा ! मैं अनार लाऊँगा', चन्दन ने बाबा की जेब में हाथ डाल दिया ।

'अनार? वह धमाके वाला! अरे नहीं! बडी खतरनाक चीज है । लाने दे

राकेस को । वह तो औटपाई (शैतान) है । तू बदमासी मत करे ।'

'धमाका नहीं बाबा, फुलझडी की सुरीं । सुरीं छुटेगी । तुम देखना । कुंती बीबी के ब्याह में नहीं छूटी थी सुरीं ? बाबा, पाँच रुपया दे दो । ॐ हुँ हुँ ॐ... चंदन हुनहुनाने लगा ।'

'ले, और सावधानी से चलाइयो, हाँ' बाबा ने पाँच रुपए दिए हैं चंदन को। रंजीत मुस्काते हैं, 'माँ की तरह चालाक-चतुर है । बाबा को भरमा ही लिया ।'[१७१]

'दीपावली आ गयी । चारों ओर जगमग है । लिपे-पुते घरों में प्रसन्न और उतावले बच्चे । पॉपलीन की कमीज, पाजामा में सजे-बजे । छोटी-छोटी गुडिया-सी बिटिया रंग-बिरंगे फ्रॉक पहने हुए । छिगुली उँगली-सी पतली चोटी में रंग-बिरंगा रिबन । रंगीन पिन वालों में सितारों की तरह चमक रहे हैं । फ्रॉक की झोली में खोलें, बताशे ।

लोग प्रमुदित और आनंदित ।

घरों में, गलियों में, धरती पर, आकाश में, सोनपुरा की दसों दिशाओं में दीपावली जगमगा उठी है, दिन के उजियारे में ही ।

ओर ढम ढमा ढम बजा ।

टिन टिना टिन! मंजीरे बोले ।

टुऊँ टुऊँ टुऊँ । रमतूला बोला ।

तुरही और मृदंग की मिली-जुली लय! सुर! ताल! झूम रहे हैं लोग । गा रहे हैं गवइया और नाच रहे हैं नचइया !

'दिबरिया आ गए ।'

'सच्ची जिज्ञी, दिबरिया आ गये ।' मन्दाकिनी को खबर देने छोटे-छोटे बच्चे प्रतियोगी की तरह भागे । कोई गिरा, कोई फिसला, किसी के नये कपडे सन गये धूल माटी में । किसी की कोहनी में खुर्सट लग गयी । होंठ बिचकाकर उठ बैठा धरती पर गिरकर, और भागते-भागते सब पहुँचे मन्दोकिनी के पास ।

'सच्ची ?' वह खिल उठी ।

सबसे छोटा नन्हा, जिसके कपडे धूल में सन गये थे, गोद में उठा लिया उसने । नन्हा दुधिया दाँत चमकाकर बोला, 'जिज्ञी दिवलिया!'

घूँघट से झाँकती बहुएँ, कंदेला घालें बिटियाँ बूढ, जवान सब धिर आये दिबरियों के इर्द-गिर्द ।

गहरा साँवला रंग दिबरियों का । संख्या में लगभग सोलह । विन्ध्याचल में बसी जनजातियों के लोग सुदुर गाँवों से आये नाचने के लिए । सिर पर लाल-हरी पन्नी का मुकुट, सबसे ऊपर मोरपंख, गले में हरे-नीले मनकों की कई मालाएँ, कमर में कौडियों की कारधनी ।

सफेद धोती के फेंटे में आम के पते खोंस रखे हैं । बैलों की सुरीली घंटियों का पट्टा करधनी के नीचे बँधा है । पाँवों में घुँघरू । साँवले चिकने, नंगे दमदार बदन। नाच रहे हैं । थिरक रहे हैं ।

हो...हो...हो...हो...!

'कान पर हाथ धरकर क्यों गा रहे हैं जिज्ञी ?' राजुल पुछने लगा ।

'गले और कान का सम्बन्ध होता है आपस में ।' मंदाकिनी ने बताया ।

दिबरी माय । लछमी... माय!

हो मोरे गनपत कहारा... ज...

प्रधान जी और भइया जी खडे देख रहे हैं । दिबरियों ने उन्हें प्रणाम किया। सिर टेक चरणों में ।

नाम जमने लगा । मोरपंख हिल रहे हैं । लोग डूबे हैं रंग में । एक दिबरिया भागता हुआ आया और जा मिला थिरकते समूह में ।

अरे औरत ! जनी ! सब अचम्भे से देखने लगे । दिबरियों में जनी नहीं नाचती मगर नाच रही है । अरे, यह जनी नहीं, आदमी ही है ।

बऊ थाली में खील-बताशा-गुड धरकर ले आयीं ।

'बऊ, अब ही से कर दोगी विदाय!' आस-पास से शोर उठा ।

'नचने दो । नचने दो ।' आवाजें आयीं ।

'अरे, गोडे पिरा जायेंगे इतने । सबके द्वार नाचना है इन्हें । जिसके दरवाजे नहीं नाचेंगे वही नाराज चलने दो आगे । चलो ठाकुरद्वारे में शीश टेक लो ।' बऊ ने ठाकुरद्वारे के पास खडे होकर उनकी झोली में दक्षिणा डाल दी ।

'जै हो मोरी दिवारी मइया । ऐसे ही आओ, भूरी-पूरी डोलो सोनेपुरा के गली-कुँचन में । गोंती-डिकौली में, झवरा-झखनवारा में, नरसिंहगढ, गोपालपुरा में डुडीखमा में ।' बऊ ने गाँवों के लिए ऋद्धि-सिद्धि माँगी । सुख-शांति माँगी । धन-वैभव माँगा ।'[१७२]

'रक्षाबंधन है आज !'

राखी और भुँजरियाँ का त्यौहार !

अनवरी बुआ सुबह-सवेरे की शकील को लेकर आ गयीं ।

'शकील!' उसने आवाज देकर आँख से इशारा भी किया कि हमारे पास आओ।

'आदाब जिज्ञी !' हँसी में उसके नन्हें दाँत खिल पडे । शकील उसके निकट आ गया ।

'लिफाफे में क्या है ?' मन्दाकिनी ने उसकी टोपी पर हाथ रखकर पूछा ।

'शकील माँ की ओर देखने लगा ।

मन्दाकिनी उसके गाल पर हल्की-सी चपत जडते हुए बोली, 'दिखाओ ।'

'राखी ।' शकील ने चपल पलकें झपकाकर लिफाफा दिखाया ।

'लाओ इधर, हम तम्हें राखी बाँधें ।'

राखी बँधवाते समय शकील नीचे का होंठ दाँतों से दबाता हुआ मुस्कराता रहा । कौतुक भरी निगाह से देखता रहा, चमकीली राखी की छिटकी हुई किरनों को । धिलमिलाती अपनी नन्हीं कलाई को ।

माँ ने समझाया, 'मोहल्ले में जाये तो कहना कि पाकीस्तान वाली जिज्ञी ने बाँधी है ।'[१७३]

२. व्रत

ग्रामीण लोग देवी-देवताओं पर अधिक विश्वास रखते हैं । अपनी मनोकामनाएँ पूरे होने के लिए व्रत रखते हैं । व्रत रखना देवी-देवताओं पर उनके विश्वास और अपार श्रद्धा का प्रतीक है । अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण उपन्यासों में उपन्यासकारों ने इस विषय का यथार्थ चित्रण किया है । 'झुलानट' और 'चाक' आदि उपन्यासों में गाँव के लोग देवी-देवताओं पर विश्वास रखकर व्रत रखते हैं । उपन्यासों में इन

विषयों का सजीव चित्रण किया गया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है-

'देवी का श्राप । घर में कलह लीला ।

बालकिशन गृह-शाति के लिए निर्जल व्रत करेगा । शीलो की मति बदलेगी । अम्मा का मिजाज पलटेगा । झाँकी निकलवाऊँगा ऐसी चमकदार कि धरती-आसमान झलमला जाएँ । तेरी मेहर कि आठ नौ हजार चंदा जमा है । चढोतरी अलग होगी। गाँव के लोग इंतजार में हैं माता, धूम-धाम से होगा भंडारा । गोरस और भात, तीन गाँव की कन्याएँ जेवेंगी तेरी पूजा में फूल-अक्षत...।

... पर यह बीमारी । रक्षा की भिक्षा दो महामाई । निरोग काया से सेवा कर सके यह दास । मैं तुम्हारा बालक... तुझे रोम-रोम से चाहने वाला अरदासी ।

चार हजार में देवी की मूरत तय करके आया था बालकिशन । दो हजार का बैंड, एक हजार के धूम बैसांदुर, अबीर गुलाल । एक ही हजार के फल-फूल परसाद। भगतों की कमी नहीं है अपने गाँव में, या तेरा सत्त, रघु के पिताजी का फौलादी कलेजा, पिघल आया, बोले 'बालकिशन चार-छः दिन न सही खेत का काम, ट्रैक्टर देवी मइया को अरपण, समान लादो, लाओ, चाहे भगतों की जमात बैठाकर घुमाओ । डीजल जलाकर पुन्य लुटेंगे । धरम खाते में ही बढोतरी सही । परलोक सुधरेगा ।'

.... आज तू रूठ गई मइया ! हाथ हटा लिया सिर से ? कि मुँह फेर लिया?

मैं साँग छिदवाऊँगा । शीलो दस शीश बीस भुजा की हो जाए, तब भी न

मानूँगा, कहती है कि सिरीं हो गए हो ! गाल में बल्लम का फल छेदकर लहूलुहान होना चाहते हो ? कितनी नादान औरत है । क्या जाने माता का परताप ? महानाई अपने भगत का सत भी चीन्हती-जानती है, नहीं तो लोहे का चमकता अनीदार फल गाल के भीतर की नरम खाल-माँस को पार करता हुआ बाहर निकल आए और एक बूँद खून न गिरे । तेरी महिमा माता ! चमत्कार!'[१७४]

'इसके बाद व्रत-उपन्यासों का सिलसिला । सोलह सोमवार । संतोषी माता के शुक्रवार । केला-पूजन के बृहस्पतिवार । शनिग्रह शांति के शनिवार । भाभी सूख-सूखकर काँटा होती चली जा रही है । उनका रंग रौनक हो गया । चेहरा लम्बोतरा । सुंदर दाँत बाहर निकल आए और एक बुँद खुन न गिरे । तेरी महिमा माता! चमत्कार !'[१७४]

'इसके बाद व्रत-उपवासों का सिलसिला । सोलह सोमवार । संतोषी माता के शुक्रवार केला-पूजन के बृहस्पतिवार । शनिग्रह शांति के शनिवार । भाभी सूख-सूखकर काँटा होती चली जा रही है । उनका रंग रौनक हो गया । चेहरा लम्बोतरा । सुंदर दाँत बाहर निकल आए । बालकिशन डर गया । उसने मंगलवार का व्रत अपने जिम्मे ले लिया ।

शीलो भाभी की लगन । सारे व्रतों को पार करती हुई सती-कथाओं में प्रवेश कर गई । कथाएँ बालकिशन सुनाता-अनुसुइया, गोपामुद्रा, मदालसा, सावित्री, दमयंती... अम्मा विमली जिज्ञी से 'नारी अंक' गीता प्रेस, गोरखपुर: जो माँग लाई थी । विमली जिज्ञी सती-कथाएँ अर्था-अर्थाकर सुनाती हैं । सुनाते समय उनके साँवले चेहरे पर सती का तेज छा जाता है ।

विमली जिज्ञी ने ही कथा-कीर्तन कराए । शंख झालर वाली मंडली बुलवाई। अम्मा ने दिल खोल दिया- घी, शक्कर, आटा, प्रसाद-पंचामृत, हवन की सामग्री, पंडित-पुजारियों को जिंवाना-खिलाना, दान-दक्षिणा, पाँचों वस्त्र ।'[१७५]

'औरतें करवाचौथ का व्रत कर रही हैं ।

एक जमाना था, जब जाटों में करवाचौथ नहीं मनाई जाती थी, लेकिन जब से लडकियाँ-बहुएँ अलीगढ-हाथरस से जागर सिनेमा-ठेठर देखने लगी हैं, तब से 'मैं तो छोड चली बाबुल का देस, पिया का घर प्यारा लगे' के अंदाज में सजकर नाचती-गाती हैं- सातों कौम की स्त्रियाँ ।

रंग-बिरंगे कपडों में सजी ब्याहुली-गौनायतों, अधेड-बुढी स्त्रियों के दल खेरापतिन दादी के चौक में आ जुटे । कजरौठ का मानिकचंदी सुनार दादी के चबुतरा पर बैठता है अपनी बकुचिया सजाकर-मीनादार बिछिया, चाँदी का गुच्छा, चिडी-पान की तोडियाँ।

हरिष्यारी नाइन ने गुलकंदी की काढी हुई रंगीन बोरी बिछा दी । जिस पर अल्ता, बिंदी, काजल, चुटीला, किलफें, पीडर-क्रीम सजे हैं ।

शेरअली की दादी मंगो जमाने से चूडियां पहनाती आई हैं, सो आज भी बैठी है- कामदानी, प्लेन, रेशमी और धूप-छाँह की चूडियों की मालाएँ सजाए ।

कुम्हारिनें सबेरे से झालों (बडी डलियों) में करवे धरकर डोल रही हैं घर-घर । जितनी सुहागिनें उतने ही करवे । उतने ही ढक्कन । उतने ही दिवले ।

सारंग ने मुँह अँधियारे ही चौका-आँगन लीप लिया था । गुलकंदी को बुलाकर भीगे चावलों काऐंपन पिसवाया । गेरू से दीवार पोती । करवाचौथ काढने में सारंग

के जोड की कोई औरत नहीं । पहले जमाने में बडी बहू रही, उसी की तरह चीतने वाली । पर अब तो बडी बहू की गर्दन हिलती है । हाथ काँपते हैं ।

सारंग ने करवाचौथ काढी है, ज्यों कागज पर छबी तस्वीर हो- पूरे चन्द्रमा का गोला, जिसके हाथ, पाँव, पेट, कमर, आँखनाक, कान सब कुछ, आस-पास सात भाभी-चुनरी ओढे हुए । छः भाई कुर्ता-धोती पहने हुए, एक भाई नसैनी पर चढा चलनी में ढककर दीपक दिखाता हुआ । बीजा बहन अर्ध्य देती हुई... बाकी कडी-बिछिया के संग सुहाग-पिटारी ।

आज ब्याहवली साडी पहनी है सारंग ने । गुलाबी रेशमी साडी की हरी फूलदार किनारी, माथे पर लाल बिन्दी । आँखों में कागज । पाँवों में पायजेब, गले में हँसली और कानों में झुमकी झिलमिला रही हैं । सोने का और सारंग का एक रंग । गली में घूँघट डालकर निकलती है तो लोग कनखियों से देखते हैं ।

मलुकाई में सारंग के मुकाबले की कोई धिक-बेटी न बहू-वधू ।'[१७६]

'अरी बातचीत बन्द करो । सास-नन्द की निन्दा बस बस ! कहानी सुनो, 'हरिप्यारी नाइन ने हाथ उठाकर खडे-खडे ऐलान किया ।

चुडी, बिन्दी, अल्ता, नाखूनी की खरीद थोडी देर के लिए रुकी ।

दादी पीढा पर बैठी हैं । सिर की धोती तनिक माथे की ओर सरकाई । गोरे लकीरों भरे होठों में हरकत हुई।

सात भइया और सात भाभी !

तिनके एक बीजा बहन । बीजा बहन के ब्याह की पहली करवा चौथ । सात भइयों की प्यारी, दुलारी, आँख की तारई बीजा बरती रही ।' आज तो तुम्हारी

बहन बरती रहेगी । तुम सातों भोजन-पानी कर लो, भाभियों ने अपने-अपने पतियों से कहा ।

खालें, बिना बीजा के? नहीं, हम नहीं करने देंगे बरत । हमारी फूल सी बहन कुम्हला जाएगी । हमसे न देखा जाएगा ।

भाभियाँ बोलीं- अरे! हम कितने सालों से भूखी-प्यासी रहकर बरत करती आ रही हैं, तुम सातों ने एक बार भी यह बात नहीं सोची । आज अपनी बहन का बढा दर्द लगा ।

हाँ लगा । हम अन्न-पानी ग्रहण नहीं करेंगे । भइयों ने ऐलान कर दिया । सो भइया भी निर्जल बरती । करवाचौथ का चंदा देर से निकलता है । बखत भारी पडने लगा । हलक सूख गए । देह ढहनाने लगी । अब क्या हो? हमारी बहन तो प्रान तज देगी भूखी-प्यासी । छोटे भइया को एक जुगत सुझी । दीया और चलनी लेकर नसैनी पर चढ गया । दिया के ऊपर चलनी ढककर पेड बराबर ऊँचाई से बोला, 'चंदा निकल आया । अरध दे दो । बीजा से कहो अरध दे दो । बीजा ने भामियों से कहा- चलो अरध दे आएँ ।

भाभियाँ बोलीं, हम तो नहीं देते अरध । इतनी जल्दी चंदा कहीं निकलता है?

बीजा ने सोचा-मेरा भइया झूठ क्यों कहेगा भला ? वह उठी, करवा भरा और अरध दे आई ।

भौजाइयाँ हँसीं । प्यार में आँधरे हो गए भइया ।

सातों भइया खाने बैठ गए । बीजा भी संग बिठा ली । उसके सामने थाली

परसकर आई, बीजा ने हाथ जोड लिए- करवाचौथ मइया, मेरी भूल-चूक माफ....

पहला गिरास तौडा बीजा ने... सो बाल निकला कौर में ।

दुजे में निकली मक्खी ।

और तीजा गिरास तोडते ही... खेरापतिन दादी एक क्षण को रुकती है, लम्बा साँस छोडती है, फिर कहती है- तीजा गिरास तोडते ही बीजा के सासरे का भंगी आन पहौंचा दरबज़ा पर कुँवरजी नहीं रहे!

बरत खंडित! बीजा पति-मारनी ! बीजा हत्यारी! बीजा पापिन ।

भौजाइयों ने ननद का मुँह न देखा ।

बीजा जैसी बैठी थी, वैसी ही चल दी सासरे । जो भाग में बदा था, सो हुआ । बरत खंडन भी किसी देव-दानों ने कराया होगा । आदमी की क्या सामा?

पर देखो सत की माया! खेरापतिन दादी नाक से तीन बार सूँ सूँ सूँ की ध्वनि कालती हैं- बीजा अपने पति की लहास लेकर कोठे में बेंठी रही साल भर। लहास में हरे-भरे काँटे फूट आये, बीजा बीनती रही । करवाचौथ का इन्तजार करती रही ।

आई अगली करवाचौथ । भाभियों ने अठवरी मनसी । करवे पलटे-अधवर खानी करवा लै । सदा सुहागिन करवा लै । भूखी-प्यासी बीजा! मुरझाई-ढहनाई बीजा! रोती हुई बोली ! रोती हुई बोली, करवा तब लूँगी, जब मेरा सुहाग लौटा दोगी ।

बडी भाभी कहती है, हम कहाँ से लौटा दें? छोटी से माँग । उसके आदमी ने ही तेरा बरत तोडा था । बीजा ने छोटी की चुँदरी पकड ली । छोटी ने अपने

करवे में से ननकोई पर छीटे मारे । कुँवरजी हरे-हरे करके उठ खडे हुए ।

अन्त में खेरापतिन दादी हाथ जोडती है, आँखें बन्द करती है- हे मेरी करवाचौथ मइया, तू साल की साल आ । जैसी बीा बहन की घडी फेरी, सबकी हजारी उमर कर।

औरतों ने पल्ले डालकर खेरापतिन के चरण छुए । हाथों में कलाए बँधवाए । करवे की महत्ता समझाती हैं दादी-बंस बढोतरी की निसानी है करवा । साल भर तक सँभालकर रखना ।

सारंग ने करवे में पानी भरा, चन्द्रमा निकलने से पहले । दिया उजियार कर करवे के ढक्कन पर रख लिया । साडी का पल्ला सिर पर साधे हाथ जोडकर बैठ गई। दीपक की लौ को प्रणाम कर रंजीत का ध्यान करने लगी । लाँखों में मंगल कामनाएँ- हे करवा चौथ मइया, रंजीत... यह मिट्टी का करवा वंश की निशानी ।

यह! दीपक से उठती सुनहरी लौ!

लौ में जगमगाते- श्रीधर! श्रीधर! श्रीधर!

सारंग हडबडा गई । मेरा व्रत खंडित होता है क्या? खेरापतिन दादी, यह गैर मर्द मेरे उपवास की लौ में । पाप हुआ जाता है । बीजा बहन ने दीप जलाया था न दादी? दीप की रोशनी में काँटेबीने थे पति की देह में से ?

यह दीपक छल है, या रोशनी ? मैं कपट कर रही हूँ या ईमानदारी बरत रही हूँ ? कोई बताओ मुझे, मैं क्या कर रही हूँ यह ?

लौ एक तेज से बराबर जल रही है । सारंग ने दिया उठा लिया करवे के ऊपर से । मेरा भ्रम है यह । यहाँ रंजीत न श्रीधर ।

...नहीं, रंजीत भी है यहाँ, और श्रीधर भी । करवे में कौन स्थापित है ? दीये की लौ में कौन जगमगाता है ? सारंग बार-बार आँखे मूँदती है, बार-बार खोलती है।

तुम से डर लग रहा है ? श्रीधर तुम मेरा व्रत खंडित करने चले आए । तुम यह भी जानते हो कि इस लौ को फूँक मारकर मैं बुझे नहीं पाऊँगी....।'[१७७]

३. रीति-रिवाज

ग्रामीण समाज में बच्चे का जन्म, शादी-विवाह और मृत्यु सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के रीति-रिवाज देखने को मिलते हैं । वे रीति-रिवाज परम्परागत रूप से चला आते हैं। अर्थात् रीति-रिवाज आदि के द्वारा ग्रामीण अपनी परम्परा को जीवित रखता है । किसी भी कार्य रीति के अनुसार नहीं होता है तो वह संदेह प्रकट करता है, जिसके कारण अंध श्रद्धा प्रकट होती है ।

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यास 'झूलालट' में उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा ने बुंदेलखण्ड की विवाह पद्धति को दर्शाया है । बुंदेलखण्ड क्षेत्र में स्त्री का दूसरा विवाह 'बछिया' दान करके सादी रीति से सम्पन्न किया जाता है । 'झुलालट' उपन्यास की नायिका 'शीलो' के सम्बन्ध उसके पति के साथ ठीक नहीं रहते हैं। शीलो हंमेशा दु:खित एवं व्याकुल रहती है । देवर बालकिशन 'शीलों' की ओर आकर्षित होता है । गाँव की महिलाएँ 'वछिया' कराने के लिए शीलो की सास को सलाह देती हैं । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है-

'बछिया होगी ।'

ऐलान अम्मा का । नहीं तो गाँव के लोग, बिरादरी वाले पूछेंगे नहीं कि सुमेर

की दुल्हन बालकिशन की घरवाली कैसे हुई ? ब्याह तो तेरा हुआ नहीं, हो भी नहीं सकता । धरती में नगरी गाडकर उसे फोड देने का रिवाज भी हमारे यहाँ नहीं हो सकता । यह असगुन तो तब होता है, जब राँड विधवा से गठबंधन हो, हजारी उमर हो मेरे सुमेर की।

'बछिया पुत्र होगी । पंडित मंतर पढ देगा । अम्मा ने दोहराई यह बात ।

शरमा गया बालकिशन ।

'नई चूडी-बिछिया ले आना बाजार से । और बेटा, पाँत-पंगत का इंतजाम लगाओ । तम्बू-कनातें भी चाहिए । तू समान लिख ले । भूल-भाल जाएगा ।'

बालकिशन के उछाह का ठिकाना नहीं । नई-नई मर्दानगी-भरा पुख्ता आदमी । बछेडे की तरह कूदता-फलाँगता चला गया चिरगाँव । अम्मा के बताए साडी, साया, चूडी, बिछिया, महावर, चप्पल लेता आया साथ ही हलवाई भी तय कर आया । पाँच छः सी आदमियों के हिसाब से घी मसाले ले आएँगे अपने संग । आटा-चीनी बता दी है, कल परसों ले आएगा ।

'तब्बू कनातें आई और गडने लगीं ।

शीलो बोली, 'यह क्या ?'

'बछिया !' सास ने कहा ।

'न । बछिया-मछिया कुछ नहीं ।'

'ऐं ।'

'नहीं, बिलकुल नहीं ।'

'हाय गजब । गाँव-समाज को क्या मुँह दिखाएँगे ?'

'मुँह दिखाने को किसी की गाय मारी है क्या?'

'अजस गठरिया मत बाँधे मेरे सिर, हाँ ।'

शीलो ने नया-नया इनकार करना सीखा हो जैसे, नाहीं में सिर हिलाती रही।

ऐसी जिद! अम्मा देखती रह गई । परेशान हो उठीं । शीलो से उन्हें ऐसी आशा नहीं थी । अन्त में शीलो ने अपने दिल की बात कह दी, 'अम्मा जी, रीत-रसम लिखा हुआ रुक्का तो नहीं होती ।'

अम्मा भौंचक्की ।

बालकिशन के अरमानों पर माध का तुषार गिरा । वह दूल्हा न बनता मान लिया, पर कुछ तो होता । ब्याह जैसा ही कुछ, मगर हो कैसे? शीलो के बिना ।

शीलो ने समझाया- तन-मन का ब्याह । तीसरा कौन होता है हमारे बीच ?

'बछिया फिर हो जाएगी । अभी बहू का मन चैन में नहीं ।' अम्मा ने बालकिशन को रोक दिया सामान लाने से । अम्मा इस खुशी को मना लेना चाहती थीं कि उन्होंने बहु की जवानी अकारथ नहीं जाने दी । शीलो सास का गुन मान रही थी और दरियादिली भी । ऐसी सास कौन-सी होगी, जो अपने बारे कुँवारे पूत के सिर छोडी-त्यागी बहू मढ दे । और सरीखी होती तो बेटा पीछे त्यागता, माँ पहले झोंटा पकडकर देहरी के बाहर फेंक देती ।'[१७८]

'सबसे ऊपर बालकिशन । बछिया नहीं हुई, तो क्या, ब्याह नहीं रचा गया, तो न सही, नित रोज बन्ना बना डोलता है । दोपहर में खेत पर नहीं जाता । द्वार दरवाजे नहीं बैठता । बिलकुल नई दुलही का चेरा! सब कुछ भाँप गई बूढी डुकरियाँ।

विमली जिज्ञी ने कहा, हमने देखे दोंनो... सरजू बोली, अब कौन पूछता है दीवान-दरोगा को, खेत वाला रसिया ही मन बस गया ।

त्ाुब! अचम्मा! बालकिशन मान गया इन औरतों को, बेतार का तार जोडे रहती हैं घर-घर से । यह जादुई करिश्मा औरतों की खासियत है ।

नहीं जी, शीलो का ही दोष है, उसी ने पूछा था सरजू से- जिज्ञी, जल्दी बच्चा न हो, उसके लिए क्या इंतजाम... इतनी बात काफी नहीं है क्या ?

पुरानी बुढी मजलिस उखाडना, मजाक नहीं है । पडोसन काकी ने पूरी तरह छानबीन करके अम्मा तो रघड दिया । बात कायदे के हवाले कर दी-

'मैं तो कायदे की बात करती हूँ, सरसुती । सत्ते की अम्मा की तरह नहीं कि मुँह-सोहिली उडाऊँ । काय री, इनकी बछिया कब होगी ?'

अम्मा जैसे आसमान से गिरी हों ।

'काये की बछिया?' अभी है ही क्या ?'

'देख, तेरे ही भले की बात है । चार जनों के आगे बछिया कराके ऐलान कर दे । किसी यार के संग भागी है, सो छिपा रही है तू? कल के दिन पेट गोद होते फिरें ।'

अम्मा धूप ।

चुप्पी से बात सध जाती, तो आदमी आजाद होकर कुछ भी करता । चुप रहता, बस ।

दूसरे तीसरे चौथे यह कहो कि रोज-रोज... एक ही बात । बछिया वाली बात ।

अम्मा का वश नहीं चल रहा था शीलो पर, तब क्या अम्मा ने चाहना बंद कर दिया कि बछिया न हो । वे मुँह क्यों छिपाएँ किसी से ? डंके की चोट बता सकती है।

हारकर अम्मा ने एक दिन कह ही दिया, 'बछिया की बछिया वाले जाने सुमिरन की अम्मा ।'

'लै, यह खूब कही ! तू बूढी किस मर्ज की दवा है ?'

अम्मा क्या कहें ?

'संग सोने का चस्का है, बछिया की ना-नुकर काये ?'[१७९]

४. रहन-सहन

ग्रामीण लोगों के रहन-सहन से उनके व्यक्तित्व का पता चलता है । रहन-सहन का अर्थ है 'जीवन निर्वाह का ढंग, तौर-तरीका, चाल-ढाल, आचरण।'[१८०] गाँव के लोग विविध व्यवसाय करते हैं । कोई खेती-बाडी करता है, कोई ग्वाला होता है और कोई मजदूर ।

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में किसानों के कपडों के पहनाव में आये परिवर्तन का चित्रण किया गया है । पहले किशान धोती-कुर्ता पहनते थे । आधुनिक किसान कमीज-पैंट पहनना चाहते हैं । ग्रामीण उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा ने अपने 'चाक' और 'झूलानट' उपन्यासों में इस विषय का चित्रण किया है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'भँवर गोरे रंग और छरहरे लम्बे कद का युवक, जरा पढे-लिखों की तरह उजले कपडे पहनकर रहता है । धोती-कुर्ता पहनना उसे नहीं रुचता । कमीज-पैंट

में किसान को भी सुविधा रहती है । सिर पर छोटे-छोटे बाल नहीं । कुछ लम्बी जुल्फें रखता है- आधुनिक किसान ।'[१८१]

'बुरे की बात नहीं । मैं तो यह कहती हूँ कि हल हाँकते हो, इसका मतलब यह तो नहीं कि बुढे हो गए । धोती-कुर्ता ही पहनोगे । रघु के पिता जी को देख लो, नाती-नतूलों के हो गए, शिब्बू की बेलबॉटम पैंट कसे रहते हैं । चिरगाँव से कमीज-पैंट काहे नहीं सिलवा लाते । और देखो, मुँड पर उस्तरा फिरवाने की जरूरत नहीं । हमें नहीं सुहाती घुटी मुडी । तिरछी माँग काढकर जुल्फें...।'[१८२]

५. खान-पान

ग्रामीण लोगों के खान-पान से उनके जीवन पद्धति का पता चलता है । ग्रामों में अधिक गरीब लोग निवास करते हैं । अधिक ग्रामीण लोग जवार, मकई, बाजरा और चावल की रोटियाँ खाते हैं ।

अन्तिम दशक के 'यह अन्त नहीं' और 'चाक' उपन्यासों में ग्रामीण उपन्यासकारों ने गाँव के लोगों के खान-पान का चित्रण किया है । मिथिलेश्वर के 'यह अन्त नहीं' उपन्यास में उपन्यास की नायिका 'चुनिया' उसके घर आये अतिथि के लिए 'ढकनेसर' बनाती है । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है-

'चौरठ और गुड पाते ही चुनिया को 'ढकनेसर' की याद आ गई । ढकनेसर बनाए उसे बहुत दिन हो गए थे । गुड के रस्से में चौरठ का ढकनेसर उसे मालपूआ की तरह लगता था । माई बाबू और बुंतु भी खूब ढकनेसर खाते थे । पहले तो रोटी-तरकारीबनाने की बात उसने सोची थी । लेकिन चौरठ गुड पाते ही उसका

मन बदल गया । अब वह ढकनेसर बनाएगी । शायद माई भी चौरठ-गुड देखकर यही सोच रही थी । चुनिया रसोई में जाने लगी तो माई बोल उठी- 'अगर के लिए आटा न सानी हो नन्हकी तो आज ढकनेसर बना दे...!'

माई की बात सुन चुनिया खुशी से चिहा गई । माई उसके मन की बात कैसे जान गई...? उसने इठलाते हुए माई से कहा- 'तू तो अगम जानी हो गइ है माई! मैं ढकनेसर बनाने ही जा रही हूँ । तू मेरे मन की बात जान कैसे गई...?'

अपने इस कथन पर स्वयं तो खिलखिला ही पडी चुनिया, उसके माई-बाबू भी हँस उठे । उसके बाबू ने भी यही सोचा था । जैसे ही मजदूरी में उन्हें चौरठ-गूड मिला था, उन्होंने मन बना लिया था, आज ढकनेसर बनवाएँगे । आन्तरिक साम्य की वजह से देर तक उनके चेहरे पर खुशी लौटती रही...!

चुनिया प्रेम से ढकनेसर बनाने में जुट गई । माई से सुनकर तथा स्वयं रसोई बनाते-बनाते अनुभव का वह जान गई थी कि सचमुच रसोई प्रेम की चीज होती है । प्रेम से बना तो दो मॉड-भात में भी गजब का स्वाद आ जाता है और बेनन से बनाने पर अनेकों प्रकार होते हुए भी नीरस और स्वादहीन लगता है...।

वह ढकनेसर की तैयारी में पूरे मन से डूबी रही । कोई कोर-कसर बाकी न रहने पाए । इस दौरान घर-दुआर और चितकबरी-भुअरी से भी वह निश्चिन्त हो गई थी । काम से लौटने के बाद माई-बाबू अब सब कुछ देखते-सँभालते थे । चितकबरी-भुअरी को दुहने तथा खिला-पिलाकर उन्हें अंदर झोंपडी में बाँधने तक की जिम्मेदारी अब माई-बाबू की थी ।

ढकनेसर बनाते-बनाते कुछ देर हो गई चुनिया को । रोटी-तरकारी से ढकनेसर

में ज्यादा समय लगता है । बिना गुड के रस्से में तर हुए ढकनेसर खिलते ही नहीं...।

इस बीच बुंतु भी अपने मालिक के यहाँ से खा-पीकर सोने आ गया था । जब चुनिया, माई-बाबू को ढकनेसर खिलाने पहुँची तो उसने बुंतु को भी ढकनेसर दिया । खाकर आने के बाद भी बुंतु का मन ढकनेसर देखते ही मचल गया । भरे पेट के ऊपर ही उसने दो ढकनेसर चढा लिया । घर में जब भी कुछ बढिया बनता था, बुंतु के खाकर आने के बाद भी चुनिया उसे जरूर देती थी । पर किसी-किसी दिन नहीं खाता था बुंतु। थकान से हाथ-पाँव तोडते आते ही खराटे भरने लगता । उस दिन माई के साथ चुनिया भी हहरकर रह जाती- 'सबने खाया, लेकिन उसके भाई ने छुआ तक नहीं...।' हालाँकि ऐसा बहुत कम होता था । बुंतु खुद ही खाने-पीने में चटोर था । खाकर आने के बाद भी चटक-मटक चीज देख चढा लेता है ।

माई-बाबू और बुंतु के खाने के बाद चुनिया भी ढकनेसर लेकर बैठ गई । खूब छककर खाई वह ढकनेसर । बना भी था एक नम्बर का । गुड का सिरा पी ढकसेनर खूब फूल-फूल कर मोटे-मोटे हो गए थे । मुँह में काटते ही सारा मुँह रस से भर जाता था । ऐसे रसगर ढकनेसर खाने में खूब मजा आता था । सबके खाने के बाद भी तीन ढकनेसर बच गए । उसने तोपकर रख दिया कि सुबह मुँह धोने के बाद सबको नाश्ता करा देगी । हालाँकि उसके यहाँ नाश्ते का रिवाज नहीं था । दोनों जून खाने का ही हिसाब था । लेकिन जिस किसी दिन रात का खाना बेसी बच जाता था, सुबह नाश्ता चला देती थी ।'[१८३]

'प्रधानिन चौके की ओर लपकी ।

थाली परसकर आई-पूरी-पुआ, बाजरा की टिकिया । मूँग की दाल के बडे । आलू की बडी-बडी पतली कचौरी, दही-बूरा, खीर । गुलकंदी तू कितना झूठ बोल रही थी- श्रीधर ने सोचा ?

६. मेला

गाँवों में मेले किसी विशिष्ट पर्व-त्यौहार के दिन लगते हैं । गाँवों में मेले के अवसर पर अनेक दुकानें लगायी जाती हैं । मेलों में आस-पास के गाँव के लोग बडी शान-शौकत के साथ भाग लेते हैं । मेलों में लोगों की चहल-पहल रहती है । गाँव वालों के मेले उनके बाजार भी हैं, त्याअहार भी हैं और सामुहिक उत्सव भी । गाँवों में मेले मन्दिरों एवं मस्जिदों के आस-पास लगाये जाते हैं । रामविलास शर्मा का आँचलिक 'चार दिन' में सुर्जापुर गाँव में लगे मेले का यथार्थ चित्रण किया गया है। उपन्यास का निम्न उदाहरण इस संदर्भ में प्रस्तुत है-

'देवी-पारवों में यहाँ बडी चहल-पहल रहती है । वैसे तो हर सोमवार को एक छोटा-मोटा मेला सा लगा रहता है, पर चैत्र शुक्ल पक्ष की अष्टमी का मेला आस-पास की जवार में अद्वितीय होता है । दो-तीन दिन पहले से ही दुकानदार दुकानें लगाना शुरू कर लेते हैं, दहल में अपना बल-कौशल दिखाने के लिए नवयुवक दो महीने पहले से कुश्ती लडते और कसरत करते हैं और स्त्रियाँ छः महीने पहले से मेले में जाने के लिए नये गहने-वस्त्रों की माँगें पतियों के सामने पेश करती हैं । अष्टमी के दिन स्वयं थानेदार साहब का मेले में उपस्थित रहना भी उसका कम महत्तासूचक नहीं ।

प्रतिवर्ष की भाँति आज भी मेले में काफी चहल-पहल थी, किन्तु दोपहर से भीड अधिक हुई, अथवा जैसा कि लोग-बाग एक-दूसरे से कहते 'दुपहरी ते मेला गुरुआन है ।' गृहवधुएँ धराऊ लहँगा-ओढनी पहन, सफेद चादरें ओढ, एंडी से चोटी तक यथाशक्ति अपने आपको चाँदी के गहनों से सजा कर आयी थीं । गले और नाक के ही कुछ आभूषण होने के होते । कौन क्या पहनकर आयी है, किसने पति ने उसे नया गहना बनवाया है, इसकी उश्रमें विशेष चर्चा थी । साथ में आँखों में काजल और माथे में अनखन लगवाए चमकते रेशमी वस्त्र पहने बालक थे । किसी को केवल कोट पहनाया गया था, किसी को कमीज ही, किसी को नई धोती पहना सिर में काली गोल टोपी देकर ही संतोष किया गया था । हाथों और पैरों में कडे प्राय: सभी के थे । छोटे बच्चे पैरों आर कमर में बजने वाली पहुँटिया और कर्धनी पहने भी दिखाई देते थे । वृद्धाएँ साहे लहँगे पहने ओढनी ओढे थीं अथवा सादी धोतियाँ पहने थीं । वधुओं की भाँति वे घूँघट काढकर न चलतीं । पुरुषों में नवयुवक ही विशेष बनठन कर आये थे । सभी ने आज के लिए शायद एक धोती-कुर्ता जुगो रक्खा था, जो वर्ष के अन्य किस दिन-जब तक विवाहादि सरीखा कोई विशेष मौका न आवे-न पहना जाता था । लम्बी-लम्बी लाठियाँ सभी के हाथों में थीं, किन्हीं की बँधाई और चिकनी चुपडी थीं, किन्हीं की साधारण ।'[१८५]

७. खेल-कूद

खेल-कूद से मानव का स्वास्थ्य ठीक रहता है । शरीर में रक्त का संचार ठीक रहने से आदमी तंदुरस्त रहता है । इससे तबियत ताजी होती है । खेल-कूद से शरीर को बल और वेग मिलता है । शरीर में उत्साह बढता है । आयु बढती है।

शरीर की आकृति सुन्दर और सुडोल बन जाती है । इन सभी से व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना जागृत होती है । कहा जाता है कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क रहता है ।

अन्तिम दशक के उपन्यासकार रामविलास शर्मा ने अपने आँचलिक उपन्यास 'चार दिन' में आज के गाँवों में उपस्थित कुश्ती विद्या का सजीव चित्रण किया है। उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है-

'भीड में जगह कर नन्दन ने जिनई और राजसुरी को खडा कर दिया, और स्वयं अपने गाँव के लोगों के साथ बातें करने लगा । एक अधेड किसान ने उसे पाँव लागी कर पूछा- 'आजु सुना है भैया तुम्हारी मदन ते कुस्ती होई ।'

नन्दन ने आशीर्वाद देकर उत्तर दिया- 'हाँ, होई तो जुडावन ।'

जुडावन ने कहा- 'यो मदन तुमहीं से सूध होई । बडा घमण्डी हवै । चितवत है तो जानौ खा लेई । दस आना के जिमींदार का है, अपने आगे कोहू क गन्तेहे नर्हिन। गाँव की बहू-बिटियन क निहारत है तऊँ अलग । सोहदन के सोहबति करत है । तुम्हारी दादी तो छा आना के हिस्सादार है, मुला तुमका तौ कबौं हम कोही ते हकर-मकर करत न सुना ।'

अखाडे के पास बगलबन्दी पहने गाँव के उस्तान दीनदयाल कुर्मी ने नन्दन से कहा- 'नन्दन बाँधो लँगोट-बँगोट । चाक कुस्ती और होय तहाँ तुम्हारा लम्बरू हैं ।'

'अच्छा काका'- कह नन्दन उठ खडा हुआ और लँगोट बाँधने लगा । मदन भी तैयार हो रहा था ।

दीनदयाल ने दोनों का नाम लेकर अखाडे में उतरने को कहा । मदन और नन्दन ने अखाडे में आ थोडी-थोडी मिट्टी ले अली पर चढा दी । नन्दन ने हाथ बढाया, किन्तु मदन ने हाथ न मिला पैतरा बदला ।

जुडावन के काफी ऊँचे स्वर में कहा- 'दीनदयाल दादा, यो कामु मदन भैये बेजा कीन । हाथु मिलावै का कैदा है । फिर नन्दन बाह्यानु आय । मदन के पैलगी करै क चहित रहै ।'

दीनदयाल चुप हो नन्दन और मदन का पैंतरा बदलता देखते रहे । दो पल बाद दोनों भिड गये । मदन को मेले की चुनौती भूली न थी, नन्दन का शेष तात्कालिक अपमान से पुन: जग उठा ला । राजेसुरी कहीं यह न कहे कि वह सुस्ती से लडा, इसलिए दाँव-पँच लगाने में वह विशेष फुर्ती दिखा रहा था । थोडी देर तक धड-पकड होती रही । एकाएक नन्दन का पैंतरा बिगड गया- दाहिना हाथ और दाहिना पैर एक साथ ही आगे बढ गये । मदन ने छूटते ही बायाँ हाथ बढाकर नन्दन का पञ्जा पकडा और दाहिने हाथ से सफाई से दस्ती खींची; देखते-देखते वह नन्दन के पीछे आ गया । अभी वह अच्छी तरह पकड न पाया था कि नन्दन दोनों हाथों से मदन की दोनों कलाइयाँ पकड कर चीरता-चौडता हुआ छुडाकर निकल गया । लेकिन सामने होकर सँभल भी न पाया था, मिलने को हाथ उठाया ही था कि मदन ने बगल डूब की और मोजा पकडकर बैठा दिया।

किसी ने जुडावन से कहा- 'हम जानित रहे आजु नन्दनवा नाक कटाई, मुला तुम पज्वै लडावति रही तो हम कहा कि कहि कै असगुनु को करैं ।

जुडावन चुप रहा ।

तब तक मदन ने धिस्से से नन्दन को लम्बा कर दिया । चारों और सन्नाटा था, सबकी आँखें कुश्ती पर लगी थीं । हुसेनी मियाँ ने घूम-घूम कर ढोल बजाना बन्द कर दिया था और एक ओर खडे हो कुश्ती देख रहे थे । किसी ने पीछे से उनका हाथ पकड उन्हें नीचे बैठा दिया, किन्तु उन्होंने घूम कर न देखा । राजेसुरी कम आग्रह से कुश्ती न देख रही थी । नन्दन को भारी ग्लानि हुई । राजेसुरी उसकी ओर देख रही होगी । हठात् उसकी आँखे उठ राजेसुरी की आँखों से पल भर को मिल गई । क्षोभ से उसके सारे बिखरे शौर्य ने जैसे स्वयं एकत्र हो उठना चाहा । नन्दन एक हाथ में मदन का हाथ पकड कर सिसट कर बैठ गया । मदन ने कलाई छुडा फुर्ती से तरकस खींचा । लोगों को नन्दन के कुश्ती खाने की शडा हो रही थी कि नन्दन ने बँधे तरकस वाले हाथ को खींचते हुए दूसरी बगल को दबाकर एक साथ बगली और धड किया । दूसरे ही क्षण वह मदन की छाती पर आ बैठा ।

सभी लोग वाह-वाह करने लगे । दीनदयाल ने कहा- 'बसि है गै, छाँडि दियो ।' मदन उठकर शर्माता अपने साथियों में जा बेठा; वे सब चुप रहे । नन्दन अपने हर्ष को कठिनता से छिपाता जिनई के पास गया, 'स्यावासि बैटा!' जिनई ने कहा । राजेसुरी ने मुस्करा कर अपनी प्रसन्नता प्रकट की । जुडावन ने कहा- 'वाह भैया, खूब किहयो । हमरे मन कै किहयो ।'[१८६]

८. आतिथ्य की पद्धतियाँ

कहा जाता है कि 'अतिथि देवो भव' अर्थात् अतिथि देव के समान है । अतिथि का आदर-सत्कार करना चाहिए । अतिथि का आदर करने से पुण्य मिलता है । ईश्वर प्रसन्न होते हैं । अतिथि जब घर पहुँचता है, उसकी मर्यादा करना जरूरी

समझा जाता है । मर्यादा करने की पद्धतियाँ अनेक हैं । उसके खाने के प्रबन्ध से लेकर सोने के प्रबन्ध (नहाने का इंतजाम, बात करने का तरीका और व्यवहार का ढंग आदि) तक आतिथ्य की मर्यादा में आते हैं । खाने के पदार्थों से भी गृहस्थ नाना प्रकार के मर्यादापूर्ण कार्य किया करते हैं । अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यास 'यह अन्त नहीं' में ग्रामीण उपन्यासकार मिथिलेश्वर ने वर्तमान ग्रामीण समाज में परिलक्षित आतिथ्य की पद्धतियों को दर्शाया है । उपन्यास का निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होता है-

'अब उन छोकरों पर आग उगलते हुए बुंतु के घर वाले उसकी सुश्रुषा तथा जोखन के आतिथ्य में भिड गए । अब वे महटिआने वाले नहीं थे । यह कोई 'हलुक-पातर' मामला नहीं था । सुबह उन लौडों को बताकर मानेंगे...।'

चुनिया ने पानी गरम कर दे दिया । उसमें कपडा निचोड-निचोड कर माई बुंतु के जख्म सेंकने लगी । बाबू जोखन के सोने की व्यवस्था में लग गए । इस रात में जोखन कहाँ जाएगा ? वह जाने को कहेगा तब भी वे नहीं जाने देंगे । बुंतु की खटिया की बगल में ही बाबू ने जोखन की चारपाई भी लगा दी । इस बीच दुनिया उन्हें चाय दे आई । खाना मिलाने से पहले चाय पिलाना उसे उचित जान पडा । खाने में देरी भी हो सकती थी! उसका खुद का परिवार होता तो नून-रोटी पर भी काम चल जाता । पर जोखन की उपस्थिति ने उसे 'ठीक-ठाक' खाना बनाने के लिए सजग कर दिया था । खान-पान से ही तो किसी के घर की सुचिता का पता चलता है । सुचिताह घर और तंगहाल घर का खान-पान से ही तो किसी के घर की सुचिता का पता चलता है । सुचिताह घर और तंगहाल घर का अंदाज लोग

खान-पान से ही लगते हैं । किसी के यहाँ एक रात रहने पर ही सब पता चल जाता है, इसलिए बेटी बिहाने के लिए निकले लोग वर के यहाँ एक रात अवश्य गुजारते हैं ।

हालाँकि ठीक-ठाक खाना बनाने लायक सब सामान भी उसके यहाँ कहाँ? खैर...। जो सामान है, उसी में उसे बनाना है । आगन्तुक को तो यह जानने भी नहीं देना है कि घर में क्या है, क्या नहीं । एक रात के लिए कोई आकर घर की वाह ले-ले तो फिर उस घर की मरजाद ही क्या ?

तरकारी के अभाव में चुनिया ने अदौरी की सब्जी बनाने का निर्णय किया । माई जहाँ काम करने जाती थी वहाँ उसे अदौरी मिली थी । उस घर की मालकिन ने 'खखुला कर' बहुत अदौरी बनवा ली थी । अधिक दिन बीत जाने के बाद अब उसे लगने लगा था कि उसकी अदौरी खराब हो रही है । बस, भिक्षुक-भिखार से लेकर दाई-नौकर तक को वह अदौरी देने लगी थी । भिक्षुक-भिखार के बीच तो दान-पुन के लिहाज से बाँटती थी, लेकिन दोई-नौकर को काम के एबज में देती थी । चुनिया ने बनाकर देख लिया था, उसकी वह अदौरी तनिक भी खराब नहीं। वह 'मनमरू' हो गई थी, इसलिए अपनी अदौरी अब उसे नहीं जँच रही थी ।

अदौरी के साथ पिआज काटकर सलाद बना देगी । पिआज जब सस्ता गया था तो 'चटकवाही' कर बाबू ने पाँच पसेरी पिआज खरीदकर रख लिया था । उसमें से काफी पिआज अभी बचा था । रोज दो-तीन से अधिक पिआज वह नहीं खरचती ।

आँगन के एक कोने में धनिया और मरीचा के पौधे माई ने उपजाए थे ।

लहसुन, पिआज और मरीचा के साथ धनिया की चटनी माई को रुचती थी । इस अवसर पर वह चटनी भी बना लेगी । रोटी, अदौरी की सब्जी, पिआज का सलाद और धनिया की चटनी । बढिया खाना हो जाएगा । अगर रोटी में बोर कर खाने के लिए दाल बना देती तो और बढिया हो जाता । लेकिन कोई भी दाल घर में नहीं । अचानक इसी वक्त उसके दिमाग में बिजली की कौंध की तरह बेसन की याद भी कौंध गई । बाबु जो बुटखेंसरा लाए थे, उसमें से तीन हिस्से का उसने सतू बना दिया था तथा एक हिस्से का बेसन । उसी बेसन में से अभी आधा डिब्बा बचा था । वह तो उसे भूल ही गई थी । रोटी में बोर खाने के लिए बेसन की 'कढी' दाल से भी अच्छी रहेगी । अब रोटी, कढी, सब्जी, सलाद और चटनी । एक दम पुरहर भोजन । बस, अपने निर्णय के अनुसार खाने की तैयारी में मुस्तैदी से भिड गई चुनिया । बुंतु के जख्म सेंक माई भी चुहानी के दरवाजे जा बैठी और चुनिया का हाथ बैंठाने लगी । वैसे रोज के खाने में चुनिया के हाथ बटाने की जरूरत उसे नहीं पडती थी । लेकिन जब कोई आगन्तुक या हित-नाता आ पहुँचता था तो खाने की विशेष तैयारी को ध्यान में रखकर माई भी चुनिया के साथ लग जाती थी । आज तो उसके बेटे का जीवन-रक्षक आया था । उसकी खातिरदारी में उन्हें कोई कमी नहीं छोडनी थी ।'[१८७]

९. नाम की सभ्यता

'सभ्यता' शब्द का अर्थ है 'सभ्य होने का भाव, नम्रता, शिष्टता' इत्यादि ।'[१८८] प्रत्येक संस्कृति की एक सभ्यता होती है । संस्कृति एवं सभ्यता में धनिष्ट सम्बन्ध है । संस्कृति एवं सभ्यता के अंग-प्रत्यंग सम्बद्ध हैं । सभ्यता का सम्बन्ध मनुष्य के

विचारों से है जबकि संस्कृति का सम्बन्ध उसके आचारों से है । धर्म पर विश्वास करने से मानव सभ्य बनता है ।

डॉ. देवराज के अनुसार- 'सभ्यता तथा संस्कृति दोनों मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य या परिणाम हैं । जब यह क्रिया उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान होती है तब सभ्यता का जन्म होता है और जब मूल्य चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है तब संस्कृति का उदय होता है ।'[१८९]

अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासकार श्री लाल शुक्ल और विद्यासागर नौटियाल ने अपने उपन्यासों में इस सभ्यता का चित्रण किया है । अयोध्या के आस-पास के जिलों में 'राम' के नाम के पीछे कोई भी शब्द लगाने से नया नाम बन जाता है । इस विषय का चित्रण 'विश्रामपुर का संत' उपन्यास में श्री लालशुक्ल ने किया ।

विद्यासागर नौटियाल के उपन्यास 'भीमअकेला' में 'भरदारी' सभ्यता का चित्रण किया गया है । उपन्यास में 'भरदार' गाँव के लोगों के नाम के पीछे गाँव का नाम जुड जाता है । उपन्यासों के निम्न उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत हैं-

'तुम्हारा नाम राम लोटन है न ?'

'हाँ मालिक, लोटन ।'

'अयोध्या की तरफ के रहने वाले हो ।'

'नहीं मालिक, इसी गाँव का हूँ ।'

'इधर रामलोटन तो होते नहीं है ।'

उन्होंने सही कहा था पर रामलोटन के पास इसका जवाब नहीं था । जवाब

के लिए यह कहा भी नहीं गया था । इस इलाके में रामलोटन का नाम बिलकुल नया है । ऐसे नाम अयोध्या के पास वाले दस-पन्द्रह जिलों में ही पाये जाते हैं, बुंदेलखण्ड में नहीं । राम के नाम के पीछे कोई भी शब्द लगा देने पर एक नया नाम बन जाता है, रामदास, रामपरगट, रामअँजोर, रामहेत, रामकेट, रामफेर, रामपलट, रामखेलावन, रामलोटन ! हो सकता है कि इसका बाप कभी उधर के जिलों में रहा हो ! पर उन्होंने मन ही मन उस सवाल को वहीं छोड दिया ।'[१९०]

'भरदार एक अजीब पट्टी है । वहाँ का कोई भी निवासी पहले भरदारी है, बाद में कुछ और । आप किसी भरदार-निवासी से उसके गाँव का नाम पूछिये । वह अपने गाँव के नाम के साथ भरदार जोडकर बोलेगा । सिर्फ गाँव का नाम कोई नहीं बोलता । भरदारी कहते हैं हमारे गाँवों के नामों के साथ भरदार भी जुडा रहता है। किसी आदमी का नाम शेर नहीं होता शेर सिंह होता है, किसी का नाम कन्हैया नहीं होता, कन्हैयालाल होता है । लिहाजा बाँसी कोई गाँव नहीं बाँसी भरदार एक गाँव है, सेरा भरदार, स्यांरी भरदार, जवाडी भरदार, सुमाडी भरदार और इसी तरह के भरदारी सभ्यता को उजागर करनेवाले अनेक गाँव अलकनन्दा के दाहिने तट पर पहाडों की अभेद्य ऊँचाइयों की सीमाओं तक फैल पडे हैं ।'[१९१]

उपर्युक्त प्रकार अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में समसामयिक ग्रामीण समाज में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बदलते सांस्कृतिक मूल्य दर्शाए हैं । उपन्यासकार अपने उपन्यासों में व्यक्त करते हैं कि वर्तमान ग्रामीण समाज में पाश्चात्य सभ्यता का गहरा प्रभाव लक्षित होता है । ग्रामीण लोगों के खान-पान, रीति-रिवाज, पहनाव और बोलचाल आदि में पाश्चात्य

सभ्यता का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। आज के ग्रामीण छात्रों में पर्व-त्यौहारों के प्रति आस्था कम होने लगी है । वे विदेशी संगीत और नृत्य आदि के अनुकरण में मग्न हैं । आज अनेक ग्रामों में अंग्रेजी स्कूल विद्यमान हैं । आज के ग्रामीण लोगों में आर्थिक विषमता के कारण पर्व-त्यौहारों के प्रति श्रद्धा कम होने लगी । 'नमामि ग्रामम्' और 'बीस बरस' आदि अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में इन विषयों का विस्तार से चित्रण किया गया है । वर्तमान ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासकारों ने समसामयिक ग्रामीण लोगों में घटते सांस्कृतिक मूल्यों के साथ-साथ उनमें परिलक्षित सांस्कृतिक मूल्यों का चित्रण किया है । 'चाक', 'इदन्नमम', 'झूलानट', 'यह अन्त नहीं', 'चार दिन', 'विश्रामपुर का संत', 'भीम अकेला' और 'औरत' आदि अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में ग्रामीण समाज में परिलक्षित सांस्कृतिक मूल्यों का सजीव चित्रण किया गया है । 'चाक', 'इदन्नमम' और 'औरत' आदि ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने समसामायिक ग्रामीण समाज में परिलक्षित 'होली', 'दीवाली' और 'रक्षाबन्धन' आदि पर्व-त्यौहारों का सुन्दर चित्रण किया है । 'चाक' और 'झुलानट' उपन्यासों में ग्रामीण लोग देवी-देवताओं में विश्वास रखकर उनकी मनोकामनाएँ पूरे होने के लिए रखने वाले व्रत एवं उपासना आदि का सजीव चित्रण किया गया है । समकालीन महिला उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा ने 'झुलानट' उपन्यास में बुंदेलखण्ड की विवाह पद्धतियाँ दर्शायी हैं ।

अन्तिम दशक के आँचलिक उपन्यासकार रामविलास शर्मा ने 'चार दि' लघु उपन्यास में पर्व-त्यौहारों के अवसर पर गाँवों में लगाये जाने वाले 'मेले' का यथार्थ चित्रण किया है । 'विश्रामपुर का संत' और 'भीम अकेला' आदि ग्रामीण उपन्यासों

में उपन्यासकार श्रीलाल शुक्ल एवं विद्यासागर नौटियाल ने समकालीन ग्रामीण समाज में परिलक्षित नाम की सभ्यता को दर्शाया है ।

उपर्युक्त प्रकार समसामयिक ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण जन-जीवन में घटते सांस्कृतिक मूल्यों के साथ-साथ उनमें परिलक्षित सांस्कृतिक मूल्यों का चित्रण किया है ।

परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार अन्तिम दशक के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में अनेक नवीन प्रवृतियों को उभारा है । नारीवाद, समाजवाद, अलगतावाद, जातिवाद, पूँजीवाद, गाँधीवाद, मार्क्सवाद, दलितवाद आदि प्रवृतियाँ अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में प्रमुख प्रवृतियाँ बनकर सामने आयी है ।

सन्दर्भ

१. नालन्दा विशाल शब्द सागर, पृ.९०७

२. डॉ. हरदेव बाहरी- राजपाल हिन्दी शब्दकोश पृ. ५४४

३. डॉ. हरदेव बाहरी- राजपाल हिन्दी शब्दकोश पृ.८०५

४. "Within which the members share the basic elements and conditions of common life." (L. Wilson & W. L. Kolf. Sociological Analysis, New York, Harcourt Brace, 1949, P. 267

५. The social heritage of habit and sentiment, falk ways and mores techniques and culture, all of which are incidents or necessary to collective human behaviour. (R. E. Park and E. W. Burgess, Introduction to the science of sociology, Chicago University of Chicage Press, 2nd Edition, 1924. P. 161

६. Aristitle expressed a profound truth when he said that 'Man is by nature a social animal' and further that 'Society orginated in the bare needs of life and confinued for the sake of good life.' (R. P. Patwardhan; Elements of Civics, P. 677)

७. Caroline- Feminism As the contradiction of Oppression, P. 6

८. हंस- अगस्त १९९३, पृ. ६९

९. डॉ. मोहिनी शर्मा- हिन्दी उपन्यास और जीवन-मूल्य पृ.१२०-१२१

१०. मैत्रेयी पुष्पा-चाक, पृ.६१

११. मैत्रेयी पुष्पा-चाक, पृ.६३

१२. मैत्रेयी पुष्पा-चाक, पृ.५५, ५६

१३. मैत्रेयी पुष्पा-चाक, पृ.८९, ९०

१४. डॉ. दुर्गेश नन्दिनी- सातवें दशक के लघु उपन्यासों में नारी-चित्रण, पृ. ६१

१५. शिवप्रसाद सिंह- औरत, पृ.११४

१६. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.९२

१७. डॉ. विवेकी राय- नमामि ग्रामम्, पृ.१६९

१८. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा पृ. १०९

१९. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा पृ. ११२

२०. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा पृ. ११६

२१. डॉ. अनीता- आरिगपुडि के उपन्यासों में नारी जीवन (शो.प्र. १९८७) पृ.१०१

२२. रामदरश मिश्र- बीस बरस पृ. ९८-९९

२३. मैत्रेयी पुष्पा-चाक, पृ.२६२

२४. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा पृ. ११५

२५. प्रभा खेतान- हंस सितम्बर १९९६, पृ.५८

२६. मृणाल पाण्डे- स्त्री, पृ.८२

२७. आशरानी ब्होरा- नारी शोषण: आइने और आयाम, पृ.२६०

२८. रामदरश मिश्र- बीस बरस पृ.९९-१००

२९. रामदरश मिश्र- बीस बरस पृ.४०-४१

३०. रामदरश मिश्र- बीस बरस पृ.९७-९८

३१. डॉ. टी.मोहन सिंह- साठोतर हिन्दी उपन्यास प्रतिपाद्य और शिल्प, पृ.७२-७३

३२. मैत्रेयी पुष्पा-चाक, पृ.१९०

३३. मैत्रेयी पुष्पा-चाक, पृ.२९०-२९१

३४. मैत्रेयी पुष्पा- झूला नट, पृ.६०

३५. रामदरश मिश्र- बीस बरस पृ.९५

३६. रामदरश मिश्र- बीस बरस पृ.९६

३७. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ. २४-२५

३८. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ. २५-२६

३९. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ. २६-२७

४०. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ. १९

४१. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ. ३३

४२. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा पृ. १००

४३. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा पृ. ९८

४४. शिवप्रसाद सिंह- और, पृ. १३८

४५. कु. कृष्णा- सातवें दशक के हिन्दी उपन्यासों में सुख की अवधारणा, पृ. १०२

४६. डॉ. विनय मोहन सिंह- आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में प्रेम की परिकल्पना

४७. Emst Fischer- The Necessity, P. 86

४८. मैत्रेयी पुष्पा- झूला नट, पृ.४४-४५

४९. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का सन्त, पृ.१६०

५०. मैत्रेयी पुष्पा-चाक, पृ.३३२-३३३

५१. राजेन्द्र यादव- हंस (मई २००२) पृ.५२

५२. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा पृ. १०३

५३. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा पृ. ६९

५४. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ. १०६-१०७

५५. रामदरश मिश्र- बीस बरस पृ.४५-४६

५६. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ. ११ x २७

५७. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ. ११ x २६

५८. डॉ. वी. पट्टाभि सीतारामध्या- गाँधी और गाँधीवाद, प्रथम भाग, पृ.२६

५९. डॉ. वी. पट्टाभि सीतारामध्या- गाँधी और गाँधीवाद, प्रथम भाग, पृ.२६

६०. श्री गोपीनाथ धावन- गाँधीवाद

६१. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, (आठवाँ संस्करण, १९४७) पृ. ३४८

६२. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, (आठवाँ संस्करण, १९४७) पृ. ३४९

६३. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, (आठवाँ संस्करण, १९४७) पृ. ३४९

६४. गोपीनाथ धवन, सर्वोदय तत्व दर्शन (प्रथम संस्करण १९५१), पृ.१४

६५. गोपीनाथ धवन, सर्वोदय तत्व दर्शन (प्रथम संस्करण १९५१), पृ.१४

६६. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ. ४५ x १७५

६७. पूर्वोदय (प्रथम संस्करण, १९५०), पृ. ६७

६८. पूर्वोदय (प्रथम संस्करण, १९५०), पृ. ६९

६९. बेनॉम गोपाल राय- गाँधीयन येथिक्स- प्रथम संस्करण, १९५०, पृ. १५७

७०. गाँधी साहित्य, भाग-५, प्रथम संस्करण १९५०, पृ. १५७

७१. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ. २२४ x ६३२

७२. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा पृ. ५७९

७३. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा पृ. ५७९

७४. व्हि. व्हि. रमना मूर्ति- नॉन व्हालना इन पॉलिटिक्स, पृ.१३८

७५. सर्वोदय तत्व-दर्शन, पृ. २९

७६. गाँधीयन तकनीक एण्ड ट्रेडेशन इन इण्डस्ट्रियल रिलेशन, आर.एन.बोस, पृ.१०२

७७. एन्डस ऑन्ड मेंस, पृ. ३-४

७८. गाँधी साहित्य भाग-२, गीता माता, (प्रथम संस्करण १९५०),पृ. ११०

७९. बेनॉम गोपाल राय- गाँधीयन येथिक्स- प्रथम संस्करण, १९५०, पृ. ७

८०. सर्वोदय तत्व-दर्शन (प्रथम संस्करण, १९५०), पृ.५२

८१. गाँधी-साहित्य भाग-५, धर्मनीति, पृ. ११८

८२. गाँधी-साहित्य भाग-५, धर्मनीति, पृ. ११८

८३. गाँधी-साहित्य भाग-५, धर्मनीति, पृ. ११७

८४. गाँधी साहित्य भाग-३ पृ. १२३

८५. गाँधी साहित्य भाग-५ (प्रथम संस्करण १९५०), पृ. १२०

८६. हरिजन, ४.११-३९, पृ. ३३१

८७. यंग इंडिया, ११-८-२०, पृ. ७११

८८. यंग इंडिया, १६-६-२७, पृ. १९६

८९. महात्मा गाँधी- युद्ध और अहिंसा (१९४१) पृ. १४१

९०. बलभद्र जैन- अहिंसा-दर्शन पृ. ५९

९१. गाँधी और गाँधीवाद भाग-१ पृ. ३६

९२. गाँधी और गाँधीवाद भाग-१ पृ. ४९

९३. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ. १४ x ३८

९४. गाँधी-साहित्य भाग-५, पृ. ११९

९५. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ. १५ x ४०४

९६. गाँधी-विचारदोहन, पृ. ३३

९७. रंगनाथ दिवाकर, सत्याग्रह-मीमांसा, (प्रथम संस्करण, १९४९), पृ. ३२

९८. गाँधी-विचार-दोहन, पृ.५५

९९. गाँधी-विचार दोहन, पृ.७०

१००. गाँधी और गाँधीवाद, भाग-१, पृ.६४

१०१. सर्वोदय तत्व-दर्शन, पृ.१२८

१०२. सत्याग्रह-मीमांसा पृ.५२

१०३. हिन्द स्वराज्य, (१९४६) पृ.५१

१०४. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ.१८५ x ४७२

१०५. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ.१८५ x ४७२

१०६. सेलेक्शन फ्रॉम गाँधी, पृ.१८६ x ४७५

१०७. सर्वोदय तत्व-दर्शन पृ.९५

१०८. गाँधी साहित्य भाग-५, पृ.१७३

१०९. गाँधी साहित्य भाग-५, पृ.१७३

११०. गाँधी विचार-दोहन, पृ.२३

१११. गाँधी साहित्य भाग-५, पृ.१७१

११२. सर्वोदय तत्व-दर्शन पृ.९४

११३. गाँधीयन तकनीक ऑण्ड ट्रेडेशन, पृ.१२१

११४. ऑन ऑटोबायोग्राफी (२० यत इम्प्रेशन, १९५३), पृ.५४४

११५. सर्वोदय तत्व-दर्शन, पृ.२०३

११६. गाँधी और गाँधीवाद- भाग-२, (प्रथम संस्करण, १९५९) पृ.८४-८५

११७. इन्नर मीनिंग एण्ड प्लेस, पृ.५

११८. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का सन्त, पृ.१७५-१७६

११९. रामदरश मिश्र- बीस बरस, पृ.७४

१२०. डॉ. ज्ञान अस्थाना- हिन्दी उपन्यासों में ग्राम समस्याएँ, पृ.१७७

१२१. डॉ. ज्ञान अस्थाना- हिन्दी उपन्यासों में ग्राम समस्याएँ, पृ.२४४

१२२. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का सन्त, पृ.१३१

१२३. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का सन्त, पृ.८६

१२४. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.२३८-२३९

१२५. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.११७-११८

१२६. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.६६-६७

१२७. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का सन्त, पृ.९१

१२८. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.५६

१२९. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.६५-६६

१३०. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.८१

१३१. मिथिलेश्वर- युद्ध स्थल, पृ.९३

१३२. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम, पृ. २३१

१३३. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.१७९-१८०

१३४. लेनिन, लेनिन की संकलित रचनाएँ (हिन्दी अनुवाद) पृ.३७

१३५. एमाइल बर्न्स, मार्क्सवाद क्या है ?, पृ.१९

१३६. ओ.यकाट, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है?, पृ.१९

१३७. डॉ. प्रभाकर माधवे- मार्क्सवाद और सौन्दर्यशास्त्र, पृ.३७

१३८. लेनिन, लेनिन की संकलित रचनाएँ, पृ.१२

१३९. लेनिन, लेनिन की संकलित रचनाएँ, पृ.८२

१४०. डॉ. के. रामानायुडु- प्रगतिवादी काव्यधाराओ का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.२७

१४१. प्रो. एंगेल्स- समाजवाद, वैज्ञानिक और काल्पनिक, पृ.२७-२८

१४२. प्रो. एंगेल्स- लुडविख फायरबाख एण्ड दि आउटकम ऑफ क्लासिकल जर्मन फिलासफी, पृ.६१

१४३. राहुल सांस्कृत्यायन- मानव समाज, पृ.२७८

१४४. स्टॉलिन- लेनिनवाद की समस्याएँ, पृ.४७५

१४५. लेनिन- समाजवादी विचारधारा और संस्कृति, पृ.५१

१४६. मार्क्स और एंगेल्स- कम्युनिस्ट पार्टी का सिद्धान्त, पृ.३३-३४

१४७. जनेश्वर वर्मा- हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ.९१

१४८. ददन उपाध्याय- वैज्ञानिक म्युनिज्म के मूल सिद्धान्त, व.ग.अफनास्येव अनुवाद पृ.१११-११२

१४९. ददन उपाध्याय- वैज्ञानिक म्युनिज्म के मूल सिद्धान्त, व.ग.अफनास्येव अनुवाद पृ.११२-११३

१५०. ददन उपाध्याय- वैज्ञानिक म्युनिज्म के मूल सिद्धान्त, व.ग.अफनास्येव अनुवाद पृ.१४०

१५१. स्टॉलिन- लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त, पृ.३४-३९

१५२. स्टॉलिन- लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त, पृ.३५

१५३. स्टॉलिन- लेनिनवाद के मूल सिद्धान्त, पृ.३७

१५४. जनेश्वर वर्मा- हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ.९९-१००

१५५. लेनिन- राजसता और क्रान्ति, पृ.३०

१५६. जनेश्वर वर्मा- हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ.९९-१००

१५७. जनेश्वर वर्मा- हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना, पृ.१००-१०१

१५८. लेनिन- राज्य और क्रान्ति, पृ.३५४

१५९. लेनिन- राज्य और क्रान्ति, पृ.३५५

१६०. डॉ. कु. शैलवाला- हिन्दी साहित्य में गाँधीवाद, पृ.१८-२३

१६१. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम, पृ. २८५-२९७

१६२. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.१५९-१६२

१६३. मिथिलेश्वर- युद्धस्थल, पृ.४४

१६४. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम, पृ. १९७-१९८

१६५. सोती वीरेन्द्र चन्द्र- भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, पृ.१

१६६. सोती वीरेन्द्र चन्द्र- भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, पृ.८

१६७. जी. अजीतकुमार- बालशौरी रेड्डी के उपन्यासों में जन-जीवन, पृ.१२१-१२२

१६८. सोती वीरेन्द्र चन्द्र- भारतीय संस्कृति के मूल तत्व, पृ.२

१६९. भोलानाथ- आधुनिक हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पृ.२९२

१७०. शिवप्रसाद सिंह- औरत पृ.१९२-१९४

१७१. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.१९६

१७२. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम पृ. ३११-३१२

१७३. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम पृ. ३९

१७४. मैत्रेयी पुष्पा- झूलानट, पृ. ११-१२

१७५. मैत्रेयी पुष्पा- झूलानट, पृ. ४३-४४

१७६. मैत्रेयी पुष्पा- चाक पृ.१८६

१७७. मैत्रेयी पुष्पा- चाक पृ.१८८-१९०

१७८. मैत्रेयी पुष्पा- झूलानट, पृ. ७४-७५

१७९. मैत्रेयी पुष्पा- झूलानट, पृ. ७६-७७

१८०. डॉ. हरदेव बाहरी: राजपाल हिन्दी शब्द कोश, पृ.६९६

१८१. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.४२

१८२. मैत्रेयी पुष्पा- झूलानट, पृ. ८९

१८३. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.५१-५२

१८४. मैत्रेयी पुष्पा- चाक, पृ.२३४

१८५. रामविलास शर्मा- चार दिन, पृ.५-६

१८६. रामविलास शर्मा- चार दिन, पृ.१२-१३

१८७. मिथिलेश्वर- यह अन्त नहीं, पृ.८३-८४

१८८. डॉ. देवदान- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ.१७७

१८९. डॉ. देवदान- संस्कृति का दार्शनिक विवेचन पृ.१७७

१९०. श्रीलाल शुक्ल- विश्रामपुर का संत, पृ.११२

१९१. विद्यासागर नौटियाल- भीम अकेला, पृ.६७

उपसंहार

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है । परिवर्तन के अभाव में किसी भी समाज का जीवन स्पन्दनहीन, मृतप्राय हो जाता है । विकास एवं प्रगति के साथ-साथ परिवर्तन की प्रक्रिया भी निरन्तर चलती रहती है । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियाँ देश एवं काल की आवश्यकतानुरूप बदलती रहती हैं । ये बदलती हुई परिस्थितियाँ परिवर्तन की प्रक्रिया को गसित प्रदान करती हैं । उक्त परिस्थितियाँ भी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती हैं । इसलिए एक क्षेत्र में परिस्थिति अथवा वातावरण के परिवर्तन से अन्य क्षेत्र अथवा वातावरण में भी परिवर्तन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है । उदाहरण के लिए विषम आर्थिक परिस्थितियाँ व्यक्ति के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को प्रभावित करती हैं । आर्थिक संकट व्यक्ति के विकास में बाधक होते हैं जिससे वह कुंठित हो सामाजिक मूल्यों की अपेक्षा करने लगता है । सामाजिक-संघर्ष एवं विषमता से उसकी नैतिक मान्यताओं में परिवर्तन आने लगता है, परस्पर सम्बन्धों में कटुता आने लगती है और अंतत: यह परिवर्तन मूल्य विघटन के रूप में उपस्थित होने लगता है । श्री लाल शुक्ल, मैत्रेयी पुष्पा, विवेकीराय, रामदरश मिश्र, रामविलास शर्मा और मिथिलेश्वर आदि अन्तिम दशक के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश में हुए परिवर्तन का विश्लेषण किया है ।

वैज्ञानिक उन्नति ने रूढियों, परम्पराओं एवं अंधविश्वासों पर गहरा पहार किया है । भावना का तर्क ने ले लिया है । आदर्श के स्थान पर जीवन के कटु-यथार्थ का चित्रांकन किया जाने लगा है । वर्तमान युग में भौतिकवादी संस्कृति

पनपने लगी है । वैज्ञानिक उन्नति तथा देशों के साथ सम्पर्क के कारण नवीन मूल्य स्थापित होने लगे। जिससे नए-पुराने का द्वन्द्व उभरने लगा । इस संघर्ष में मध्यमवर्ग की त्रिशंकु की-सी स्थिति हो गई है । वह न तो पुराने मूल्यों से सर्वथा मुक्त हो पाया है और न नए मूल्यों को पूरी तरह जीवन में उतार पाया है । इस संघर्ष में मूल्यहीनता की स्थिति उत्पन्न हो गई है । दो भिन्न संस्कृतियों के प्रभाव से सामाजिक परिवर्तन को गति मिली है । सांस्कृतिक असंगतियाँ सामाजिक विघटन का कारण बनी हैं । व्यक्ति-स्वातंत्र्य की चेतना का प्रसार पुरुष वर्ग में ही नहीं स्त्री-वर्ग में भी हुआ है । युग की परिवर्तित आवश्यकताओं के अनुरूप नारी ने भी परम्परागत मूल्यों को अस्वीकार किया है । 'इदन्नमम', 'सोनबरसा', 'बीस बरस' आदि अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में इस विषय का चित्रण किया है । वर्तमान नारी ने पुरुष की दासता को अस्वीकार किया है । घर की चारदीवारी से निकलकर उसने सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण किया है । राजनीति में भी उसका सहभागी रूप ही उभर कर आया है । 'चाक', 'सोनबरसा', 'इदन्नमम' आदि उपन्यासों में इस विषय का चित्रण मिलता है । परिवार के साथ-साथ समाज-सेवा को भी सहर्ष स्वीकार किया है । नारी स्वातंत्र्य एवं नारी शिक्षा से नैतिक मूल्यों में परिवर्तन आया है जिससे परम्परागत दाम्पत्य मूल्य विघटन होने लगे ।

सामाजिक जागरूकता एवं नवीन मानवीय सम्बन्धों की खोज से परम्परागत सामाजिक परम्पराओं का विरोध होने लगा । आर्थिक संघर्ष एवं पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभाव एवं परिवर्तित नैतिक मूल्यों से विवाह-संस्था का विरोध होने लगा है । विवाह को दो आत्माओं के मिलन के स्थान पर समझौता अथवा मैत्री सम्बन्ध स्वीकार किया जाने लगा है । वर्तमान समय में होने वाले प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह

आदि परिवर्तित विवाह सम्बन्धी मूल्यों को ही स्पष्ट करते हैं । परम्परागत समाज व्यवस्था, संस्कार तथा रीति-रिवाज आदि में परिवर्तन आने लगा है । स्वार्थ एवं आपा-धापी की प्रवृति ने मुखौटावादी एवं खण्डित चरित्र को बढावा दिया है । विज्ञान ने भौतिकवादी संस्कृति का विस्तार किया है । भौतिकवाद ने तर्क को महत्व दिया है जिससे किसी भी वस्तु को उपयोगिता के आधार पर ग्रहण किया जाने लगा है । पाप-पुण्य, आत्मा, ईश्वर, जन्म-मृत्यु से सम्बन्धित परम्परागत दार्शनिक मूल्यों में अन्तर आया है । आधुनिक युग में अर्थ का महत्व बढ गया है। वर्ग संघर्ष की भावना लोगों में फैल गई है । समकालीन ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में राजनीतिक गतिविधियों एवं विसंगतियों का प्रसंगानुकूल चित्रण किया गया है । समकालीन सिद्धान्त विहीन राजनीति और भ्रष्टाचार से सामान्य जन का मोहभंग हुआ है । अनेक उपन्यासकारों ने इन विषयों का चित्रण किया है । 'सोनबरसा', 'नमामि ग्रामम्', 'चाक', 'इदन्नमम' आदि अन्तिम दशक के ग्रामीण उपन्यासों में इन विषयों का चित्रण मिलता है।

इस प्रकार समकालीन उपन्यासों में व्यक्ति सत्य एवं सामाजिक चेतना दोनों को उभारने का प्रयास किया गया है । मध्यम एवं निम्न वर्ग का चित्रण अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में किया गया है । आधुनिक उपन्यासकार परिवेश के प्रति अधिक जागरूक हैं । स्वातंत्र्योतर युग मूल्य-संक्रमण का युग कहा जा सकता है। पुराने मूल्य विघटित हुए और नए मूल्यों का निर्माण भी हुआ है । व्यक्ति और समाज दोनों सामाजिक परिवर्तन के कारण बनते हैं । व्यक्ति से समाज का निर्माण होता है और समाज से व्यक्ति का विकास होता है । स्वातंत्र्योतर हिन्दी उपन्यासों में व्यक्ति अपने समूचे यथार्थ के साथ प्रस्तुत हुआ है । कटु सामाजिक

यथार्थ एवं व्यक्ति सत्य के परस्पर संघर्ष से कहीं व्यक्ति अपने आपको अकेला, अजनबी व आत्मनिर्वासित अनुभव करने लगा । सम्बन्धहीनता की स्थिति ने व्यक्ति को अलगाववादी बना दिया है । 'चाक' और 'झूलानट' उपन्यासों में इस विषय का चित्रण मिलता है । नवीन मूल्यों एवं नवीन आवश्यकताओं ने सर्वथा नए मनुष्य को जन्म दिया है । यह नया मनुष्य मूल्य-संक्रमण की स्थिति में जीवित है । आधुनिक व्यक्ति पुराने मूल्यों के बीच घुटकर मरना नहीं चाहता । इसलिए समकालीन उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में दर्शाया है कि अधिक ग्रामीण लोक पुरातन के प्रति अनास्था एवं नवीनता के प्रति आग्रह रखते हैं।

अन्तिम दशक के हिन्दी उपन्यासों में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बदलते ग्रामीण सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियों का विस्तार से चित्रण किया गया । अन्तिम दशक के ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में ऋता शुक्ल का 'अग्निपर्व', विद्यासागर नौटियाल का 'भीम अकेला', मिथिलश्वर के 'युद्ध स्थल' और 'यह अन्त नहीं', डॉ. विवेकी राय के 'मंगलभवन' और 'नमामि ग्रामम्' कमलाकान्त त्रिपाठी का 'बेदखल', मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक', 'इदन्नमम' और 'झूलानट', रामदरश मिश्र का 'बीस बरस', श्रीलाल शुक्ल का 'विश्रामपुर का संत', कामतानाथ का 'काल कथा भाग-१' और 'कालकथा भाग-२', रामधारी सिंह दिवाकर का आग पानी-आकाश', भगवानदास पोरवाल का 'काला पहाड', ज्योतिष जोशी का 'सोन बरसा', वीरेन्द्र जैन के 'डूब और 'पार', शिवप्रसाद सिंह का 'औरत' और रामविलास शर्मा का 'चार दिन' आदि प्रमुख हैं । उपन्यासों में विभिन्न उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन में प्रस्तुत विभिन्न विषयों को दर्शाया है ।

ग्रामीण सामाजिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत गाँव में आया सामाजिक परिवर्तन

ग्रामीण स्त्री-जीवन, ग्रामीण जीवन में जाति प्रथा का प्रभाव, परिवर्तित ग्रामीण शिक्षा क्षेत्र आदि को दर्शाया गया । ग्रामीण शिक्षा क्षेत्र में ग्रामीणों का शिक्षा के प्रति बदलता दृष्टिकोण ग्रामीण अध्यापक और छात्रों में आये परिवर्तित मूल्य, स्त्री शिक्षा में विकास आदि को दर्शाया गया । ग्रामीण धार्मिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बदलते धार्मिक मूल्यों का चित्रण किया गया । ग्रामीण राजनैतिक पृष्ठभूमि में आतंकवाद, नक्सलवाद, क्षेत्रवाद, गाँधीवाद, जातिवाद से सम्बन्धित विषयों को दर्शाया गया । ग्रामीण सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहार, देवी-देवताओं एवं पीर-पैगम्बरों की पूजा, लोक-गीत अंधविश्वास एवं रूढियाँ, ग्रामीण विवाह, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, मेला, ग्रामीण जन-जीवन पर संचार माध्यमों का प्रभाव (सिनेमा, रेडियो, दूरदर्शन) आदि विषयों को उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है । ग्रामीण आर्थिक पृष्ठभूमि में ग्रामीण जीवन पर औद्योगीकरण का प्रभाव, ग्रामीण योजनाओं का दुरूपयोग, गाँव में फैली शिक्षित बेरोजगारी आदि विषयों को उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में चित्रित किया।

अन्तिम दशक के उपन्यासों की सामाजिक प्रवृतियों में नारीवाद, जातिवाद, अलगाववाद, दलितवाद आदि विषयों को प्रस्तुत किया गया । नारीवाद में मातृत्व की भावना, आधुनिक ग्रामीण नारी, दहेज प्रथा, बाल्य विवाह का विरोध, अनमेल विवाह का विरोध, वैवाहिक नारी की स्थिति, तलाक की समस्या, नारी मुक्ति आन्दोलन, नारी जागरण आन्दोलन, दाम्पत्य सम्बन्धों के प्रति नवीन विचारधारा, विधवाओं के शोषण के प्रति विरोध, बाँझ नारी के शोषण के प्रति विरोध आदि विषयों को उपन्यासकारों ने दर्शाया है । ज्योति जोशी के 'सोनबरसा' उपन्यास में पात्र बालेश्वर चौधरी के जातिवाद को बल देने के सन्दर्भ को व्यंग्यात्मक दृष्टि से

दर्शाया गया है । अलगाववादी प्रवृति में उपन्यासकारों ने आजकल लोगों में छाया हुआ अलगावपन को प्रस्तुत किया है । मैत्रेयी पुष्पा के 'झूलानट', 'चाक' श्रीलाल शुक्ल के 'विश्रामपुर का संत' आदि उपन्यास इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। दलितवादी प्रवृति में दलितों में विकास, अछूत जागरण को दर्शाया गया । मिथिलेश्वर के ग्रामीण उपन्यास 'युद्धस्थल' में 'जगिया' उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहता है । 'बीस बरस' उपन्यास में 'पवित्रा' के माध्यम से अछूत जागरण विषय को दर्शाया गया । राजनैतिक प्रवृत्तियों में गाँधीवाद, पूँजीवाद प्रवृति को 'विश्रामपुर का संत' उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने प्रस्तुत किया। समाजवादी प्रवृत्ति को मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक', 'इदन्नमम', ज्योतिष जोशी के 'सोनबरसा' श्रीलाल शुक्ल के 'विश्रामपुर का संत', मिथिलेश्वर के 'युद्धस्थल' आदि उपन्यासों में प्रस्तुत किया गया । मार्क्सवादी प्रवृत्ति को मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम', मिथिलेश्वर के 'यह अन्त नहीं' आदि में प्रस्तुत किया गया । सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के अन्तर्गत पर्व-त्यौहार, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, खेल-कूद आतिथ्य की पद्धतियाँ, नाम की सभ्यता आदि विषयों को प्रस्तुत किया गया ।

ग्रामीण जीवन के विभिन्न तत्व के अन्तर्गत ग्रामीण किसान, ग्रामीण मजदूर, ग्रामीण शिक्षा क्षेत्र, गाँव में विकास, ग्रामीण जीवन और समस्याएँ, अन्धविश्वास, गाँवों का परिवर्तित परिवेश, मूल्य विघटन को दर्शाया गया । अन्तिम दशक के उपन्यासों में ऋणग्रस्त किसान की समस्याएँ, किसानों को लूटते सेठ-साहुकार, भूस्वामी, आधुनिक किसान जैसे विषयों को यथार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया । शोषित मजदूरों की समस्याएँ मजदूरों को लूटते भूमिपति, ठेकेदारों का चित्रण किया गया । ग्रामीण शिक्षकों और छात्रों में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बदलते

मूल्यों को दर्शाया गया । उपन्यासों में ग्रामीण प्रांतों के विद्यालयों की दुर्दशा का चित्रण किया गया । अनेक गाँवों में विद्यालय भवन अस्त-व्यस्त रहने के कारण ग्रामीण छात्र पेड की छाया में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं । उपन्यासकारों का उद्देश्य ग्रामीण प्रांतों में नवीन विद्यालय भवन निर्माण कराने की ओर संकेत है । इसका जीवन्त उदाहरण अन्तिम दशक के उपन्यासों में प्रस्तुत किया गया । उपन्यासकारों के अनुसार ग्रामीण लडकियों में पहले की अपेक्षा शिक्षा में विकास दृष्टिगोचर होता है । कुछ ग्रामीण प्रांतों में लडकियों को शिक्षा ग्रहण के प्रति प्रोत्साहित किया जा रहा है तो कहीं कम । अनेक उपन्यासों में योग्य शिक्षकों के अभाव को प्रस्तुत किया गया ।

ग्रामीण प्रांतों में परिलक्षित शिक्षित बेरोजगारी को अनेक उपन्यासकारों ने दर्शाया है। 'नमामि ग्रामम्', 'भीम अकेला', 'बीस बरस' आदि उपन्यासों में इस विषय को प्रस्तुत किया गया । अनेक ग्रामीण उपन्यासों में ग्रामीण प्रांतों में विकास (अँग्रेजी स्कूल, पक्के मकान आदि) को चित्रित किया गया । ग्रामीण जीवन में व्याप्त ऋण की समस्या, भ्रष्टाचार, सट्टेबाजी की समस्या, जमीन के बँटवारे की समस्या, जनसंख्या की समस्या, सडकों का अभाव, पेयजल की समस्या, गाँव में चिकित्सा का अभाव आदि को प्रस्तुत किया गया । 'चाक', 'युद्धस्थल', 'विश्रामपुर का संत', 'औरत' और 'यह अन्त नहीं' आदि उपन्यासों में ग्रामीण जीवन में परिलक्षित अंधविश्वास को दर्शाया गया । अंधविश्वासों के विकृतियों का दर्दनाक चित्रण अनेक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने किया । 'युद्धस्थल' में मिथिलेश्वर ने रामशरण बहू पर अंधविश्वास के कारण होने वाले भेद-भाव, अत्याचार का चित्रण किया गया है । उपन्यासकार का उद्देश्य ग्रामीण प्रांतों में जीवित अंधविश्वासों को जड से नेस्तनाबूद

करना है । उपन्यासकारों के विचारों के अनुसार शिक्षित स्वयं ग्रामों में जाकर इसके विरोध में कार्यक्रम प्रारम्भ करके लोगों में फैले बुरे विचारों को दूर करना है । परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बदलती ग्रामीण परिस्थितियों का वर्णन अनेक उपन्यासों में किया गया । सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों को दर्शाया गया । ग्रामीण प्रांतों में बचे हुए जातिभेद की समस्या को अनेक उपन्यासकारों ने उदाहरण सहित समझाया है । मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम', 'चाक', शिवप्रसाद सिंह के 'औरत' रामदरश मिश्र के 'बीस बरस' मिथिलेश्वर के 'युद्धस्थल', 'यह अन्त नहीं', ज्योतिष जोशी के 'सोनबरसा' में इस विषय को प्रस्तुत किया गया । अनेक उपन्यासों में ग्रामीण लोगों में प्रस्तुत मूल्यों के विघटन (सामाजीक, सांस्कृतिक, राजनैतिक मूल्यों के विघटन) को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया गया । उनके उपन्यासों में ग्रामीण प्रांतों में बची हुई निरक्षरता की समस्या को भी प्रस्तुत किया गया । पूँजीवाद के विरोध में उठती भावनाओं को मिथिलेश्वर के 'युद्धस्थल' उपन्यास में प्रस्तुत किया गया । उपन्यास का पात्र जगिया कहता है, 'चुप रहकर तो हम सदियों से उनका शासन सहते आ रहे हैं । अकारण मार खाते हैं । दिन-भर काम करते हैं, फिर भी भूखे रहकर सोते हैं । हमारी बहन, बेटियों और बहुओं पर उनका अधिकार होता है । हमारी जिन्दगी एकदम धृणित और नाटकी होती है । इस जिन्दगी से तो मर जाना बेहतर है । जब एक छोटी चींटी पाँव पडने पर पलटकर काट लेती है तब हम मनुष्य होकर चुपचाप अत्याचार-अनाचार और जुल्म-शोषण सहते रहें, यह उचित नहीं ।.... अन्याय करने की तरह अन्याय सहना भी दोषपूर्ण है । अपने हक और अधिकार के लिए लडना मानव धर्म है । न्याय के लिए लडना और लडकर मर जाना, अन्याय के नीचे जीने से ज्यादा श्रेयस्कर है ।'[१]

भूस्वामी के विरोध में चैतन्य होकर लडनेवाले पुरुषों और अत्याचार का विरोध करने वाली महिलाओं का पात्र उपन्यासों में प्रमुख रूप में चित्रित हुआ है । 'युद्ध स्थल' उपन्यास का 'जगिया', 'यह अन्त नहीं' उपन्यास की चुनिया और शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'औरत' की चन्द्रा और शिबू पात्र इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं । 'औरत' उपन्यास में चन्द्रा कहती है- 'कोई आगे बढा तो मैं उसका मुँह नोच लूँगी... ।' चन्द्रा उठी- 'हट जाओ सुदर्शन तिवारी । इस सदमे को जन्म देने वाले तुम हो । तुमने जमींदारी शान में सुखिया हरिजन के साथ गलत सलूक किया । तुमने एक औरत के साथ बलात्कार किया । एक कली को मसलदिया, तुम्हारा पाप तुम्हारे सिर टूटा। अब अगर शिबू का कुछ हुआ तो मैं तिवारी परिवार को सडक पर नंगा कर दूँगी । चले जाओ यहाँ से चले जाओ...।'[२] 'सोनबरसा' और 'औरत' उपन्यासों के पात्र क्रमश: बालेश्वर चौधरी और 'सोबरनराय' के अन्याय और अत्याचार के विरोध में जागी सामाजिक चेतना को विस्तार चित्रण उपन्यासों में किया गया । उपन्यास का उद्धरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है-

'लातों के प्रहार से जख्मी कर भीड से घबराकर घर में छुप गया चौधरी डरा न होता तो जाने क्या करता! उसकी वर्षों की कमाई इज्जत धूल में मिली थी । कोई भी तो नहीं था उसके साथ । छोटे-बडे सब लोग उसे गाली दे रहे थे और वह घर में छुपा सुन रहा था । उसे अवश्य लग रहा होगा कि अत्याचार अधिक दिनों तक नहीं चलता । वह रोक दिया जाता है । जनता जब विरोध पर उतर आती है तो किसी भी तरह से उसका दमन सम्भव नहीं रहता । वह या तो अपने को बदले या मिटने को तैयार हो जाए । उसके दिन लद गए, अब हिम्मत न होगी कि वह सरे-आम सर उठाकर चले और रौब जमाए ।'[३]

अनेक उपन्यासों में दहेज प्रथा का विरोध किया गया । शिवप्रसाद सिंह का 'औरत' उपन्यास इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है । डॉ. विवेकीराय के 'नमामि ग्रामम्' उपन्यास में ग्रामीण प्रांतों में होनेवाले बाल्य विवाहों का विरोध किया गया । ज्योतिष जोशी के 'सोनबरसा' में नादिरा और अनवर के अनमेल विवाह को दर्शाया गया । नादिरा पति से परेशान रहती है । रामदरश मिश्र के 'बीस बरस' उपन्यास में वैवाहिक नारी की दीन स्थिति को दर्शाया है । उपन्यास का पात्र बलदेव अपनी पत्नी को हर समय मारता-पीटता है । उसकी पत्नी पारिवारिक जीवन से असंतुष्ट रहती है । मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' में उपन्यास की पात्र 'केका' वैवाहिक जीवन से परेशान रहती है- 'केका के घर हंगामा हो गया । माँ ने केका को बहुत पीटा ।वह ससुराल से आने का बहाना नहीं गढ पाई, केवल बोली, वहाँ वह नहीं रहता यानी पति, तो मैं कैसे रहूँ? ससुर दारू पीकर गैरहोस पडा रहता है, उसके यार-दोस्त मुझे... आगे कुछ बताते-बताते वह खूब रोई थी । तू पंचायत में कहेगी यह बात? मैंने पूछा था ।

'नहीं कहूँगी । वह बोली क्यों? क्योंकि कोई इस बात को नहीं मानता । कहते हैं यही एक बहाना सारी लडकियाँ लेती हैं- दारू पीकर मारना-पीटना, दारू पीकर पकडना-धडकना । इसका उपाय क्या है, तू ही बता? मैं क्या बताऊँगी मास्टर जी।'[४] 'सोनबरसा' में तलाक समस्या को चित्रित किया गया । उपन्यास की पात्र नादिरा अनमेल विवाह के कारण उसके पति अनवर को तलाक देती है । 'बीस बरस' उपन्यास में वन्दना नारी मुक्ति के लिए लडने वाली आधुनिक नारी का प्रतीत है । नारी के साथ हो रहे अन्याय-अत्याचार को वह सह नहीं पाती । शोषित नारियों में धैर्य दिलाने का प्रयत्न करती है । रामदरश मित्र के 'बीस बरस' उपन्यास में

ग्राम्य नारी की जागृत प्रवृति को दर्शाया गया । 'चाक' उपन्यास में रंजीत-सारंग और 'झूलानट'उपन्यास में 'सुमेर' और 'शीलो' का दाम्पत्य सम्बन्ध तनावपूर्ण रहता है । विधवाओं के शोषण के प्रति विरोध को रामदरश मिश्र के 'बीस बरस' उपन्यास में दर्शाया गया । वन्दना के विधवा बनने पर ग्रामीण समाज उस पर अनेक नियम लगाता है । उसे स्वतंत्र रहने देना नहीं चाहता । बाँझ नारी के शोषण के प्रति विरोध मिथिलेश्वर के 'युद्धस्थल' उपन्यास में रामशरण बहू पात्र के माध्यम से चित्रित किया गया । 'युद्धस्थल' उपन्यास में उपन्यासकार मिथिलेश्वर ने ग्रामीण समाज में फैले हुए अन्धविश्वास के विरोध में लडने को कहा है । इस उपन्यास में रामशरण बहू के माध्यम से विकृत जमींदारों द्वारा शोषित नारी का चित्रण किया गया। शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास 'औरत' में जमींदार सोबरन राय और तिवारी काका गरीब महिलाओं पर अत्याचार करते हैं । 'औरत' उपन्यास में शिवप्रसाद सिंह ने पुरुषाधिपत्य समाज का विरोध किया है ।

अन्तिम दशक के राजनीति में प्रवेशित जातिवाद को अनेक उपन्यासकारों ने व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से चित्रित किया है । इस सन्दर्भ में ज्योतिष जोशी का 'सोनबरसा' में बालेश्वर चौधरी उल्लेखनीय है । शिवप्रसाद सिंह के 'औरत' उपन्यास में भी इस विषय का उल्लेख हुआ है । मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' और 'झूलानट' श्रीलालशुक्ल के 'विश्रामपुर का संत' में ग्रामीण समाज में व्यक्त अलगाववाद को दर्शाया गया है । 'नमामिग्रामम्', 'विश्रामपुर का संत', 'इदन्नमम' और 'चाक' आदि उपन्यासों में उपन्यासकारों ने किसान एवं मजदूरों के जीवन के विविध सन्दर्भों, आर्थिक तंगी एवं आर्थिक दुर्दशा का चित्रण किया है । 'नमामि ग्रामम्' में विवेकीराय ने व्यापारियों, सेठ साहूकारों एवं ठेकेदारों द्वारा लूट लिए जाने वाले किसानों की

दुर्दशा का यथार्थ चित्रण व्यंग्यात्मक दृष्टिकोण से किया है । उपन्यासकार का उदेश्य किसानों एवं मजदूरों पर होनेवाले शोषण एवं अन्याय-अत्याचारों को रोकना है, और उन पर होने वाले अन्याय-अत्याचारों के विरोध में लोगों को चैतन्य करना है । 'चाक' उपन्यास में मैत्रेंयी पुष्पा ने विकसीत किसान की दशा को चित्रित किया । यह अन्य ग्रामीण किसानों में विकास कीओर कदम उठाने का संदेश देता है । 'विश्रामपुर का संत', 'युद्धस्थल', 'चाक' और 'इदन्नमम' आदि उपन्यासों में उपन्यासकारों ने ग्रामीण अध्यापकों और छात्रों में आये परिवर्तित मूल्यों को दर्शाया है । उपन्यासकारों का उद्देश्य उनके परिवर्तित मूल्यों में उच्च भाव जगाना है ।

'युद्ध स्थल', 'यह अन्त नहीं' और 'भीम अकेला' आदि अन्तिम दशक के उपन्यासों में उपन्यासकारों ने अस्त-व्यस्त ग्रामीण स्कूलों को दर्शाया है । विद्यालयों के भवनों की दुर्दशा का चित्रण इस उपन्यासों में किया गया । उपन्यासकारो का उद्देश्य अस्त-व्यस्त ग्रामीण विद्यालयों की जगह अच्छे भवनों के निर्माण करने की ओर सरकार को संदेश दिया है ताकि ग्रामीण शिक्षा क्षेत्र में गसुधार हो सके और ग्रामीण छात्र शिक्षा पाने की ओर आकर्षित हो सकें । अनेक उपन्यासकारों ने ग्रामीण स्त्री शिक्षा में हो रहे विकास को सहृदय से दर्शाया है । 'नमामि ग्रामम्', 'भीम अकेला' और 'बीस बरस' आदि उपन्यासों में शिक्षित बेरोजगारी समस्या को दर्शाया है । उपन्यासकारों का मंतव्य ग्रामीण क्षेत्र में फैले हुए बेरोजगारी को दूर करना है। इसके लिए सरकार को ठोस कदम उठाना चाहिए । बेरोजगारी और अन्य समस्याओं को दूर करके सुदृढ भारत देश बनाना उपन्यासकारों का उद्देश्य है ।

'सोनबरसा' उपन्यास में ज्योतिष जोशी ने ग्रामीण निरक्षरता को दूर करने का संदेश दिया है । अनेक उपन्यासकारों ने विकसीत ग्रामीण दशा का चित्रण किया

है । ग्रामीण जीवन में प्रस्तुत ऋण की समस्या, भ्रष्टाचार, सट्टेबाजी की समस्या, जमीन के बँटवारे कीसमस्या, जनसंख्या वृद्धि की समस्या, सडकों का अभाव, पेयजल की समस्या, सिंचाई के साधनों का अभाव, गाँवों में चिकित्सा सुविधा का अभाव आदि समस्याओं को उपन्यासों में दर्शाया है । उपन्यासकारों का उद्देश्य इन समस्याओं को दूर करना है । ग्रामीण जीवन में खुशहाली लाना है । 'चाक', 'युद्धस्थल', 'विश्रामपुर का संत', 'औरत' और 'यह अन्त नहीं' आदि उपन्यासों में ग्रामीण जीवन में व्याप्त अंधविश्वास की विकृतियों का चित्रण किया है । आज के वैज्ञानिक युग में ग्रामीण प्रांतों में फैला हुआ अंधविश्वास का उन्होंने विरोध किया है । उपन्यासकारों का उद्देश्य ग्रामीण प्रांतों में फैले हुए अंधविश्वास को दूर करने का कर्तव्य सौंपा है । 'चाक', 'औरत', 'इदन्नमम', 'बीस बरस', 'यह अन्त नहीं', 'युद्धस्थल', 'सोनबरसा' उपन्यासों में गाँवों के परिवर्तित परिवेश (सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक) को दर्शाया गया । ग्रामीण प्रांतों में फैले हुए जातिभेद की विकृतियों को उपन्यासकारों ने दर्शाया है । 'कुछ ही महीनों पहले की बात है जब अजय पटना से घर आते ही जगेसर राम के यहाँ चला गया था । अग्रेसर राम की बेटी पटना में ही पढती थी जिसका अजय हालचाल लिया करता था और मौके वे मौके उसकी मदद भी करता था । रूपाली नामक यह हरिजन वाला देखने में सामान्य थी, उसमें उत्कृष्ट प्रतिभा थी । वह सदा कक्षा में अव्वल आती और ऊँचे मनोभावों के साथ व्यवहार करती । जगेसर के हाथ अजय ने रूपाली की चिट्ठी क्या दे दी और वहाँ वह चारपाई परक्या बैठ गया, गाँव-भर में हो-हल्ला मच गया । ब्राह्मण समुदाय में इस घटना की तीव्र प्रतिक्रिया हुई । लोगों ने तरह-तरह से कृष्णकांत मिश्र को जलील करने की कोशिशें कीं । उन्हें गाँव से निकालने तक की

धमकी दी गई । कहा गया कि इससे ब्राह्मणों की नाक कट गई है । अब घोर कलियुग आ गया । आज के बाद अजय और उसके परिवार से देह छुलाना भी पाप है ।'[५] ग्रामीण जीवन में प्रस्तुत सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक मूल्यों के विघटन को उपन्यासकारों ने दर्शाया है । सामाजिक सम्बन्धों में आये परिवर्तन को भी उपन्यासकारों ने यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है । 'युद्धस्थल' और 'सोनबरसा' आदि उपन्यासों में उपन्यासकारों ने ग्रामीण दलितों में अत्याचारों के खिलाफ जागृत चेतना को दर्शाया गया है । 'चमरटोली' जलाए जाने के बाद इस बैठक के लोगों ने ही इस गाँव के पिछडे लोगों के घर जा-जाकर यह समझाया था कि आज चमारों के घर जलाए गए हैं तो कल तुम्हारे जलाए जाएँगे, जब तक तुम सभी गरीब और छोटी जाति के लोग मिलकर एक नहीं हो जाओगे, तब तक तम्हारे साथ यही होता रहेगा । तुम्हें संगठित होकर गाँव के बाबुओं का मुकाबला करना चाहिए। अकेले होकर तुम जितना, असहाय महसूस कर रहे हो, संगठीत होने पर उतने ही शक्तिशाली बन जाओगे । तुमने यह कहानी सुनी होगी कि एक-एक लडकी को तोडा जा सकता है, लेकिन लडकियों के एक गट्ठर को नहीं तोडा जा सकता।'[६]

अन्तिम दशक के अनेक ग्रामीण एवं आँचलिक उपन्यासों में नारी उस पर होने वाले अन्याय एवं अत्याचार का साहस से विरोध किया है । 'यह अन्त नहीं', 'बीस बरस', 'औरत', 'इदन्नमम' और 'चाक' आदि उपन्यासों में उपन्यासकारों ने अन्याय के विरोध में ग्रामीण नारी में जागी चेतना शक्ति का चित्रण किया है । 'यह अन्त नहीं' उपन्यास की चुनिया, 'बीस बरस' उपन्यास की वंदना, 'औरत' उपन्यास की चन्द्रा, मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' उपन्यास की मंदाकिनी, सुगना और 'चाक' उपन्यास कीसारंग आदि पात्र इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं । ज्योतिष जोशी के

'सोनबरसा' शिवप्रसाद सिंह के 'औरत' मैत्रेयी पुष्का के 'इदन्नमम', मिथिलेश्वर के 'यह अन्त नहीं' आदि उपन्यासों में अन्याय के विरोध में ग्रामीण जनता में जागी चेतना को दर्शाया गया । 'लातों के प्रहार से जख्मी कर भीड से घबराकर घर में छुप गया चौधरी डरा न होता तो जाने क्या करता । उसकी वर्षों की कमाई इज्जत धूल में मिली थी। कोई भी तो नहीं था उसके साथ । छोटे-बडे सब लोग उसे गाली दे रहे थे और वह घर में छुपा सुन रहा था । उसे अवश्य लग रहा होगा कि अत्याचार अधिक दिनों तक नहीं चलता । वह रोक दिया जाता है । जनता जब विरोध पर उतर आती है तो किसी भी तरह से उसका दमन सम्भव नहीं रहता । वह या तो अपने को बदले या मिटने को तैयार हो जाए । उसके दिन लद लए, अब हिम्मत न होगी कि वह सरेआम सर उठाकर चले और रौब जमाए ।'[७] ज्योतिष जोशी के 'सोनबरसा' उपन्यास के बालेश्वर चौधरी, मिथिलेश्वरी के 'युद्धस्थल' उपन्यास के मुरारीसिंह, शिवप्रसाद सिंह के 'औरत' उपन्यास के सोबरनराय, 'यह अन्त नहीं' के'श्रवण सिंह' आदि जमींदारों कीआर्थिक स्थिति और उनके पास काम करनेवाले नौकर या दलितों पर उनके द्वारा होने वाले अत्याचारों का और आर्थिक शोषण को इन उपन्यासों में चित्रित किया गया। 'यह अन्त नहीं', 'चार दिन', 'बीस बरस', 'नमामि ग्रामम', 'इदन्नमम' और 'औरत' आदि उपन्यासों में ग्रामीण किसानों एवं मजदूरों की आर्थिक स्थिति का चित्रण किया गया । श्रीलाल शुक्ल के 'विश्रामपुर का संत' उपन्यास में आचार्य विनोबाभावे के भूदान, ग्रामदान आन्दोलन से सम्बन्धित घटनाओं का विस्तार से चित्रण किया गया । इनमें भूदान में किसान एवं मजदूरों को दी गयी भूमि का सम्पन्न लोगों द्वारा किये गये दुरुपयोग, दुराक्रमण का चित्रण किया गया । उपन्यासकार का उद्देश्य इन दुरुपयोगों को रोकना है ।

'इदन्नमम', 'झूलानट', 'युद्धस्थल', 'चार दिन', 'भीम अकेला' और 'सोनबरसा' आदि उपन्यासों में ग्रामीण जीवन में प्रस्तुत धार्मिक आस्था, धार्मिक एकता, इस्लाम धर्म, विवादास्पद अयोध्या की घटना आदि विषयों का विस्तार से चित्रण किया गया।

उपर्युक्त प्रकार विघटित मूल्यों और मान्यताओं के अनुरूप युगीन उपन्यासों में सर्वथा नये आयाम और नूतन दिशाएँ ग्रहण की गई हैं । आलोच्यकालीन उपन्यासकारों ने न केवल परम्परागत रूढियों को तोडकर नये प्रतिमान प्रस्तुत किए हैं अपितु जन-जीवन की विभिन्न समस्याओं एवं संघर्षों को उद्घाटित एवं मूल्यांकित किया है । वर्तमान जीवन के मूल्यों को स्पष्टतया स्वीकारने की क्षमता तथा दृष्टिकोण की नवीनता इन उपन्यासों की विशेषता है । कुंठा, निराशा, अकेलापन, मृत्युभय, विद्रोह आदि नूतन बोधों की चर्चा आलोच्यकालीन उपन्यासकारों ने की है । युगीन उपन्यासकारों ने आर्थिक विसंगतियों का विश्लेषण, समसामयिक राजनीतिक समस्याओं का स्वतंत्र निरूपण, पूँजीवादी शोषण की निन्दा एवं वर्ग संघर्ष आदि उद्घाटित किया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को नये रूप से देखा है । आधुनिक नारी के उभरते व्यक्तित्व को प्रस्तुत किया है तथा ग्रामीण जीवन के विभिन्न कोणों को उभारने का प्रयत्न किया है। युगीन उपन्यासकारों ने हिन्दी उपन्यासों को आगे बढाने का जो प्रयास किया है वह महत्वपूर्ण है ।

'नारी विमर्श' से जुडे मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास पुरुष प्रधान समाज को चुनौती देती महिलाओं के चित्रण के लोह दस्तावेज हैं । साहित्य में उपेक्षित और हाशिए पर रखी नारियाँ अपना अस्तित्व सिद्ध करने के लिए संघर्ष करती दीखती हैं । 'इदन्नमम' उपन्यास में महिला की प्रगति पर प्रकाश डाला गया है । 'डूब',

'पार' और 'चार दिन' आदि उपन्यासों में गाँवों के विकास में आने वाली रुकावटों पर प्रकाश डाला गया है । अन्य अनेक उपन्यासों में उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन में प्रस्तुत समस्याओं का यथार्थ चित्रण करके उन्हें सुलझाने का सुझाव भी दिया है। विवेकी राय का उपन्यास 'मंगल भवन' मिथिलेश्वर का उपन्यास 'युद्धस्थल' और श्री लाल शुक्ल का 'विश्रामपुर का संत' आदि सारे ग्रामीण उपन्यासों में चेतना की किरणे प्रकाश फैलाती दिखायी देती हैं । मिथिलेश्वर का उपन्यास 'यह अन्त नहीं' वास्तव में किसी चेतना प्रगति और सतत् बढाव का अन्त नहीं वरन् यह एक प्रकार से अभिवृद्धि के पथ पर अग्रमामी होना ही है । अन्त में कह सकते हैं कि सारे उपन्यासों में अग्रगामी होने का एक नवीन संदेश मिलता है ।

हिन्दी ग्रामांचलिक उपन्यासों की मीमांसा के उपरांत जो उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं वे इस प्रकार है-

१. विवेच्य उपन्यासों को पढने के उपरांत आपत्काल का समर्थन करने की भूल कोई भी संवेदनशील पाठक नहीं करेगा ।

२. ग्रामांचलिक उपन्यासों के अध्ययन के उपरांत स्पष्ट होता है । कि ग्रामांचल जीवन कृषि केंद्रित है जो सुविधाओं से वंचित और अभावों से ग्रस्त है । इसे बढने के उपरांत किसी भी संवेदनशील पाठक को ग्रामजीवन एवं ग्रामसंस्कृति के प्रति हमदर्दी तथा सहानुभूति पैदा हो सकती है । यह इस अध्ययन की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है ।

३. विवेच्य उपन्यासों में प्रस्तुत कृषक जीवन का परिचय पाने के उपरांत नगरी तथामहानगरीय जीवन जीनेवाले पाठक मन में भी कृषक के

प्रति प्रेम भावनाएवं संवेदना अनायास उपलब्ध हो सकती है । प्रस्तुत शोध की यह उल्लेखनीय उपलब्धि कहनी होगी।

४. विवेच्य उपन्यासों में ग्रामांचलिक नारी को पीडा, यातना और शोषण का सर्वाधिक शिकार बनना पडा है । विवेच्य उपन्यासों को पढने के बाद ग्रामांचलिक नारी के प्रति न केवल करूणा और दया की भावना निर्माण हो सकती है । बल्कि उसके जीवन के सुधार के उपाय भी प्राप्त हो सकता है । यह इस अध्ययन की सशक्त उपलब्ध है ।

५. विवेच्य उपन्यासों में ग्रामांचलिय पारंपरिक व्यवसायों का ही अधिक चित्रण मिलता है । ये व्यवसाय भी साधनों के अभाव में खतरें में आये हैं । जिसका परिणाम लोग गाँवों से शहरों की ओर जाने के कारण गाँव उजड रहे हैं और शहर में नई समस्याएँ निर्माण हो रही हैं । विवेच्य उपन्यासों की पढने के बाद गाँव में ही रोजगार के अवसर प्रदान करते हेतु विभिन्न उपन्यासों का आरम्भ करना जरूरी है । यही बात सामने आती है । इस अध्ययन की यह अत्यंत महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

६. गाँव की संस्कृति में ऐसी कई परंपराएँ है जो अब काल बाह्य हो चुकी हैं । फिर भी गाँव में इनका प्रचलन है । लेकिन ऐसी कुप्रथाएँ ग्राम विकास में अवरोध पैदा करती है । कालानुरूप उन्हें त्यागना है । यही उपलब्धि इस विषय के अध्ययन से सामने आयी है।

७. विवेच्य उपन्यासों में चित्रित ग्रामांचल का जीवन भयावह समस्याओं से ग्रस्त है। इस विषय का अध्ययन करने के बाद उन सभी समस्याओं

को दूर करने के सारे उपाय पाठक, समाज सुधारक, शासक एवं राजनयकि वर्गों को अनायास प्राप्त हो सकते है । प्रस्तुत शोध विषय के अध्ययन की यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्ध होगी ।

८. वर्तमान जीवन आधुनिक साधन सुविधाओं से युक्त है और गाँवों में भी साधन सुविधाएँ पहुँच रही है। लेकिन इस देश के अनेक ग्रामांचलों में अभी भी साधन सुविधाओं का अभाव ही है । इस अध्ययन के आधार पर स्पष्ट होता है कि गाँवों के विकास के लिए इस तथ्य को केंद्र में रख कर गाँवों को सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए । गाँवों के उन्नयन मेंइस सुझाव का क्रियान्वयन महत्वपूर्ण उपलब्धि हो सकता है ।

संन्दर्भ

१. मिथिलेश्वर- युद्धस्थल, पृ.१०८-१०९

२. शिवप्रसाद सिंह- औरत, पृ.६४

३. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.१३८

४. मैत्रेयी पुष्पा- इदन्नमम, पृ.२६२

५. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.३८-३९

६. मिथिलेश्वर- युद्धस्थल, पृ.११४

७. ज्योतिष जोशी- सोनबरसा, पृ.१३८

परिशिष्ट

अ. आधारग्रंथ

क्रम	ग्रन्थ	ग्रन्थकार	प्रकाशन
१.	अल्मा कबूतरी	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
२.	अमंगलहारी	विवेकीराय	वाणीप्रकाशन, नई दिल्ली
३.	इदन्नमम्	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
४.	कालापहाड	भगवानदास मोरवाल	राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
५.	चाक	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
६.	जंगल जहाँ शुरु होता है	संजीव	राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
७.	झीनी-झीनी बीनी चदरिया	अब्दुल बिस्मिल्लाह	विकास प्रकाशन, कानपुर
८.	झूला नट	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
९.	डूब	वीरेन्द्र जैन	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
१०.	धार	संजीव	राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
११.	पार	वीरेन्द्र जैन	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
१२.	पुराण पुरुष	विवेकीराय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
१३.	बबूल	विवेकीराय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
१४.	बेतवा बहती रही	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
१५.	मुखडा क्या देखे	मैत्रेयी पुष्पा	राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. नई दिल्ली
१६.	मंगलभवन	विवेकीराय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

१७.	लोकऋण	विवेकीराय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
१८.	सबसे बडा सिपह्या	वीरेन्द्र जैन	विकास प्रकाशन, कानपुर
१९.	समरशेष	अब्दुल बिस्मिल्लाह	विकास प्रकाशन, कानपुर
२०.	समरशेष है	विवेकीराय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
२१.	सोनामाटी	विवेकीराय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
२२.	श्वेतपत्र	विवेकीराय	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

ब. सहायक ग्रंथ

१.	आँचलिक उपन्यास: अनुभव और दृष्टि	डॉ. ज्ञानचंद गुप्त	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
२.	आँचलिक उपन्यास और 'रेणु'	डॉ. सत्यनारायण उपाध्याय	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
३.	आँचलिक उपन्यासों में ग्राम-जीवन का सामाजिक संदर्भ	डॉ. विनीत गोस्वामी	संस्कृति प्रकाशन, अहमदाबाद
४.	आँचलिक उपन्यास: संवेदना और शिल्प	डॉ. ज्ञानचंद गुप्त	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
५.	आँचलिक संवाददाता	सं. रामशरण जोशी	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
६.	आँचलिकता और हिन्दी उपन्यास	डॉ. नगीन जैन	अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली

७.	उपन्यास और लोक-जीवन	राल्फ फॉक्स	पीपल्स पब्लीसिंग हाउस, नई दिल्ली
८.	उपन्यास का आँचलिक वातायन	डॉ. रामपत यादव	चिंता प्रकाशन, पीलानी राजस्थान
९.	उपन्यास: स्वरुप संरचना तथा शिल्प	शान्ती स्वरूप गुप्त	अलंकार प्रकाशन, दिल्ली
१०.	उतरशती का हिन्दी उपन्यास	सं. एन. मोहन	जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
११.	दसवें दशक के प्रतिनिधि उपन्यास	प्रा. मालती आदवान	सार्थक प्रकाशन, नई दिल्ली
१२.	नवम् दशक के आँचलिक उपन्यास	डॉ. गीरीश काशिद	दिव्य डीस्ट्रीब्युटर्स, कानपुर
१३.	नयी सदी के उपन्यास	सं. डॉ. नवीनचंद्र लोहानी	भावना प्रकाशन, अहमदाबाद
१४.	प्रेमचंदोतर हिन्दी उपन्यासों में सामाजीक चेतना	डॉ. अमरसिंह लोधा	अमर प्रकाशन, अहमदाबाद
१५.	वीरेन्द्र जैन का साहित्य	सं. मनोहर लाल	वाणी प्रकाशन, दिल्ली
१६.	समकालीन हिन्दी उपन्यास	सं. एम.षण्मुखन	जवाहर पुस्तकालय, मथुरा

१७.	समकालीन हिन्दी उपन्यास	डॉ. विवेकीराय	राजीव प्रकाशन, इलाहबाद
१८.	समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में जन चेतना	डॉ. अरुणा लोखण्डे	विकास प्रकाशन, कानपुर
१९.	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में कृषक जीवन	डॉ. उतमभाई पटेल	शांति प्रकाशन, हरियाणा
२०.	हिन्दी उपन्यासों की दिशाएँ	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ	गोविंद प्रकाशन, मथुरा
२१.	हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परम्परा में साठोतरी उपन्यास	डॉ. पारुकान्त देसाई	चिंतन प्रकाशन, कानपुर
२२.	हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों में मूल्य संक्रमण	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
२३.	हिन्दी उपन्यास: जनवादी परम्परा	सं. कुँवरपाल सिंह	प्रमुख वितरण, दिल्ली प्रकाशन

२४.	हिन्दी उपन्यास: समकालीन विमर्श	डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी	अमन प्रकाशन, कानपुर
२५.	हिन्दी के आँचलिक उपन्यास: सामाजीक एवं सांस्कृतिक संदर्भ	डॉ. विमलशंकर नागर	प्रेरणा प्रकाशन, मुरादाबाद
२६.	हिन्दी के आँचलिक उपन्यास	डॉ रामदरश मिश्र	नयन प्रकाशन, नई दिल्ली
२७.	हिन्दी उपन्यास एवं अंतर्यात्रा	डॉ. रामदरश मिश्र	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
२८.	हिन्दी के आँचलिक उपन्यास	मृत्युंजय उपाध्याय	चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद
२९.	हिन्दी उपन्यास: उपलब्धियाँ	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
३०.	हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों की शिल्प विधि	डॉ. जवाहर सिंह	नेशनल पब्लिशिंग, नई दिल्ली
३१.	हिन्दी उपन्यास साहित्य का उद्‌भव और विकास	डॉ. लक्ष्मीकांत सिंह	ग्रंथ भारती, कानपुर

क. पत्र-पत्रिकाएँ

१. अक्षरा, जनवरी-फरवरी, २००३

२. अक्षरा, मार्च-अप्रैल, २००३

३. अक्षरा, नवम्बर-दिसम्बर, २००४

४. इन्द्रप्रस्थ भारती, डॉ. रामशरण गोड, अप्रैल-जून, १९९९

५. भाषा, डॉ. भ.प्र. निदारिया, सितम्बर-अक्टूबर, १९९७

६. समकालीन भारतीय साहित्य, रमाकांत राय, नवम्बर-दिसम्बर, १९९९

ड. शब्दकोश

१. बृहत् हिन्दी कोश- कालिदास प्रसाद, ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस-१ द्वि. सं. संवत २०२३

२. हिन्दी साहित्य कोश- धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, वि. २०२०